प्रकाशक

उपन्यास बहार आफिस, काशी।

साहित्य-सरोज-माला

का

द्वितीय पुष्प ।
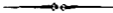
प्रवर्तक—

स्वर्गीय बाबू जयरामदास गुप्त ।

प्रकाशक—
शिवरामदास गुप्त,
उपन्यासबहार आफिस,
राजघाट; बनारस ।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर
श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबड़, बनारस ।

साहित्य-सरोज-माला संख्या २.

प्रतिनिधि शासन ।

सुप्रसिद्ध अंगरेज दार्शनिक जान स्टुअर्ट मिल के

CONSIDERATIONS ON REPRESENTATIVE GOVERNMENT

का

अनुवाद ।

प्रकाशक,

उपन्यास बहार आफिस,

काशी; बनारस ।

पहली बार } दिसम्बर सन् १९१८ ई० { मूल्य सादा २॥) सजिल्द ३)

॥ श्रीः ॥

परिचय ।

एकादशी माहात्म्य की कथा है कि देवताओं को किसी राजा का एकादशी व्रत भङ्ग करने के लिये अपनी ओर से एक स्त्री भेजने की जरूरत पड़ी तो उन्होंने उस स्त्री को अपना तिल तिल भर रूप दिया। इससे वह स्त्री बड़ी ही रूपवती और मनमोहनी बन गयी। परन्तु वह राजा के पास जा कर अत्याचार करने लगी। उसने यहाँ तक किया कि राजा के एकादशी व्रत न छोड़ने पर उसके पुत्र का वध कराने को तय्यार हो गयी। अवश्य ही देवताओं का अभिप्राय यह नहीं था कि वह स्त्री ऐसा घृणित कर्म करे। इससे जब वह स्त्री राजपुत्र का प्राण लेने पर मुस्तैद हो गयी तो विष्णु भगवान ने आ कर राजपुत्र की रक्षा की और देवताओं ने उस स्त्री से अप्रसन्न हो कर अपना दिया हुआ रूप छीन लिया। रूप छिन जाने से वह स्त्री कौड़ी काम की नहीं रही और अन्त को उसे नरक भोगना पड़ा।

ऐसी ही दशा अब राजाओं की हो रही है। राजाओं को प्रजा शासन का जो अधिकार मिला था—वह अधिकार चाहे ईश्वरी देन समझा जाय चाहे मनुष्य की ओर मिला हुआ माना जाय - वह जगह जगह छिना जा रहा है। राजा मुकुट धारण करने वाले से सदा यही आशा की गयी है कि वह अपनी प्रजा का पालन पोषण करेगा। इसीसे राजा का अर्थ किया गया है प्रजा रञ्जन करने वाला। और यही आशा जी में धारण

करते हुए लोग राजा की अधीनता स्वीकार करते आये हैं इतना ही नहीं वरञ्च राजा को ईश्वर तुल्य मानते आये हैं। परन्तु अब लोगों के जी में उलटे उलटे विचार पैदा हो रहे हैं। ऐसे लोग कहते हैं कि अगर राजा का अधिकार प्रजा न माने—एक मनुष्य का कहना अनेक मनुष्य न मानें तो राजा का—उस एक का अधिकार उन पर से आप ही आप जाता रहता है। अगर यह कहा जाय कि वह राजा अपने सैन्य बल से अनेक को अपनी बात मनवावेगा तो इस में भी एक को अनेक से (उस सेना से) अपना कहना मनवाने की अपेक्षा रहती है और इसी का अभाव अधिकार से वञ्चित होना है। इस लिये उसका अधिकार मानना ही उस को अपनी ओर से शासन करने का अधिकार देना है। अगर यही मान लें कि राजा का अधिकार ईश्वर प्रदत्त है तो भी ईश्वर ने एक को अनेक पर शासन करने का अधिकार शुभ इच्छा से ही दिया होगा इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करेगा। और हमारे हिन्दू धर्म में तो, जहाँ यह भाव प्रबल रूप से है, इसके प्रभावशाली प्रमाण हैं। भगवान रामचन्द्र ने अपने रामराज्य से इस बात का आदर्श खड़ा कर दिया है कि प्रजा रञ्जन ही राजा का कर्त्तव्य है। जब राजा अपने कर्त्तव्य से चूके तो उसका अधिकार छिन जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है—यह चाहे मनुष्यों की ओर से छीना जाय चाहे ईश्वर की ओर से। ऐसे ऐसे विचार प्रगट होने के कारण इतिहास से मिलते हैं।

संसार के इतिहास से विदित होता है कि अब तक जितने राजा हुए हैं उनमें से हर एक ने अपना कर्त्तव्य पालन नहीं किया है—कितनों ने उसका ध्यान रखा है तो कितनों ने उसे बिसार भी दिया है। पौराणिक युग को देखें चाहे ऐतिहासिक युग को देखें, दोनों में अच्छे और बुरे दोनों तरह के राजा पाये

जाते हैं। यह भी हुआ है कि अच्छे राजा ने बुरे राजा को दण्ड देने के लिये हथियार उठाया है किन्तु इसका बहुत कम असर हुआ है और बुरे राजाओं का अभाव नहीं हुआ, वरंच उनकी यथेच्छाचारिता बढ़ती ही गयी है। अकारण किसी दूसरे देश पर धावा बोल देना, जरा सी बात के लिये खून की नदियां बहा देना और संसार का सम्राट् बनने तथा मनमानी करने के घमण्ड में प्रजा के धन प्राण की कुछ परवा न रखना उनके बायें हाथ का खेल हुआ है। इतिहास उठा कर देखिये तो राजाओं के प्रजा पर किये हुए इससे भी भयंकर, रोंगटे खड़े करने वाले कृत्य पढ़ने में आवेंगे राजा होकर किसी ने दूसरे की स्त्री हर लाने या भरी सभा में परायी स्त्री को विवस्त्र करने में ही अपना बड़प्पन समझा है; किसी ने सैकड़ों हजारों स्त्रियों से व्याह या व्यभिचार करने में ही अपनी विशेषता समझी है; किसी ने राज पद पाकर नगर में आग लगा देने और आप बंशी बजाते हुए तमाशा देखने का शौक पूरा किया है; किसी ने कतले आम के हुक्म से अगणित निरीह प्रजा का प्राण संहार कर अपनी शाही दिखायी है; किसी ने प्रजा का लहू से पसीना बना कर पैदा किया हुआ अपार धन जबरदस्ती चूस चूस कर इन्द्रिय चरितार्थ करने या कोरे खुशामदियों को लुटा देने में ही अपना शासन काल पूरा किया है; किसी ने गर्भ में बच्चा कैसे रहता है यह देखने के लिये जीती गर्भवती स्त्री का पेट अपने सामने फड़वा डालने में नवाबी समझी है; किसी ने दूसरे धर्म वालों को जीत कर उनका धर्म तलवार के बल से छुड़ाने तथा दुध मुँहे बालकों को जीते जी दीवार में चुनवा देने को ही अपना धर्म समझा है; कोई राजपद पाने के लोभ में अपने पिता को कैद करने और भाइयों को मार डालने से भी नहीं चूका है; कोई अदना सिपाही से सम्राट

धन कर सारे संसार को पैर तले कुचलने के घमण्ड में ही लोगों को डावांडोल करता रहा है; किसी ने अपने मन के विरुद्ध उचित और आवश्यक बात कहने पर भी चाहे जिसको गोली से मरवा डालने या जामत करा देने को शाहंशाही समझी है। इसमें संसार भर के स्वकर्तव्य विमुख राजाओं के नमूने आ जाते हैं। यही सब देख सुन कर प्रजा रञ्जन करने वाली राजनीति वेश्या-नीति कही जाने लगी। जहां बुरे राजाओं के ऐसे बुरे दृष्टान्त हैं वहां अच्छे राजाओं के भी बहुत अच्छे अच्छे दृष्टान्त हैं; उन्होंने तन धन से और मन वचन कर्म से प्रजा का पालन पोषण किया, प्रजा की रक्षा के लिये अपने सुख स्वार्थ को तिलाञ्जलि दी, बड़े बड़े कष्ट सहन किये-प्राण तक गंवा दिये और अपना कर्तव्य नहीं छोड़ा। उनके सुशासन से प्रजा की बहुत कुछ उन्नति और भलाई हुई है। किन्तु अच्छे के साथ बुरे का प्रादुर्भाव देख कर इस बात की जमानत नहीं रही कि प्रजारञ्जन जो राजा का एक मात्र कर्तव्य और धर्म है उसका एक समान पालन होता रहेगा। जैसे सुराज में दो कदम आगे बढ़ने की आशा रही वैसे कुराज में चार कदम पीछे हटने का खटका बना रहा। राजाओं की मानमानी चाल और अत्याचार को प्रजा देखती, सुनती, और सहती रही और उसके चित्त पर इसका असर भी पड़ता रहा। हर बात में आवश्यक और अनुकूल परिवर्तन करने को सदा तत्पर रहने वाली पाश्चात्य जातियों में इस का परिणाम प्रगट होने लगा।

परिणाम का आरम्भ इस तरह हुआ कि कहीं कहीं की प्रजा राजा की मनमानी चाल का विरोध करने लगी, उसको कर देने से इनकार करने लगी और उसका हुक्म न मानने को कमर कसने लगी। और इस तरह राजा के हाथ से

अपने ऊपर शासन करने का अधिकार छीनने लगी । जहां राजा राजा में युद्ध होता था वहां राजा प्रजा में युद्ध आरम्भ हुआ। राजसिंहासन लुप्त हुआ और प्रजा ने पंचायती राज्य स्थापित किया। किन्तु साधारण लोगों को इतना समय नहीं है और न इतनी समझ ही है कि पंचायती राज्य में सब किसी की राय लेकर काम किया जाय। इससे विश्वासी और योग्य पुरुषों को चुन कर उनके द्वारा राज्य कार्य चलाने का ठहराव हुआ। यह तय हुआ कि साधारण लोग जिन जिनकी ईमानदारी और बुद्धिमानी पर भरोसा रखते हों उन संख्या बद्ध मनुष्योंको अपनी तरफ से राज्य-कार्य करने का परवाना दें। और जनता की राय से चुने हुए उन मनुष्यों की सभा राज्य कार्य चलावे। परवाने की मुद्दत भी बांध दी गयी और ऐसी ऐसी शर्तें रखी गयीं कि जिस से वह सभा भी जनता के विरुद्ध मनमानी न करने पावे। परन्तु जैसे सरपंच बिना पंचायत का काम नहीं चलता; मुनीम बिना कोठी का काम नहीं चलता; कर्णधार बिना नाव का काम नहीं चलता और मुखिया बिना परिवार का काम नहीं चलता वैसे सभापति बिना सभा का काम सुचारु रूप से नहीं चल सकता। इसलिये प्रतिनिधि सभा के साथ निर्दिष्ट समय के लिये एक सभापति चुनने की भी व्यवस्था हुई और यही राष्ट्रपति कहलाता है। मंत्रियों तथा हाकिमों के ओहदे भी रखे गये। इस प्रकार पंचायती राज्य स्थापित हुआ। स्थूलतः यही प्रतिनिधि-शासन है और यही स्वराज्य है। फ्रांस ने इसका नमूना दिखाया। अमेरिका ने उसका और सुघड़ रूप बनाया। फिर तो वह लोगों को ऐसा पसन्द आया कि इसको बहुत देशों ने अपनाया। और अब तो यही शासनपद्धति सब से उत्तम मानी जाती है। युरोप अमेरिका में ही नहीं-

एशिया के तुर्किस्थान, ईरान और चीन जापान में भी इसी का डंका बज रहा है। युरोप के महासमर से इस प्रणाली ने रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों पर भी विजय पायी है।

हमारे शासक देश इंगलैण्ड में यह विशेषता है कि यहां राजा भी हैं और पार्लमिण्ट रूपी प्रतिनिधि सभा भी है। इस देश ने कनाडा, आस्ट्रेलिया ट्रांसवाल आदि अपने अधीन देशों को अपने समान प्रतिनिधि तंत्र या स्वराज्य दे रखा है और उसने सदा अपनी यह नीति प्रकट की है कि जो देश स्वराज्य के योग्य हो उसको स्वराज्य दिया जाय। ऐसी उदार नीति रखने वाली अंगरेज जाति के अधीन हिन्दुस्थान है मानो भगवान ने इस देश को उस अवस्था के योग्य बनाने के लिये ही उसके हाथ में सौंपा है। अंगरेजी शिक्षा दीक्षा से स्वराज्य का भाव हिन्दुस्थानियों में भी जागृत हुआ है और धीरे धीरे परन्तु दृढ़ता से बढ़ रहा है। हिन्दुस्थान में जोरदार आवाजों से पुकार मच रही है कि हमें ब्रिटिश छत्र छाया में स्वराज्य चाहिये। यह पुकार ब्रिटिश जनता के कानों तक पहुंच रही है और पहुंचायी जा रही है। युरोप के महासमर में हिन्दुस्थानियों ने धन और जन से जी खोल कर, बूते से बाहर अपने शासक देश की सहायता की है जिसे देख कर ब्रिटिश राज्य के कर्णधार मुग्ध हो गये हैं और उन्होंने हिन्दुस्थान की आकांक्षा पर ध्यान देने के वचन दिये हैं। ब्रिटिश जाति जल्द या देर से, हिन्दुस्थानियों की यह आकांक्षा पूरी करेगी, हिन्दुस्थानी स्वराज्य प्राप्त करेंगे इसके शुभ लक्षण दिखाई देते हैं।

ऐसी स्थिति में हमारे देशभाइयों में स्वराज्य सम्बन्धी ज्ञान जितना बढ़े उतना अच्छा है और इसके लिये इस विषय के ग्रन्थों का प्रचार करना लेखकों और प्रका-

शकों का प्रधान कर्त्तव्य है। इसी उद्देश्य से सुप्रसिद्ध अंगरेज दार्शनिक और राज्यनीतिविद् जान स्टुआर्ट मिल के Considerations on Representative Government नामक पुस्तक का अनुवाद भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है। मूल ग्रन्थ का विद्वानों में बड़ा आदर है, इसमें प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी दोष और गुणों का भली-भाँति विवेचन किया गया है। ग्रंथकार ने हिन्दुस्थान के बारे में भी अच्छी अच्छी बातें कही हैं।

इस ग्रंथ को प्रकाशित करने का यश काशीस्थ उपन्यासबहार आफिस के मालिक बाबू जयरामदास जी गुप्त को है। उन्हीं की प्रेरणा से यह हिन्दी में लिखा गया। इसको वह छपवा रहे थे और ६ फर्मे अपने सामने छपवा भी चुके थे; उनका इरादा इस को इस साल की दिल्ली वाली कांग्रेस तक प्रकाशित कर देने का था; किन्तु दुर्भाग्यवश उक्त बाबू साहब अपनी यह इच्छा पूरी नहीं करने पाये। बड़े शोक का विषय है कि कराल काल ने समर ज्वर के रूप में प्रगट हो कर उक्त बाबू साहब को तारीख ३० नवम्बर सन् १६१८ ईस्वी, शनिवार को प्रातः काल ३२ वर्ष की जवानी में इस संसार से उठा लिया। बाबू जयराम दासजी हिन्दी के एक अच्छे लेखक और बड़े उत्साही ग्रंथ प्रकाशक थे उन्होंने स्वराज्य तथा अन्य विषयों के बहुतेरे ग्रंथ प्रकाशित किये और करना चाहते थे। उनके द्वारा हिन्दी साहित्य की बहुत कुछ भलाई होने की आशा थी। किन्तु उनका असमय स्वर्गवास हो जाने से यह आशालता मुरझा गयी। उनके योग्य कनिष्ट भ्राता बाबू शिवराम दासजी गुप्त ने यह कारोबार अपने हाथ में लिया है और उन्होंने इसको शीघ्र प्रकाशित करके अपने स्वर्गीय भाई की इच्छा पूरी की है। आप को भी हिन्दी पर प्रेम है और कारोबार जमा हुआ है इससे

आशा होती है कि वह अपने स्वर्गीय भाई साहब के लगाये हुए साहित्य-सरोज को सूखने न देंगे वरंच हरा भरा और लहलहा बनाये रखेंगे।

इस पुस्तक को लिखने में अनुवादक ने गुजरात वरनाक्यूलर सोसाइटी (अहमदाबाद) द्वारा प्रकाशित गुजराती अनुवाद का मुख्यतः सहारा लिया है और इसके लिये वह कृतज्ञता प्रगट करता है। अनुवाद जल्दी में हुआ है और शीघ्रता में छापा गया है इस से इस में त्रुटि रहना सम्भव है। अनुवादक भूल चूक के लिये पाठकों से क्षमा मांगता है और आशा रखता है कि दूसरी आवृति का अवसर आने पर वह त्रुटियों को यथा साध्य मिटाने की चेष्टा करेगा।

काशी
१६-१२-१६१८

अनुवादक।

ग्रंथकार की प्रस्तावना।

जिन्होंने मेरे पहिले के लेख पढ़ने की मेरे ऊपर कृपा की है उनको प्रस्तुत पुस्तक में कुछ विशेष नवीनता दिखाई देने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि मैंने अपने जीवन के अधिकांश में जिन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयत्न जारी रखा है, वे ही इस पुस्तक में सन्निवेशित किये गये हैं और इनमें से अधिकांश की सूचना दूसरे सज्जन अथवा मैं इससे पहिले दे चुका हूँ। फिर भी उनका संग्रह करके उन्हें यथा सम्बन्ध दिखाने में और मैंने अपने विचार के अनुसार उनकी पुष्टि में जो जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनकी बहुतेरी बातों में नवीनता है। कितने ही विचार यद्यपि नये नहीं हैं तथापि उनको आजकल के जमाने में किसी तरह मानने के विषय में नये के बराबर ही कम सम्भावना है।

तो भी अनेक चिन्हों से और विशेष कर पार्लीमेण्ट में सुधार के विषय में चले हुए वाद विवाद से मुझे ऐसा जान पड़ता है कि संरक्षक (कंसर्वेटिव) और सुधारक (लिबरल) —वे अभी तक अपने को जिस नाम से परिचित करते हैं उस नाम को मैं कायम रखूँ तो– दोनों जिस राजनीतिक मत को सिर्फ ऊपर से नाम के लिये स्वीकार करते हैं, उसके

ऊपर से उनका विश्वास उठ गया है। फिर दोनों में से कोई पक्ष अधिक अच्छा मत सम्पादन करने में कुछ भी अग्रसर हुआ नहीं जान पड़ता। परन्तु ऐसा अधिक अच्छा मत होना सम्भव है; यह मत दोनों का भेद भाव तोड़ कर समझौता नहीं कर सकता, तथापि प्रत्येक से अधिक विशाल हो सकता है कि जिससे उसकी विशेष व्यापकता के कारण सुधारक या संरक्षक कोई भी अपने मत में जो कुछ अच्छा जंचे उसको छोड़े बिना ही मान सके। जब कि इतने अधिक मनुष्यों को ऐसे किसी मत की आवश्यकता बहुत कम जंचती है और उसके पाने की खुशी मनाने वाले मनुष्य भी इतने थोड़े हैं तब ऐसे समय में कोई मनुष्य अपने विचार और दूसरे के विचारों में उसे जो सब से उत्तम लगता हो, उनको (जो ऐसे मत का गठन करने में कुछ मदद कर सकते हों) सामने रखने को आगे बढ़े तो यह उद्धत नहीं माना जायगा।

अप्रैल १८६१।

स्वर्गीय बाबू जयरामदास गुप्त।

जन्म—कार्तिक शुक्ल १४ स. १९४२, मृत्यु—मार्गशीर्ष कृष्ण १२ स. १९७५,

प्रतिनिधि शासन।

पहिला अध्याय।

शासन-पद्धति का विषय कहां तक मरजी पर रखने योग्य है?

शासन-पद्धति सम्बन्धी समूचे विवाद में, राज्यतंत्र के विषय में, दो परस्पर विरोधी तर्क की अथवा और खुलासा तौर पर कहें तो राज्यतंत्र क्या है इस विषय में दो परस्पर विरोधी भावनाओं की ज्यादा या कम एक तरफी छाप पड़ी होती है।

कितने मनुष्यों का यह विचार है कि राज्यनीति केवल व्यवहारी शास्त्र है और उस में साधन और साध्य के सिवाय और किसी विषय के प्रश्न का प्रसङ्ग नहीं रहता। वे लोग शासन-पद्धति को मनुष्य-मनोरथ के साधनार्थ जारी किया हुआ आयोजन बताते हैं। वे उसको केवल युक्ति, प्रयुक्ति का विषय मानते हैं। वे यह समझते हैं कि वह मनुष्यकृत है। अतएव उस की योजना करना या न करना और किस तरह तथा किस नमूने पर करना यह मनुष्य की मरजी पर है। इस विचार के अनुसार, राज्यतंत्र दूसरे व्यवहारी विषयों की तरह हल करने योग्य प्रश्न है। राज्यतंत्र से क्या क्या कार्य्य सिद्ध करना है, इस का निर्णय करना हमारा पहिला कर्त्तव्य है। दूसरा कर्त्तव्य यह है कि उन कार्यों की सिद्धि के लिये कौन सी राज्यपद्धति सब से अधिक अनुकूल है, इस को

ढूँढ़ें। इन दो विषयों में अपने मन का समाधान कर लेने के बाद और किस शासन-पद्धति में सब से अधिक भलाई के साथ सब से कम बुराई है इस का निर्णय करने के बाद आगे करने को इतना ही बाकी रहता है कि हमारे मन में जो अभिप्राय आया हो उस में अपने देशियों की अथवा जिनके लिये वह शासन-पद्धति ठहरायी हो उनकी सम्मति लें। सब से श्रेष्ठ शासन-पद्धति ढूँढ़ निकालना, वह सब से श्रेष्ठ है, यह दूसरों के चित्त में जमा देना और ऐसा करने के बाद उस का सम्पादन करने के लिये दृढ़ता सहित प्रयत्न करने को उन्हें उत्तेजित करना इत्यादि विचार राज्यनीति शास्त्र का यह मत अंगीकार करने वालों के मन में उठा करते हैं। उन लोगों की समझ में (प्रमाण मात्र का भेद मानते हुए) जैसा भाफ का हल और खोदने की कल है वैसा ही राज्यतंत्र है।

इस के विरुद्ध जो एक दूसरी श्रेणी के राजनीतिक तर्क-वादी हैं, वे राज्यतंत्र को कल समान मानने के इतने बड़े विरोधी हैं कि इस को एक प्रकार की स्वाभाविक सृष्टि मानते हैं और राज्यनीति शास्त्र को (मानों) सृष्टि विज्ञान की एक शाखा मानते हैं। उनके मतानुसार शासन-पद्धति मरजी के आधार पर नहीं है। वह जिस स्थिति में मिल जाय, उसी में हमें उस को प्रधानतः अंगीकार करना चाहिये। शासन-पद्धति की योजना पूर्व संकल्प के अनुसार नहीं हो सकती। उस की उत्पत्ति कृत्रिम नहीं है वरंच स्वाभाविक है। सृष्टि की दूसरी प्राकृतिक घटना की तरह इस के सम्बन्ध में भी हमारा काम इतना ही है कि हम इस के स्वाभाविक गुणों को जान लें और उस के अनुकूल बर्ताव करें। इस मत वाले किसी भी प्रजा के राज्यतंत्र के मूल आधारभूत-नियमों को उसकी प्रकृति और व्यवहार से उपजी हुई एक प्रकार की स्वाभा-

विक दृष्टि अर्थात् उस की खासियत अन्तर्वृत्ति और अनजान संगी और ख्वाहिशों की पैदाइश मानते हैं, परन्तु उनको उस की विवेक पूर्वक की हुई धारणाओं का परिणाम नहीं समझते। इस विषय में उनकी संकल्प शक्ति का काम इतना ही है कि जहाँ कुछ जरूरत मालूम हो, वहाँ उस की कसर तात्कालिक योजनाओं से मिटा लें। ये योजनाएँ जनता की वृत्ति और प्रकृति के यथोचित अनुकूल होने पर ही बहुधा टिकती हैं और उनका उत्तरोत्तर जमाव हो कर उस से उस का सम्पादन करने वाली प्रजा के अनुकूल राज्यतंत्र उत्पन्न होता है। परन्तु जिस प्रजा की प्रकृति और अवस्था से ये योजनाएँ आप से आप उत्पन्न नहीं होतीं, उस प्रजा पर उनका बोझ डालने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा।

अगर हम सोच लें कि ये दोनों मत स्वतः सम्पूर्ण समझ कर स्वीकार किये जाते हैं, तो इन में से कौन सा मत अधिक विचारशून्य है इसका निर्णय करना कठिन हो जाय। परन्तु किसी विवादग्रस्त विषय के सम्बन्ध में, मनुष्य जो सिद्धान्त अपना बना कर प्रगट करते हैं वह, उनका जो असली अभिप्राय होता है उस का, बहुत कर के अपूर्ण स्वरूप दिखाता है। यह कोई भी नहीं मानता कि हर एक प्रजा हर तरह का राज्यतंत्र चलाने को समर्थ है। यान्त्रिक योजनाओं के पटतर को अपने नगर में चाहे जितना ठीक मानें; परन्तु एक लोह लकड़ के औजार को भी कोई आदमी सिर्फ इसी बुनियाद पर नहीं पसन्द करता कि वह स्वयं श्रेष्ठ है। आदमी पहिले इस बात का विचार करता है कि उस से लाभ उठाने के लिये उस के साथ और जिस जिस सामान की जरूरत है, वह उस के पास है या नहीं। और विशेष कर के जिस के हाथ से वह चलेगा, उस

आदमी में उस से काम लेने योग्य ज्ञान और कुशलता है कि नहीं। इस के विरुद्ध जो लोग राज्यतंत्र को सजीव सृष्टि मान कर उस के विषय में बात करते हैं, वे भी अपने को जैसा राजनीतिक दैववादी (अर्थात् जो लोग यह समझते हैं कि स्वभावतः जो राज्यतंत्र निर्मित हुआ है उस में मनुष्य से फेर बदल नहीं हो सकता, वे) दिखाते हैं, असल में वे वैसे नहीं हैं। वे यह भाव नहीं दिखाते कि मनुष्य-जाति जिस राज्यतंत्र की सत्ता के नीचे रहना चाहे, उस के विषय में उस की मरजी के लिये तनिक गुंजाइश नहीं है अथवा भिन्न भिन्न शासन-पद्धतियों से जो परिणाम निकलता है उस का विचार, कोई खास पद्धति पसन्द करने के लिये बिलकुल निरर्थक है। परन्तु यद्यपि प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष से विरोधभाव रखने के कारण अपने मत की बेहद अतिशयोक्ति करता है और अपने प्रगट किये हुए मत को ज्यों का त्यों हृदय से नहीं मानता तथापि ये दो मत दो विचार-पद्धति के बीच में मौजूद रहनेवाले गहरे भेद के अनुकूल हैं और दो में से एक का विचार सम्पूर्ण रूप से वास्तविक नहीं है। यह स्पष्ट ही है। तथापि किसी का विचार सम्पूर्ण रूप से अवास्तविक नहीं है, यह भी स्पष्ट है। इस से हर एक की जड़ ढूँढ़ निकालने के लिये और हर एक में सत्य का जो अंश है, उसे काम में लाने के लिये हमें यत्न करना चाहिये।

अब आरम्भ में हमें याद रखना है कि (इस सिद्धान्त से चाहे जितनी अज्ञानता दिखायी जाय तो भी) राज्यतंत्र मनुष्य की कृति है और उस का मूल तथा सारा अस्तित्व मनुष्य-संकल्प है। कुछ यह बात नहीं है, कि मनुष्य एक दिन गरमी में सवेरे जाग पड़े और उस को उगा हुआ देखे। पेड़ जहाँ एक बार लगा दिया कि फिर मनुष्य ऊँघता हो, तो भी

वह बढ़ता ही जाता है, उस को सो भी यह बात नहीं है। वह अपनी स्थिति की प्रत्येक अवस्था में, जैसा होता है, वैसा संकल्प पूर्वक मनुष्य-प्रयत्न से हुआ रहता है। इस से मनुष्य-कृत सारी वस्तुओं की तरह वह भी सुकृत या दुष्कृत हो सकता है, उस की योजना में विवेक और चतुराई से काम लिया गया होगा या इस के विरुद्ध बात हुई होगी। फिर कोई अनर्थ मालूम पड़ने से अथवा कष्ट पाने वाले में उस को रोकने का बल आ जाने से, उस का उपाय करने का अनुभव सिद्ध क्रम अनुसरण कर अंकुशित राज्यतंत्र सम्पादन करने में किसी प्रजा ने भूल की हो अथवा किसी बाहरी बाधा के कारण वैसा करने में समर्थ न हुई हो, तो राजनीतिक उन्नति में पड़ा हुआ विक्षेप उस के लिये भारी हानिकारक हो जाता है। इस में सन्देह नहीं है; परन्तु इस से यह सिद्ध नहीं होता कि जो वस्तु दूसरे को लाभदायक मालूम पड़ी है, वह उस को भी लाभदायक न होती और अब भी अगर वह उस को *अङ्गीकार करने योग्य समझे, तो वह लाभकारी न हो।*

इस के विरुद्ध, राजनीतिक यन्त्र आप ही आप नहीं चल सकता यह बात भी याद रखने योग्य है। जैसे उस की प्रथम उत्पत्ति मनुष्य से है, वैसे उस का चलाना भी मनुष्य के हाथ में है और वह भी साधारण मनुष्य के हाथ में। उसे केवल उसकी सम्मति की आवश्यकता नहीं है वरंच उसमें उस के उत्साह पूर्वक भाग लेने की भी जरूरत है। और इस लिये जैसे मनुष्य मिलते हों, वैसे मनुष्यों की शक्ति और गुण के अनुसार उस की रचना करनी चाहिये। इस विषय में तीन दशाओं का समावेश होता है।

(१) जिस प्रजा के लिये जो शासन-पद्धति ठहरायी गयी हो, उसे स्वीकार करने के लिये वह राजी हो अथवा वह

उस से इस कदर नाराज़ न हो कि उस की स्थापना के मार्ग में कुछ अटल रुकावट डाले । (२) उस का अस्तित्व बनाये रखने के लिये जो जो काम करने की जरूरत हो, उस के लिये वह राज़ी और समर्थ हो और (३) शासन-पद्धति के अपना उद्देश्य सम्पादन करने में समर्थ होने योग्य जो जो कार्य्य करने की जरूरत है, उन सब के करने को भी वह राज़ी और समर्थ हो । 'कार्य्य' शब्द में कृति के साथ ही 'मौन' का अर्थ भी आया हुआ समझना चाहिये । जारी की हुई शासन-पद्धति को बनाये रखने के लिये, या जिस उद्देश्य साधन की ओर उस का रुख होने से वह मान्य होती है उस उद्देश्य का सम्पादन करने को उसे समर्थ बनाने के लिये 'क्रिया' के तथा 'मौन' की जो जो दशाएँ आवश्यक हैं, उन सब का सम्पादन करने को वह समर्थ हो ।

इन में से किसी भी दशा के अभाव से कोई भी शासन-पद्धति और किसी तरह चाहे जितना अनुकूल आशा दिखाती हो तथापि ऐसे विशेष प्रसङ्ग में अनुकूल नहीं होती ।

पहिली रुकावट अर्थात् किसी शासन-पद्धति के विषय में प्रजा की लापरवाही को समझाने की कम ही जरूरत है; क्योंकि विचार में भी यह बात कभी ध्यान से बाहर जाने वाली नहीं है । यह तो सदा होने वाली घटना है । उत्तर अमेरिका के इंडियन (आदि निवासी) किसी तरह, किसी से, सुव्यवस्थित और सभ्य राजतन्त्र के प्रतिबन्धन के अधीन नहीं रहना चाहेंगे । * जो जङ्गली रोम साम्राज्य पर टकरा मरे उनके विषय में भी, कुछ कम ही क्यों न हो, ऐसा

* वंडल, गोथ आदि रोम का साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट होने के बाद कई सदियों तक सारे युरोप में सभ्यता का सत्यानाश हो कर ऐसा अंधेर छा रहा था कि वह अन्धकार का ज़माना कहलाता है । इ०

ही कह सकते हैं। जब वे अपने सरदारों की मातहती में छिड़ी हुई लड़ाइयों में नहीं फँसे थे, तब उनको भी नियमित सत्ता में रहना सीखने में सैकड़ों वर्ष का समय बीत गया और राज्यस्थिति केवल बदल गयी। कितनी ही प्रजाएँ ऐसी हैं जिन पर कोई खास वंश अनादि काल से शासन चलाने का हक भोगता आता है, उस के सिवाय वे और किसी को हुकूमत अपनी खुशी से नहीं मानतीं। कुछ प्रजाएँ ऐसी हैं कि विदेशी उन्हें जीत कर उन पर राज्य चला सकते हैं, उन के सिवाय दूसरे किसी राजा का शासन सहना उन्हें पसन्द नहीं होगा। दूसरी प्रजाएँ इसी हक पर प्रजा सत्ता के राज्य के विरुद्ध होती हैं। बहुधा यह रुकावट तुरन्त के लिये असाध्य हो जाती है।

और कितनी ही बार ऐसा होता है कि कोई प्रजा किसी खास शासन-पद्धति के विरुद्ध नहीं होती—वरंच उसे पाने को आतुर भी होती है—तथापि उस की शर्तें पूरा करने को नाराज या असमर्थ होती है, उस शासन-पद्धति को नाम के अस्तित्व में रखने की आवश्यक शर्तें भी पूर्ण करने को अशक्त होती है। इस प्रकार कोई प्रजा स्वतन्त्र राज्यतंत्र पसन्द करती हो परन्तु अगर सुस्ती या बेपरवाही, या नामर्दी या सार्वजनिक उत्साह के अभाव से उस की रक्षा करने में असमर्थ हो अगर अपने ऊपर खुल्लमखुल्ला धावा होने पर लड़ने को राजी न हो, अगर वह छल से छीन लेने की साजिश में धोखा खा जाने वाली हो, अगर क्षणिक निराशा या तात्कालिक त्रास या किसी खास पुरुष के प्रति उत्साह के

अंधकार में से, अन्त को अब आधुनिक युरोप का राज्य उत्पन्न हुआ, तब से कुछ सुव्यवस्था होने लगी।

आवेश में अपनी स्वतंत्रता चाहे जिस महा-पुरुष के अर्पण करने अथवा राज्य उलट देने वाली सत्ता उसे सौंप देने के लिये समझ ली जा सकने वाली हो, तो इन सब अवस्थाओं में वह स्वतंत्रता पाने के कमोबेश अयोग्य है। और अगर कुछ समय भी स्वतंत्रता हाथ में रही हो तो लाभदायक जँचने पर भी उस का अधिक समय तक टिकना सम्भव नहीं है। और कोई प्रजा किसी खास शासन-पद्धति में जरूरी फर्ज अदा करने में नाराज या असमर्थ होती है। कोई जंगली प्रजा यदि सभ्य समाज का लाभ किसी कदर समझती हो, तो भी उस में जिस मानसिक अंकुश की जरूरत है उसे रखने में असमर्थ होती है; उस का मनोविकार ऐसा तीव्र होता है अथवा उस का अहंकार इतना निरंकुश होता है कि वह अपना घराऊ विरोध नहीं छोड़ती और उस के असली या कल्पित कष्ट का वैर लेने का काम कानून पर नहीं छोड़ देती; ऐसी दशा में सभ्य शासनतंत्र उन लोगों के लिये वास्तव में लाभकारी होने के निमित्त अधिकांश में निरंकुश होना आवश्यक है—यहाँ तक कि उसके ऊपर प्रजा की निज की सत्ता न हो, परन्तु उसकी कार्रवाई पर बहुत अंशों में प्रबल अंकुश रख सके; और जो प्रजा अपराधियों को दण्ड देने में कानून और राज्याधिकारियों को उत्साह से मदद नहीं देती, उसको नियमित और संकुचित से अधिक स्वतंत्रता के लिये अयोग्य मानना चाहिये। जिस प्रजा में अपराधी को पकड़ने की अपेक्षा उसे आश्रय देने की अधिक रुचि होती है; जो प्रजा अपने लूटने वाले के विरुद्ध गवाही देने का परिश्रम उठाने के बदले अथवा ऐसा करके अपने सिर वैर बेसाहने के बदले हिन्दुओं की तरह झूठी गवाही देकर उसे बचा लेने में प्रसन्नता दिखाती है; जो प्रजा अगर कोई आदमी आम सड़क

पर खंजर मारकर खून करे तो,—यह सोच कर कि इस विषय में जाँच-पड़ताल करने का काम पुलिस का है और उस से हमारा कुछ वास्ता नहीं उसमें मगज न लडाना ही अच्छा है—हाल की कुछ युरोपीय प्रजा की तरह, एक तरफ से चली जाती है; जो प्रजा अपराधियों की बढ़ती से घबराती है, परन्तु जिस को गुप्त हत्या से कंपकंपी नहीं छूटती—इन सब प्रजाओं के सम्बन्ध में अधिकारीवर्ग को दूसरे स्थानों की अपेक्षा बहुत अधिक कड़ाई से काम लेने का अधिकार सौंपने की जरूरत है। क्योंकि इस के बिना सभ्य-जीवन के प्रथम आवश्यक गुण को और किसी का आधार नहीं रहता। जंगली अवस्था से तुरत बाहर निकली हुई प्रजा में मनोवृत्ति की यह जो शोचनीय स्थिति देखने में आती है, वह बहुत करके पहिले के खराब शासनतन्त्र का परिणाम होता है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि उस के मन में उस शासन के अनुभव से यह ख्याल घुसा रहता है कि कानून हमारे लाभ के लिये नहीं; किसी दूसरे मतलब से बनाया जाता है और जो उस कानून को खुल्लमखुल्ला तोड़ता है, उस की अपेक्षा उस का जारी करने वाला अधिक बुरा शत्रु है। परन्तु जिन लोगों में ऐसी मानसिक वृत्तियाँ जन्मी होती हैं उनको इस विषय में अपना दोष चाहे जितना कम दिखाई दे और वे वृत्तियाँ अच्छी राज्यनीति से अन्त को भले ही दबा दी जा सकें तथापि जिस प्रजा की वृत्ति कानून की तरफदार होती है और जो उस को काम में लाने में उत्साह से मदद देने को राजी रहती है, उसके ऊपर जितना कम दबाव रखकर शासन किया जा सकता है, उतना कम दबाव रख कर ऐसी वृत्तियों वाली प्रजा पर, जब तक वे वृत्तियां बनी रहती हैं तब तक, शासन नहीं किया जा सकता। और अगर मत देने का

अधिकार रखने वाली श्रेणी में अपना मत देने के लिये आने लायक साधारण उत्साह भी न हो अथवा वे लोग मत देने आवें भी, तो अपना मत सार्वजनिक उद्देश्य से न दे कर रुपया लेकर दें अथवा जिस की उनके ऊपर चलती बनती हो या उसको जो अपने खास मतलब से उनको खुश करना चाहता हो, उस की सलाह के अनुसार मत दें, तो प्रतिनिधि शासन से थोड़ा ही लाभ होता है। वरंच उलटे यह डर रहता है कि यह (प्रतिनिधि-शासन) प्रजापीड़न और प्रपंच का हथियार न बन जाय। इस प्रकार का चुनाव अंधेर नगरी के राज्य से रक्षास्वरूप होने के बदले उस की यंत्र सामग्री में सिर्फ एक मददगार पहिया सा बन जाता है। इस सात्विक विघ्न के सिवाय बाहरी कठिनाइयां भी होती हैं और वे बहुधा अलंघ्य बाधा हो जाती हैं। प्राचीन काल में यद्यपि व्यक्तिगत और स्थानीय स्वतंत्रता रही होगी और बहुधा थी तथापि ऐसा नहीं था कि फुटकर नगर-मण्डली की सीमा के बाहर लोकप्रिय नियमित राज्यतंत्र सा कुछ हो। क्योंकि सार्वजनिक विषयों पर चर्चा चलाने के लिये एकही सभा-मण्डप में जो मनुष्य जमा हो सकते थे, उनकी मण्डली के बाहर लोकमत की उत्पत्ति और प्रसार के लिये प्राकृतिक साधन नहीं था। प्रतिनिधि-शासन-पद्धति जारी होने से यह बाधा दूर हुई है, साधारणतः यह माना जाता है। परन्तु यह बाधा सम्पूर्ण रूप से दूर होने के लिये, विज्ञप्ति की और उसमें भी समाचार-पत्र द्वारा विज्ञप्ति की जरूरत थी। क्योंकि इस से निफल * और फोरम † का हर तरह से पूरा

* Pnyx=ग्रीस देश के एथेन्स शहर की प्रजा के सभा करने का स्थान।

† Forum=रोम शहर में फैसला सुनाने और व्याख्यान देने को आम मकान।

पूरा नहीं तो असली मतलब सधता है। जनता की कुछ कुछ ऐसी अवस्था भी थी कि उस में कुछ भी बड़े प्रदेश का साम्राज्य नहीं टिक सकता था, वह विना चले टूट कर एक दूसरे से स्वतंत्र माण्डलिक समान शिथिल बन्धन से जुड़े हुए छोटे छोटे राज्यों में बँट गया था। क्योंकि राज्यकर्त्ता में, बहुत दूर के प्रदेशों में हुक्म की तामील कराने की क्षमता जितनी चाहिए उतनी न थी। उस की सेना की वश्यता का मुख्य आधार उस की नमक-हलाली था और विशाल राज्य प्रदेश में पूरे बल से हुक्म मनवाने के लिये जिस सेना की जरूरत थी, उसे खड़ी रखने के लिये उचित रकम लोगों से वसूल का साधन भी नहीं था। ऐसी स्थिति में कमोबेश रुकावट होती ही है। यह रुकावट कभी कभी इतनी बड़ी होती है कि अगर वह किसी खास शासन-पद्धति के लिये पूर्ण रूप से बाधक न भी हो अथवा उस को दूसरी किसी साध्य शासन-पद्धति की अपेक्षा प्रयोग में अधिक पसन्द करने योग्य होने में बाधा न भी डाले, तो भी उस का प्रबन्ध बहुत बुरी तरह से चलने का कारण हो जाती है। हम पिछले प्रश्न के निर्णय का आधार अभी हम जिस विचार पर आये नहीं हैं, उस के ऊपर अर्थात् भिन्न भिन्न शासन-पद्धतियों में सुधार करने के रुख पर है।

हम ने अभी, जिस प्रजा पर जिस शासन-प्रणाली से राज्य करना होता है, उस प्रणाली के प्रति उस की अनुकूलता की तीन अंगीभूत दशाओं की जाँच-पड़ताल की है। अब अगर हम जिस राज्यनीति को "प्राकृतिक मत" * कहते हैं, उस के

* Naturalistic Theory—यह मत कि राज्यतंत्र कुदरती प्राणी-पदार्थ की तरह आप से आप उत्पन्न हो कर घटता बढ़ता है और उस के ऊपर मनुष्य का अधिकार नहीं चलता।

प्रवर्त्तक मात्र इन्हीं तीन शर्तों की आवश्यकता का आग्रह करना चाहते हों; अगर वे इतना ही कहना चाहते हों कि जो शासन-पद्धति पहिली और दूसरी शर्तों को पूर्णरूप से और तीसरी शर्त को बहुत अंश में पूरा नहीं करती, वह स्थायर हो कर नहीं रह सकती, तो उनका इस प्रकार का संकुचित मत निर्विवाद है। इस के अतिरिक्त वे जो कुछ कहना चाहते हैं उस का प्रतिपादन करना अशक्य है। राज्यतंत्र के सम्बन्ध में ऐतिहासिक आधार की, उस के साथ लौकिक आचार विचार के एकरूपता की और ऐसे ऐसे दूसरे विषयों की आवश्यकता के बारे में जो कुछ कहा जाता है, उस का मतलब इतना ही है; अन्यथा और किसी से मूल बात का कुछ सम्बन्ध नहीं है। इन में और इस के जैसे वचनों में जो विवेक पूर्वक अर्थ समाया हुआ है उस के साथ, इन के सिवाय, केवल मानसिक तरंग भी बहुत कर के मिली हुई होती है। परन्तु व्यवहार दृष्टि से देखने में राज्यतंत्र के कहे जाने वाले ये आवश्यक गुण केवल इनकी तीन शर्तें पूरा करने वाले अर्थात् अनुकूल साधन ही हैं। जब लोगों के विचार, शौक और खासियतें किसी नियम या नियमतंत्र का मार्ग साफ किये रहती हैं, तब वे उन्हें मानने को अधिक आसानी से तय्यार होंगे, इतना ही नहीं, वरन् इस के साथ उन नियमों की संरक्षा के लिये तथा उनको इस रीति के अमल में लाने के लिये कि वे सब से श्रेष्ठ फल देने में समर्थ होंगे, उनकी तरफ से जो जो कार्य होने की जरूरत है, उन कामों को अधिक आसानी से करना सीखेंगे और ऐसा करने की ओर उनकी रुचि भी आरम्भ से ही अधिक रहेगी। कोई कानून बनाने वाला ऐसे पुराने आचार विचार से जहाँ तक बने लाभ उठाने योग्य बर्ताव न करे, तो उस की भारी भूल समझना चाहिये।

इसके विरुद्ध इन केवल अनुकूल और मददगार साधनों को अंगीभूत अवसर की पदवी दे देना अतिशयोक्ति मात्र है। लोगों को जो मालूम रहता है, उसे करने के लिये वे लोग अधिक आसानी से समझाये जा सकते हैं। और वे उस को अधिक आसानी से करते भी हैं; परन्तु यह भी है कि जो बात उनके लिये नयी होती है, उस को करना भी सीखते हैं। परिचय भारी सहायक है, इस में सन्देह नहीं; परन्तु जो विचार पहिले नया होता है, उस का खूब मनन करने से परिचय हो जाता है। पहिले से न आजमाये हुए ऐसे विषयों के लिये सारी प्रजा के तत्पर हो जाने के अनेक दृष्टान्त हैं। नया काम करने के लिये और नयी व्यवस्था के अनुसार अपना चाल चलन बनाने के लिये प्रजा में कितनी सामर्थ्य है, यह भी इस प्रश्न का एक अंग है। भिन्न भिन्न प्रजाएँ और सभ्यता की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ इस गुण में एक दूसरे से बहुत अलग पड़ जाती हैं। किसी शासन पद्धति की शर्तें पूरी करने के लिये किसी प्रजा की सामर्थ्य का निर्णय किसी साधारण नियम के आधार पर नहीं हो सकता। इस विषय में तो किसी प्रजा के सम्बन्ध में मिला हुआ ज्ञान और साधारण व्यवहार विवेक तथा दूरदर्शिता जो बतावे, उसी मार्ग पर चलना है। और एक विचार है उस को भी ध्यान से बाहर न जाने देना चाहिये। कोई प्रजा अच्छे नियम ग्रहण करने को तय्यार न हो, तो भी उस के लिये उस के मन में उत्साह जगाना, उस की तय्यारी का एक आवश्यक अंग है। किसी नियम या शासन-पद्धति की सलाह और उपदेश देना और उस का लाभ खूबसूरती के साथ दिखाना, उस को स्वीकार कराने या मांगने के लिये ही नहीं बरंच उस के चलाने के लिये भी प्रजा के मन को सिखाने का एक साधन है और कितनी ही बार तो केवल

यही एक साधन होता है। पिछले और वर्त्तमान जमाने में इटली के देश-भक्तों के हाथ में "एकता सहित स्वतंत्रता" माँगने को उत्तेजित करने के सिवाय, इटालियन प्रजा को तय्यार करने का और कौन सा साधन था? * ऐसा होने पर भी जो लोग ऐसा काम सिर पर लेते हैं उन्हें, जिस नियम या प्रणाली को सलाह देना हो उस के केवल लाभ के विषय में नहीं, वरंच उसके चलाने योग्य सात्विक, मानसिक और शारीरिक सामर्थ्य के विषय में भी अपने मन में यथार्थ निर्णय करने की जरूरत है। इस लिये कि वे जहाँ तक हो सामर्थ्य के बाहर उत्साह दिखाने से बचें।

ऊपर जो कुछ कह आये उन सब का परिणाम यह है कि नियम और शासन-पद्धति, उपरोक्त बतायी हुई तीन शर्तों की सीमा में, मरजी के आधार पर है, जो एकान्ततः सब से श्रेष्ठ शासन-पद्धति कहलाती है, उसको ढूँढ़ना वैज्ञानिक बुद्धि का काल्पनिक नहीं वरंच अतिशय व्यवहारी उद्यम है और किसी देश की वर्त्तमान स्थिति में यथा सम्भव कुछ भी शर्त पूरा करने को समर्थ होने योग्य सब से श्रेष्ठ राज्यतंत्र जारी करना व्यवहारी उद्यम हाथ में लेने के समान है। मनुष्य-

* सन् १८६१ ईस्वी में यह पुस्तक प्रकाशित हुई, उसी समय विक्टर इमानुएल राजा के अधीन समग्र इटली का राज्य स्थापित हुआ था। इस के पहिले इटली देश का बहुत सा भाग विदेशी राज्य आस्ट्रिया के मातहत था। और जो छोटे छोटे देशी राज्य थे, वे भी उस के अधीन रहते थे। इटली को इस प्रकार विदेशी हुकूमत से छुड़ा कर विक्टर इमानुएल के हाथ में सौंपने वाला वीर पुरुष 'गेरीबाल्डी' नाम का बड़ा सरदार था। इस "एकता सहित स्वतंत्रता" का पहिला उपदेशक मेज़िनी था।

संकल्प और मनुष्य-धारणा के प्रभाव को हेय गिनने के लिये जो कुछ इस के विरुद्ध राज्यनीति के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, वह सब इस विषय में इस के दूसरे सभी उद्यम के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। सब विषयों में मनुष्य-शक्ति बहुत संकुचित सीमा में है। किसी एक या अधिक दैवी शक्ति के योग से ही वह चल सकती है। इस लिये सोची हुई बात, काम में लाने योग्य शक्तियाँ जाग्रत होनी चाहियें; फिर वे शक्तियाँ अपने नियम के अनुसार ही कार रवाई करेंगी। हम नदी के प्रवाह को पीछे नहीं लौटा सकते; परन्तु इस से हम यह नहीं कहते कि 'जलयंत्र की उत्पत्ति कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है।' यंत्रशास्त्र की तरह राज्यनीति शास्त्र में भी यंत्र को चलायमान रखने की शक्ति यंत्र-सामग्री के बाहर से प्राप्त करनी होती है। और अगर वह न मिले अथवा जिस रुकावट का होना सम्भव है, उसे दूर करने योग्य उसमें सामर्थ्य न हो, तो वह योजना निष्फल जायगी। यह कुछ राज्यनीति शास्त्र का ही खास गुण नहीं है; कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यह भी दूसरे सब शास्त्रों की तरह मर्यादा और व्यवहार के अधीन है।

यहां पर एक दूसरा उज्र अथवा भिन्न स्वरूप में वही उज्र हमारे सामने पेश किया जाता है। यह बहस की जाती है कि जिन शक्तियों पर बहुत बड़े राजनीतिक प्रसङ्ग निर्भर करते हैं, उनके ऊपर नीतिवेत्ता दार्शनिक की सत्ता नहीं चल सकती। यह कहा जाता है कि किसी देश का राज्यतंत्र, सब आवश्यक विषयों में, सामाजिक सत्ता के मूल अंगों के विभाग से बंधी उस देश की स्थिति द्वारा पहिले से ही नियमित और निश्चित हुआ रहता है। समाज में जो सब से प्रबल सत्ता होगी, वह शासन का अधिकार प्राप्त करेगी और राज्यतंत्र का कोई

परिवर्त्तन उस से पहिले या उस के साथ समाज की सत्ता के बंटवारे के सम्बंध में न हुआ होगा, तो स्थायी नहीं रह सकता। इस से कोई भी राष्ट्र अपनी शासन-पद्धति मरज़ी के मुताबिक पसन्द नहीं कर सकता: सिर्फ़ सूक्ष्म व्यवहारी विषय और प्रबन्ध व्यवस्था को वह पसन्द कर सकता है। परन्तु सब का सारांश अर्थात् सर्वोपरि सत्ता का मूल तो उसके लिये सामाजिक व्यवस्था ही निश्चित करती है।

यह तो मैं तुरन्त ही स्वीकार करता हूँ कि इस मत में सत्य का कुछ अंश है। परन्तु उस के कुछ उपयोगी होने के लिये उस की स्पष्ट व्याख्या और योग्य मर्यादा बाँधने की ज़रूरत है। यह जो कहा जाता है कि समाज में जो सब से प्रबल सत्ता होगी, वह राज्यतंत्र में भी सब से प्रबल होगी, इस का अर्थ क्या है? अंगबल से तो मतलब है ही नहीं; क्योंकि अंगबल होने से केवल प्रजा सत्ताक शासन-पद्धति ही टिक सकती है। अंगबल के साथ द्रव्य सम्पत्ति और बुद्धिबल के दूसरे दो तत्वों को शामिल करें, तो हम सत्य के बहुत पास आते तो हैं; किन्तु उस तक नहीं पहुँचते। कितनी ही बार छोटा दल बड़े दल को अपने वश में रखता है, इतना ही नहीं; वरन् धन सम्पत्ति और पृथक् पृथक् बुद्धि बल में बड़े दल के अधिक प्रबल होने पर भी उनको उससे इन दोनों बातों में हीन छोटा दल वश में रख सकता है। राजनैतिक प्रकरण में सत्ता के इन भिन्न भिन्न तत्वों को प्रबल करने के लिये उनका संगठन करने की ज़रूरत है; और संगठन करने में जिसके हाथ में राज्यसत्ता होती है, उसका ज़ोर विशेष रहता है। सत्ता के दूसरे सब तत्वों में बहुत दुर्बल पक्ष भी, जब उसके साथ राज्यसत्ता का बल मिलता है, तब बहुत प्रबल हो जाता है और इस एक ही साधन के योग से

अपना प्रभाव बहुत समय तक कायम रख सकता है। इतने परभी जैसे कोई वस्तु कांटे (तराजू) के समतोलन में अगर एक बार भी विक्षेप में पड़ा तो फिर वह अपनी पहिली अवस्था में आने के बदले उससे और दूर चला जाता है, वैसा ही हाल ऐसी व्यवस्था वाले राज्यतंत्र का है। जिसको यंत्रशास्त्र में अस्थिर समतोलन कहते हैं। इस बात में सन्देह नहीं है।

परन्तु राज्यनीति का यह मत प्रकाश करने में, जिन शब्दों का साधारण रीति से उपयोग किया जाता है उनमें इसके विरुद्ध इससे भी प्रबल बाधा आ पड़ती है। जो सामाजिक सत्ता राजनीतिक सत्ता हो जाने की ओर ढली रहती है, वह कुछ उदासीन—केवल निश्चेतन सत्ता नहीं, वरंच सचेतन सत्ता होती है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि वह दर असल अमल में लायी हुई सत्ता होती है; अर्थात् सारी वर्तमान सत्ता का वह बहुत अल्प अंश होती है। राजनीतिक ढंग से कहें तो सारी सत्ता का बड़ा भाग संकल्प-शक्ति में है। इससे, हम जब तक संकल्प-शक्ति पर सत्ता रखने वाले हर एक विषय को गिनती में न लें, तब तक राजनीतिक सत्ता के तत्त्वों का परिमाण कैसे लगा सकते हैं? जिन के हाथ में सामाजिक सत्ता है, वे अन्त को राजनीतिक सत्ता धारण करते हैं। इसके लिये लोक-मत पर प्रभाव डाल कर राज्यतंत्र के गठन पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, ऐसा सोचना यह बात भूल जाने के समान है कि अभिप्रायः स्वयं एक सब से बड़ी सचेतन सामाजिक सत्ता है। श्रद्धा वाले एक मनुष्य की सामाजिक सत्ता केवल स्वार्थ वाले निन्यानवे मनुष्य की सत्ता के बराबर है। अमुक शासन-पद्धति या अमुक सामाजिक विषय पसन्द करने योग्य है, यह साधारण विचार उत्पन्न करने में जो लोग सफलता पाते हैं, वे

सामाजिक सत्ता अपने पक्ष में लाने के लिये यथा सम्भव चेष्टा करते हैं। जिस दिन पहिले धर्म के लिये मरने वाले को *जेरूसलेम में पत्थरों से मार मारकर मार डाला और विधर्मियों का भविष्य में होने वाला धर्मदूत ‡ उसका मरण स्वीकार करता हुआ खड़ा था, उस दिन किसने यह सोचा होगा कि पत्थरों की मार से मरने वाले उस मनुष्य के पक्ष की सामाजिक सत्ता उसी समय और उसी स्थान में, सब से प्रबल थी? और ऐसा होना क्या परिणाम से सिद्ध नहीं हुआ? क्योंकि उस समय की विद्यमान श्रद्धा में उसकी श्रद्धा सब से प्रबल थी। इसी तत्व ने वर्म्स (१) की राजसभा में सम्राट् (२) पांचवें चार्लस और वहां एकत्रित सब माण्डलिक राजाओं की अपेक्षा विटेनबर्ग (३) के एक साधु (४) को अधिक बलवान सामाजिक सत्ताक बना दिया था।

---

* धर्म के लिये प्राण देने वाला सेण्ट स्टीवन्स नामक ईसाई धर्म का उपदेशक, इस प्रकार ईसाई धर्म के लिये पहिली बार बलि चढ़ा था।

+ धर्म नहीं मानने वाले ईसाई और यहूदी धर्म से जुदे धर्म के।

‡ परदेश में जा कर ईसाई धर्म का प्रवर्त्तन करने वाला। यह धर्मदूत युरोप में ईसाई धर्म का प्रवर्त्तन करने वाला पाल था।

(१) जर्मनी देश का एक शहर (२) स्पेन का राजा (१५१६-१५५६) और जर्मनी का सम्राट् (१५१९-१५५६) तथा नवीन आविष्कृत अमेरिका का मालिक होने से वह युरोप में सब से बलवान् राजा था। परन्तु लूथर के सामने उसकी कुछ न चली। उसने जर्मनी में नये फैले हुए प्रोटेस्टेन्ट मत को दबा देने की बहुत चेष्टा की; परन्तु अन्त को विफल हुआ। (३) जर्मनी का एक शहर। (४) प्रोटेस्टेन्ट मत का चलाने वाला मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६)

यह कहा जा सकता है कि इस प्रसङ्ग में धर्म का सम्बन्ध था और धार्मिक संकल्प में कुछ विलक्षण बल रहता है। तब हम एक केवल राजनीतिक प्रसङ्ग लेते हैं, जिस में अगर धर्म्म का कुछ भी सम्बन्ध था, तो वह मुख्य करके हारने वाले पक्ष की तरफ था। मानसिक भावना सामाजिक सत्ता का एक मुख्य तत्व है इस बात का अगर कोई प्रमाण चाहता हो, तो उसे चाहिये कि वह जब उदार और सुधारक राजा, उदार और सुधारक सम्राट् और सब से विचित्र बात यह कि उदार और सुधारक पोप के शासन रहित युरोप का कोई राज्य रहा हो, उस जमाने का अर्थात् महान फ्रेडरिक के, दूसरी केथरीन के, दूसरे जोजेफ के, पीटर लियोपोल्ड के, चौदहवें वेनीडिक्ट के, गेंगेनेली के, पाम्बाल के, आरंडा के, जमाने को जब नेपल्स का बुर्बोन्स भी उदार और सुधारक था और फ्रांस के अमीर दल में सब उत्साही मनुष्य उस विचार में मस्त थे, जो थोड़े समय में आप ही भारी हो जाने वाला था, उस जमाने का विचार करे। (५) केवल शरीर-बल और धन-बल सारी सामाजिक सत्ता हो जाने में कितना असमर्थ है, इसका

वर्म्स की सभा में जहां सम्राट् पंचम चार्लस केथलिक धर्माध्यक्ष और दूसरे माण्डलिक राजा जमा थे, वहां इसने जा कर अपने धार्मिक विचार निर्भय प्रगट किया था।

(५) फ्रांसीसी राज्य विप्लव के आरम्भ से पहिले का समय-महान फ्रेडरिक (१७७२–१७९६) प्राशिया का राजा और पहिले श्रेणी का राज्य बनाने वाला। इसने प्राशिया में बहुत कुछ सुधार किये थे। दूसरी केथरिन–रूस की महारानी (१७२९–१७९६) स्वयं मनमानी चाल वाली होने पर भी इसने महान पीटर की तरह देश

वह वास्तव में संशयच्छेदक दृष्टान्त है। ब्रिटिश साम्राज्य में और दूसरे स्थानों में जिस हबशियों की (१) गुलामी का अन्त हुआ, वह कुछ जड़ सम्पत्ति के बँटवारे में फेर-फार होने के कारण नहीं, वरंच दृढ़ मानसिक संकल्प का प्रसार होने के कारण। रूस के (२) गुलामों का जो छुटकारा हुआ है, वह अगर कर्त्तव्य धर्म्म का विचार होने से न हुआ हो, तो भी राज्य के सच्चे लाभ के विषय में अधिक सुधरा हुआ मत प्रतिष्ठित होने से ही हुआ। मनुष्य का जो विचार होता है, उस से यह निश्चय होता है कि उसका आचरण कैसा होगा। और यद्यपि साधारण मनुष्य का मत और निश्चय उसकी विचार-शक्ति की अपेक्षा निज की खास स्थिति के आधार से अधिकांश में बनता है तथापि जिसकी निज की पदवी उससे अलग होती है, उसके मत और निश्चय का और विद्वानों की

में बहुत से सुधार किये और उसका विस्तार बढ़ाया। दूसरा जोजेफ और पीटर लियोपोल्ड—जर्मनी के सम्राट् और हंगरी के राजा दो भाई थे। चौदहवां बेनीडिक्ट (१७४०-५८) और गेंगेनेली अथवा चौदहवां क्लेमेण्ट (१७६९–७५) रोम के दो सुधारक–पोप क्लेमेन्ट जिसने ज्यीटर साधु का मत बन्द किया था। पोम्बाल (१६९८-१७८२) पुर्त्तगाल में बहुत से सुधार करने वाला। स्पेन के बुर्बोन राजकुमार डोन कार्लोस ने नेपल्स और सिसली में सन् १७३५ में गद्दी स्थापित की, जो १८६१ तक उस कुल के हाथ में थी। (१) विलियम विल्बर्फोर्स, क्लार्कसन आदि के प्रयत्न से सन् १८३३ ईस्वी में गुलामी की चाल ब्रिटिश राज्य से एक करोड़ पाउण्ड के खर्च से नेस्त नाबूद हुई। (२) रूसके सम्राट दूसरे अलेक्जेण्डर ने १८६१ ईस्वी में गुलामी की प्रथा उठा दी। इससे २ करोड़ ३० लाख मनुष्य स्वतंत्र हुए।

संयुक्त सत्ता का उसके ऊपर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। इससे जब विद्वानों के मन में साधारण तौर पर यह बात जमा दी जाय कि कोई सामाजिक व्यवस्था अथवा राजनीतिक या दूसरे नियम अच्छे हैं और अमुक बुरे हैं, एक पसन्द करने योग्य है और दूसरा धिक्कारने योग्य; तो यह समझना कि जिस सामाजिक बल के वजन से टिकने में वह समर्थ होता है, उस वजन ने एक की मदद से लाने में और दूसरी तरफ से खदेड़ने में बहुत अधिक सफलता पायी है। और किसी देश का राज्यतंत्र वैसा ही होता है जैसा होने को उसे सामाजिक सत्ताएं लाचार करती हैं—यह सिद्धान्त इसी अर्थ में सत्य है कि जनता की वर्त्तमान अवस्था में साध्य होने योग्य सारी शासन-पद्धतियों में से विवेकपूर्वक पसन्द करने के प्रयत्न में रुकावट न डाल कर उसके अनुकूल हो।

दूसरा अध्याय।

अच्छी शासन-पद्धति की पहिचान।

अगर किसी देश के लिये (कुछ खास शर्तों की हद में) शासन-पद्धति पसन्द करने की चाल निकाली जा सकती है, तो अब इस बात की जांच करनी चाहिये कि यह पसन्द या चुनाव किस परीक्षा से किया जाय और किसी समाज के लाभ की वृद्धि करने में सब से अनुकूल शासन-पद्धति के विशेष चिन्ह क्या हैं।

इसकी जांच-पड़ताल करने से पहिले राज्यतंत्र के खास कर्त्तव्य क्या हैं, इसका निश्चय करना आवश्यक जँचेगा। क्योंकि राज्यतंत्र के केवल एक साधन होने से उसकी

योग्यता का आधार उसके सोचे हुए उद्देश्य की अनुकूलता पर रहना चाहिये। परन्तु इस स्वरूप में प्रश्न उठाने से उस का हल करने में अपेक्षाकृत कम सहायता मिल सकेगी और समूचा प्रश्न दृष्टि के सामने आवेगा भी नहीं। क्योंकि पहिले राज्यतंत्रता का खास कर्त्तव्य कोई निश्चित वस्तु नहीं है. वह समाज की भिन्न भिन्न अवस्था में भिन्न भिन्न और आगे बढ़े हुए राज्य की अपेक्षा पिछड़े हुए राज्य में बहुत फैला रहता है। दूसरे हम अपना लक्ष्य जब तक राज्य तंत्र के कर्त्तव्य की खास सीमा में रखेंगे, तब तक राज्यतंत्र अथवा राजनीतिक नियमों का लक्षण ठीक ठीक ध्यान में नहीं आ सकता। क्योंकि राज्यतंत्र का हित की ओर रुख तो अवश्य करके सीमाबद्ध होता है; किन्तु दुर्भाग्य से उसका अहित की ओर का रुख सीमाबद्ध नहीं होता। मनुष्य जिस प्रकार के और जिस कदर अनर्थ का पात्र है, उतना अनर्थ राज्यतंत्र उसके ऊपर करने में समर्थ होता है। परन्तु जो जो सुख सामाजिक जीवन में सम्भव हैं उन में से कोई सुख, राज्यतंत्र का गठन उसकी प्राप्ति के जितना अनुकूल होता है और जितनी स्वाधीनता देता है उस से कुछ भी अधिक मिलना असम्भव है। सरकारी कर्मचारियों के परोक्ष प्रभाव के विषय में न कहें, तो भी उनके प्रत्यक्ष हस्तक्षेप की सीमा मनुष्य-जीवन की सीमा से जरा भी कम नहीं है। इस-लिये मनुष्य-जाति के समूचे लाभ का सम्बन्ध ध्यान में रखे बिना समाज के सुख के विषय में राज्यतंत्र की सत्ता का विचार अथवा अन्दाजा ठीक तौर पर नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार अच्छे और बुरे राज्यतंत्र की पहिचान के तौर पर समाज के समूचे लाभ जैसा जटिल विषय दृष्टि के सामने रखने को लाचार होने से हम उस लाभ का कोई श्रेणी

विभाग करने का प्रसन्नता से प्रयत्न करेंगे कि जिस से उस निर्द्धारित श्रेणी विभाग के अपने सामने होने से, हम जिन गुणों द्वारा कोई शासन-पद्धति भिन्न भिन्न लाभों को क्रम से बढ़ाने में समर्थ होती है, उनका स्वरूप जान सकें। हम यह कह सकें कि समाज की भलाई में ऐसे ऐसे तत्व सन्निविष्ट हैं; इन में से एक को ऐसी शर्त की आवश्यकता है; दूसरे को दूसरी शर्त की; तो हमारा काम बहुत सहल हो जाय; जिस राज्यतन्त्र में ये सब अवस्थाएँ सब से अधिक परिमाण में सन्निविष्ट हों उसके सब से बढ़िया होने की बात होती तो समाज की अच्छी स्थिति में सन्निविष्ट तत्व सम्बन्धी सिद्धान्तों से राज्यनीति-शासन का गठन हो सकता।

दुर्भाग्यवश जिन से ऐसे सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं, उन सामाजिक हित के तत्वों की गणना करना या श्रेणी बांधना कुछ सहज काम नहीं है। जिन्हों ने पिछले जमाने में और हाल के जमाने में राज्यनीति शास्त्र पर कुछ गहरी दृष्टि डाली है, उनको इस श्रेणी-विभाग की आवश्यकता जान पड़ी है; परन्तु अभी तक उस ओर जो प्रयत्न हुआ है वह, जहां तक मैं जानता हूं, एकही कदम है। समाज की जरूरतों का फ्रांसीसी तत्वज्ञानियों की भाषा में नियम और उन्नति और अंगरेज़ कवि तथा दार्शनिक कोलेरिज (१७७०—१८३४) के शब्दों में स्थिति और उन्नयन—बस इतने विभाग के साथ इस श्रेणी का आरम्भ और अन्त होता है। इसके दो अंगों में स्पष्ट दिखाई देनेवाले विरोध के कारण और जिनकी वृत्तियों को वह उत्तेजित करती है उस में विलक्षण भेद रहने के कारण यह विभाग ठीक और मोहक जँचता है। परन्तु मुझे ऐसा जान पड़ता है कि (लौकिक विवेचन के कारण यह भेद चाहे जिस तरह ग्रहण किया जाय तो भी) नियम या स्थिति

और उन्नति के बीच का भेद राज्यतंत्र के गुणों की व्याख्या करने में लगाया जाय, तो यह अवैज्ञानिक और अवास्तविक है।

नियम और उन्नति के माने क्या ? उन्नति के सम्बन्ध में कुछ कठिनाई नहीं है। अन्ततः पहिली नजर से दिखाई देने वाली कोई कठिनाई नहीं है। उन्नति को जनता की एक जरूरत यह सकते हैं अर्थात् उन्नति का अर्थ सुधार है। परन्तु नियम क्या है ? इसका अर्थ कितनी ही बार अधिक और कितनी ही बार कम विशाल होता है, तथापि जनता के सुधार के सिवाय दूसरी जो जो जरूरतें हैं उनको यह मुश्किल से प्रगट करता है।

नियम का सब से सकीर्ण अर्थ अधीनता है। राज्यतंत्र जब जनसमूह को अपने वश में रखने में सफलता पाता है तब यह कहा जाता है कि यह नियम रखता है। परन्तु अधीनता के दरजे भिन्न भिन्न होते हैं और हर एक दरजा सराहने योग्य नहीं। प्रत्येक नागरिक अलग अलग हाकिमों के हर एक हुक्म को धुन करके मान ले ऐसा तो केवल निरंकुश स्वेच्छाचारी राज्य ही चाहता है। यह सच है कि जो हुक्म मामुली और साफ कानून की सूरत में हो उसका समावेश इस परिभाषा में होना चाहिये। इस मतलब का नियम बेशक राज्यतन्त्र का एक आवश्यक गुण दरसाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि जो लोग अपना हुक्म मनवाने को असमर्थ हैं, वे राज्य करते हैं। यद्यपि यह राज्यतन्त्र की एक आवश्यक शर्त है तथापि यह उसका उद्देश्य नहीं है। उसे अपनी आज्ञा मनवाने की जो जरूरत है, वह इस लिये कि कोई दूसरा उद्देश्य साध सके। यह जो दूसरे सुधार के भावार्थ से केवल निराला उद्देश्य राज्यतन्त्र को साधना है और जो स्थितिपरायण या उन्नतिपरायण प्रत्येक जनता में

साधना है, वह उद्देश्य क्या है अब हमें यह ढूँढ़ना है।

कुछ अधिक विशाल अर्थ में लें, तो नियम घराऊ उपद्रव को रोक कर शान्ति रखने का भाव दरसाता है। जिस देश की प्रजा आपस का झगड़ा भीतरही भीतर अपने बल से बन्द कर देती है और अपनी तकरार का फैसला तथा अपनी हानि का समाधान करने का काम सरकारी अधिकारियों को सौंपना सीखे हुई होती है, कहा जाता है कि वहां नियम रहता है। परन्तु पहिले संकीर्ण अर्थ की तरह इस अधिक विशाल अर्थ में भी नियम राज्यतंत्र का हेतु या उसकी उत्कृष्टता का लक्षण नहीं है, वरंच उसकी एक दशा ही दरसाता है। क्योंकि राज्यतंत्र की आज्ञा में रहने का और सब विचारग्रस्त विषय निवटेरे के लिये उसके अधिकार में सौंपने का रिवाज अच्छी तरह मजबूत हुआ हो, तो भी इन विवाद-ग्रस्त विषयों का और दूसरे जिन विषयों में राज्यतंत्र सिर लड़ावे उनका फैसला करने की रीति में,—सब से अच्छे और सब से खराब में जितना अंतर है–उतना बड़ा भेद पड़ सकता है।

जिनका समावेश उन्नति के अर्थ में नहीं हो सकता, उन सब का समावेश नियम के अर्थ में करना चाहें, तो उसकी ऐसी परिभाषा करनी चाहिये कि जितने तरह की और जितनी भलाइयां मौजूद हैं उनकी रक्षा करना नियम है और बढ़ती उन्नति है। इस विभाग के एक या दूसरे अंग में हम राज्यतंत्र से जो जो काम कराने की आशा रख सकते हैं वे सब समा जाते हैं। परन्तु ऐसा विचारने से राज्यनीति तत्वशास्त्र की गिनती में नहीं रहती। राज्यतंत्र का गठन करने में हम यह नहीं कह सकते कि अमुक धारा नियम के लिये बनाना चाहिये और अमुक धारा उन्नति के लिये। क्योंकि इस समय के बताये हुए अर्थ में नियम की शर्त और उन्नति

की शर्त एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, वरंच एकही है। विद्यमान सामाजिक हित को बनाये रखने की ओर जिसका रुख होना है वही साधन उसके बढ़ती की ओर भी ढकेलता है और इस से उलटा भी ऐसा ही समझना; भेद इतना ही है कि पहिले उद्देश्य की अपेक्षा दूसरे उद्देश्य के लिये यह साधन अधिक परिमाण में चाहिये।

उदाहरण के तौर पर कहते हैं—पृथक् पृथक् नागरिकों में क्या क्या गुण होने से वे समाज में विद्यमान सदाचार, सुव्यवस्था, सफलता और सम्पत्ति का परिमाण बनाये रखने में सब से अधिक सहायक होते हैं? प्रत्येक मनुष्य स्वीकार करेगा कि वे गुण उद्योग, ईमानदारी, न्याय और दूरदर्शिता हैं। परन्तु क्या ये ही गुण सुधार के लिये भी अधिक सहायक नहीं हैं? जनता में इन गुणों की वृद्धिही क्या सब से बड़ा सुधार नहीं है? ऐसा है तो राज्यतंत्र के जो जो गुण उद्योग, ईमानदारी, न्याय और दूरदर्शिता को उत्तेजित करते हैं वे स्थिति और उन्नति के एक समान मददगार हैं; भेद इतनाही है कि जनता को सिर्फ स्थायी रखने में जिस कदर इन गुणों की आवश्यकता है, इससे अधिक परिमाण में वास्तविक उन्नति के लिये आवश्यकता है।

फिर मनुष्य में ऐसे क्या गुण हैं जिनका उन्नति से विशेष सम्बन्ध दिखाई देता है और जो उतना स्पष्ट नियम और संरक्षण का भाव सूचित नहीं करते? ये गुण मुख्य कर के मानसिक चंचलता, उत्साह और साहस हैं। परन्तु क्या ये सब गुण विद्यमान हित की वृद्धि करने में जिस कदर चाहिये उसी कदर उस हित को पूर्ण रूप से बनाये रखने के लिये आवश्यक नहीं हैं? मनुष्य के कार्य्य व्यवहार में अगर कुछ बात निश्चित है, तो वह यह है कि जिन शक्तियों द्वारा अमूल्य लाभ प्राप्त

हुआ रहता है, उन शक्तियों के कायम रहने से ही वह लाभ बना रह सकता है। जिस वस्तु का सम्हालना छोड़ दिया जाता है, उसका अवश्य विनाश होता है। जो लोग सफलता पर भूल कर अपनी सावधानता और विचारशीलता की टेव और अनिष्ट का सामना करने की मुस्तैदी ढीली कर देते हैं, उनका सौभाग्य बहुत काल तक कदाचित्‌ही बना रहता है। जो मानसिक गुण केवल उन्नति के ही अर्पण हुआ जान पड़ता है और जो उन्नति की अनुकूल वृत्तियों की पराकाष्ठा है, वह अपूर्व कल्पना या आविष्कार शक्ति है। फिर भी, यह गुण स्थिति के लिये कुछ कम आवश्यक नहीं है। क्योंकि मनुष्य के कार्य व्यवहार में, अवश्य होनेवाली उथल-पुथल में नयी अड़चन और नया भय सदा खड़ा होता रहता है और जो पहिले से जारी हो उस व्यवस्था को जारी रखने के लिये नये उपाय और नयी युक्ति द्वारा उस अड़चन और भय से टक्कर लेनी पड़ती है। इस से राज्यतन्त्र के जिन जिन गुणों में चंचलता, उत्साह, साहस और आविष्कार-शक्ति को उत्तेजन देने की प्रवृत्ति होती है, वे उन्नति की तरह स्थिति के लिये भी आवश्यक हैं। भेद इतना ही है कि पहिले हेतु के लिये जिस कदर चाहिये उस से कुछ कम दूसरे उद्देश्य के लिये।

अब हम जनता के आवश्यक मानसिक गुण की ओर से बाहरी प्राकृतिक गुण की ओर आते हैं तो ऐसी योजना दिखाना असम्भव है जो राज्यतन्त्र में या सामाजिक कार्य्य व्यवहार में केवल नियम वा केवल उन्नति को उत्तेजन देती हो। दृष्टांत के तौर पर पुलिस का साधारण महकमा लो। सामाजिक व्यवस्था के इस अंग की योग्यता में जिस उद्देश्य का लाभ सब से प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वह नियम है। तथापि

यह नियम बनाये रखने में समर्थ हो अर्थात् अपराध दबावे और हर एक आदमी को अपना शरीर और सम्पत्ति सही सलामत मानने को शक्तिमान करे, तो क्या इससे बढ़कर दूसरी कोई अवस्था उन्नति के अधिक अनुकूल हो सकती है ! सम्पत्ति की अधिक रक्षा अधिक आमदनी का एक भारी मौक़ा और कारण है और सब से अधिक परिचित और गोराविचार के अनुसार यह उन्नति है। अपराध की बहुत अधिक रुकावट अपराध करने की ओर झुकनेवाली वृत्तियों को दबाती है और यह कुछ अधिक ऊंचे अर्थ में उन्नति है। अधूरी रक्षावाली अवस्था की सारी फ़िक्र और चिन्ता से मनुष्य का छुटकारा होने पर अपनी और दूसरे की स्थिति सुधारने के किसी भी नये प्रयत्न में भिड़ने के लिये उसकी मन-शक्तियां दौड़ती हैं और इसी कारण से, उसे सामाजिक जीवन पर प्रीति होने से, और अपने जाति भाइयों को तुरन्त के या भविष्य के शत्रु रूप में देखने की अब ज़रूरत न रहने से, दूसरों के प्रति स्नेह और बंधु भाव का और जनता के साधारण हित के प्रति उमंग की वृत्तियों का—जो सामाजिक सुधार के इतने आवश्यक अंग है, पोषण होता है।

फिर कर और आय की अच्छी पद्धति जैसे प्रसिद्ध विषय को लो। यह विषय बहुत करके नियम से सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ेगा। तथापि इससे बढ़ कर उन्नति के लिये मददगार और क्या होगा? आय की जो पद्धति एक उद्देश को उत्तेजन देती है, वह अपने उसी उत्तम गुण के कारण दूसरे उद्देश को भी मददगार हो जाती है। दृष्टान्त के तौर पर यह सकते हैं कि मितव्ययता राष्ट्र की सम्पत्ति की मौजूद पूंजी को जिस तरह बनाये रखती है, उसी तरह उसकी अधिक उत्पत्ति के अनुकूल होती है। कर के बोझ का वाजिबी बँटवारा

प्रत्येक नागरिक के सामने कठिनाई भरी व्यवस्था में दिखायी हुई नीति और शुद्ध बुद्धि का दृष्टान्त और सब से बढ़ कर अधिकारियों की की हुई इन गुणों की कदर का सबूत मान कर, दृढ़ता और विवेक दोनों गुणों के सम्बन्ध में, जनता की सात्विक वृत्तियां चमकाने में उत्तम दरजे का साधन हो जाता है। ऐसा कर विठाने की पद्धति—जो नागरिकों के उद्योग में बाधा न डाले या न उसकी स्वतंत्रता में विना कारण रुकावट हो,—राष्ट्र की सम्पत्ति की संरक्षा के ही नहीं वरंच उसकी वृद्धि के भी अनुकूल होती है और प्रत्येक स्वतंत्र मनुष्य की मन शक्तियों को अधिक उत्साह से काम में लगाने को उत्तेजित करती है। इसके विरुद्ध आय और कर की व्यवस्था में होने वाली जो भूलें सम्पत्ति और नीति के विषय में लोगों की बढ़ंती होने से रोकती हैं वे सब अगर बहुतायत से हों, तो उनको निर्धन और अधम बनाने में मददगार हुए विना भी नहीं रहतीं। सारांश, एक ऐसा सार्वजनिक सिद्धान्त है कि नियम और स्थिति को अगर हम विद्यमान लाभ की स्थायिता के सब से विशाल अर्थ में लें, तो उन्नति के आवश्यक साधन बहुत अधिक परिमाण में नियम के आवश्यक साधन हैं और स्थिति के आवश्यक साधन कुछ कम परिमाण में उन्नति के आवश्यक साधन हैं।

नियम उन्नति से वास्तव में भिन्न है और विद्यमान हित—मौजूदा भलाई के कामों की रक्षा और अधिक भलाई के आरम्भिक श्रेणी विभाग का आधार होने के लिये जो चाहिए उससे भिन्न है—इस पक्ष की पुष्टि में शायद हम से यह कहा जायगा कि उन्नति कभी कभी नियम को तोड़ कर भी होती है; हम एक तरह की भलाई पा रहे हैं या पाने की कोशिश कर रहे हैं, तो दूसरी तरह की भलाई के विषय में पीछे

भी पड़ रहे हैं। इस प्रकार सम्पत्ति में उन्नति हो रही हो तो भी, उसी वक्त सद्गुण में अधोगति होती है। यह बात स्वीकार करें, तो भी इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उन्नति स्थिति से भिन्न वस्तु है, बल्कि सद्गुण सम्पत्ति से भिन्न वस्तु है। उन्नति माने स्थिति और कुछ विशेष। और एक विषय में उन्नति सब विषयों में स्थिति नहीं सूचित करती यह कहना कुछ उसका जवाब नहीं है। इसी तरह एक विषय में उन्नति भी सब विषयों की उन्नति नहीं सूचित करती। जिस तरह की उन्नति हो उसमें उसी तरह की स्थिति का समावेश होता है। जब एक तरह की उन्नति के लिये स्थिति का त्याग किया जाता है, तब दूसरी तरह की उन्नति का इससे भी अधिक त्याग हो जाता है। अगर वह त्याग के योग्य न हो, तो सिर्फ स्थिति के लाभ से लापरवाई नहीं की जाती, वरंच उन्नति के साधारण लाभ के विषय में भी भूल की जाती है।

अच्छे राज्यतंत्र के विचार को वैज्ञानिक सूक्ष्मता के मूल आधार पर छोड़ने के प्रयत्न में, अगर इस अयोग्य रीति से विरोध में पड़ी हुई भावनाओं का कुछ भी उपयोग करना हो हो, तो व्याख्या में से नियम शब्द निकाल कर यह कहना वास्तव में अधिक यथार्थ होगा कि उन्नति के लिये अगर कोई सब से अधिक अनुकूल है, तो वह सब से बढ़िया राज्यतंत्र है। क्योंकि उन्नति में नियम का समावेश होता है, परन्तु नियम में उन्नति का नहीं होता। नियम जिस वस्तु का छोटा अंश है उन्नति उसका बड़ा अंश है। दूसरे किसी अर्थ में लें तो नियम अच्छे राज्यतंत्र की पहिली शर्तों का केवल एक भाग है; कुछ उस का भाव और तत्व नहीं है। नियम का अधिक योग्य स्थान तो, उन्नति के अवसरों में है। क्योंकि अगर हम अपने हित की पूँजी बढ़ाना चाहें, तो अपने पास हाल में जो हो उसकी

उचित सम्हाल करने से बढ़कर और कुछ आवश्यक नहीं है। अगर हम अधिक धन पैदा करने के लिये परिश्रम करते हों, तो अपने वर्त्तमान धन को व्यर्थ न गँवायें यह हमारा सब से पहिला नियम होना चाहिये। ऐसा सोच लेने पर नियम उन्नति के साथ शान्ति में रखने योग्य विशेष उद्देश्य नहीं है, वरन उन्नति का ही एक भाग और साधन है। एक विषय में मिले हुए लाभ से उसी विषय में अथवा दूसरे किसी विषय में उसकी अपेक्षा अधिक नुकसान हो, तो वह उन्नति नहीं हुई। ऐसे भावार्थ वाली उन्नति की अनुकूलता में राज्यतंत्र की सारी उत्कृष्टता का समावेश होता है।

यद्यपि अच्छे राज्यतंत्र के लक्षण की यह व्याख्या तात्विक-विचार से प्रतिपादित करना सम्भव है तथापि यह यथार्थ नहीं है; क्योंकि यद्यपि इसमें सत्य पूरा पूरा है तथापि यह स्मरण तो एक ही भाग का कराता है। उन्नति शब्द जो भाव सूचित करता है वह आगे बढ़ने का है, परन्तु यहां तो इसमें अवनति से रोकने का अर्थ भी उसी कदर समाया हुआ है। उन साधनों की—उन्हीं विचार वृत्ति, रिवाज और आचार की—जनता को आगे बढ़ाने के लिये जितनी जरूरत है, उतनी ही उसको अवनति से रोकने के लिये भी है। सुधार की कुछ अपेक्षा न करनी पड़े तो भी वर्त्तमान स्थिति में जिन्दगी को अवनति के कारणों का सामना करने में कम कठिनाई नहीं पड़ती। प्राचीन प्रजाओं के विचारों में सारी राज्यनीति इतने ही में समायी रहती थी। मनुष्य का और उसकी वृत्ति का स्वाभाविक रुख अधोगति की तरफ होता है; तो भी यह रुख, अच्छी धारा नीति पूर्वक काम में लाने से प्रायः बहुत समय तक रोका जा सकता है। यद्यपि इस समय हम इस अभिप्राय को स्वीकार नहीं करते; यद्यपि वर्त्तमान समय में मनुष्य इससे

स्थिति के इतना ही अयोग्य हो जाता है। यह शब्द जो मूल विरोध दरसाता है, वह जिस कदर उसके मुकाबले के मनुष्य-स्वभाव के नमूने में है, उस कदर उन वस्तुओं में नहीं है। हम जानते हैं कि कितने मनुष्यों के मन में सावधानता का गुण होता है और कितनों के मन में साहस का; जहां कितनों के मन में पुराना लाभ सुधारने और नया लाभ प्राप्त करने की उत्तेजना देनेवाली वृत्ति की अपेक्षा अपने पास जो मौजूद हो उसको जोखिम में डालने से दूर रहने की इच्छा प्रबल होती है, वहां कितनों के मन में इस से उलटी रुचि होती है और वे मौजूदा भलाई को सम्हालने की अपेक्षा भविष्य भलाई के लिये अधिक आतुर होते हैं। दोनों के उद्देश्य के लिये मार्ग तो एक ही है, परन्तु उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध दिशा में उतरने की सम्भावना है। यह विचार कोई राजनीतिक संस्था बनाने के लिये आवश्यक है। उसमें दोनों तरह के मनुष्य लेने चाहिये कि जिस से एक की वृत्तियां जहाँ सीमा से बाहर जाती हों, वहां उस पर उचित परिमाण में दूसरे का दबाव पड़े। इस उद्देश्य में बाधा डालने वाला कोई तत्व न घुसाने का ध्यान रखा हो, तो उसको साध्य करने के लिये किसी आम नियम की जरूरत नहीं है। जो लोग बूढ़े और जवान की पदवी और प्रतिष्ठा पा चुके हैं, और जो अभी पाने को हैं, उनका स्वाभाविक और आप से आप हुआ मिलाव, अगर इसके साभाविक समतोलन में कृत्तिम नियम बंधन से विक्षेप न पड़े, तो साधारण तौर पर यह मतलब पूरा करेगा।

सामाजिक-कार्य-प्रसंग के श्रेणी-विभाग के लिये साधारण तौर पर स्वीकार किये हुए भेद में, उस कारण से उचित गुण नहीं है, इस से इस प्रयोजन के अधिक अनुकूल आने योग्य दूसरा कोई सामने पड़ने वाला भेद ढूंढ़ने की जरूरत है।

आगे मैं जिस विवेचन पर आता हूँ, वह इस भेद को सूचित करता हुआ मालूम पड़ेगा।

हम अपने आप से यह प्रश्न करें कि अच्छे राज्यतंत्र के आधार के, उसके सब से गौण से लेकर सब से उच्च तक के सभी अर्थ में, क्या कारण और शर्त्तें हैं, तो हमें मालूम होगा कि जिस के ऊपर राज्यतंत्र का अमल होता है, उस समाज के मनुष्यों का गुण सब से मुख्य और दूसरों से परम उत्कृष्ट है।

पहिले दृष्टान्त के तौर पर हम न्याय की व्यवस्था को लेते हैं और ऐसा करना बहुत उचित है। क्योंकि राज-काज का दूसरा कोई विभाग ऐसा नहीं है, जिस में सिर्फ यंत्र सामग्री हो अर्थात् सूक्ष्म कार्य व्यवहार के लिये बनाये हुए नियम और युक्तियां इतने बड़े अन्तर के लिये आवश्यक जँचती हों। फिर भी, उसकी आवश्यकता उस काम में फंसे हुए मनुष्य के गुण को आवश्यकता से घट कर है। यदि प्रजामन की स्थिति ऐसी हो कि गवाह आमतौर पर झूठ बोलें और न्यायकर्त्ता और उसके मातहत आदमी घूस लें, तो न्याय का उद्देश्य पूरा करने में कार्य-व्यवहार की धारा क्या कर सकेगी? फिर शहर के प्रबन्ध के बारे में ऐसी लापरवाही हो कि जो लोग ईमानदारी और होशियारी से इन्तजाम कर सकते हैं, नौकरी बजाने को न उसकाये जायँ और जो लोग अपना कुछ खास मतलब गांठने के लिये आगे बढ़ते हैं, उनके हाथ में काम सौंपा जाय, तो उनका इन्तजाम अच्छी तरह चलाने में दफाएं क्या मदद कर सकेंगी? अगर पार्लीमेण्ट के लिये सभासद चुनने वाले सब से अच्छा सभासद चुनने की परवा न करें, वरंच जो आदमी अपने चुनाव के लिये सब से ज्यादा पैसा खर्चे उसको पसन्द करें, तो सब से विशाल जन-सम्मत प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली

किस काम की है? जिस प्रतिनिधि सभा के सभासद रिशवत लें या अपनें क्रोधी प्रकृति को साधारण शिक्षा या आत्मसंयम से अंकुश में न रख सकने से शान्त-विचार करने में असमर्थ हों और सभा-स्थल में मार-पीट करें या एक दूसरे पर बंदूक छोड़ें तो वह सभा क्योंकर अच्छा काम कर सकेगी? फिर जो लोग अपने में से एक मनुष्य को किसी विषय में सफलता प्राप्त करते देख कर उसकी सहायता करने के बदले उसे निष्फल करने के लिये गुप्त साजिश करें, वे डाही मनुष्य राज्यतंत्र या कोई भी संयुक्त कार्य्य अच्छी तरह कैसे चला सकेंगे? जब मनुष्यों की साधारण वृत्ति ऐसी हो कि प्रत्येक स्वतंत्र मनुष्य खाली अपने लाभ की परवा करे और सब के साधारण लाभ में उसका जो भाग है, उसका विचार या परवा न करे, तब ऐसी स्थिति में अच्छा राज्यतंत्र असम्भव है। अच्छे राज्यतंत्र के सभी तत्वों को बाधा देनेवाली बुद्धि की कचाई का जो जोर होता है, उसके लिये दृष्टान्त की जरूरत नहीं है। राज्यतंत्र मनुष्यों के किये हुए कृत्य का समुदाय है और अगर कार्यकर्त्ता या कार्यकर्त्ताओं को पसन्द करने वाले अथवा कार्यकर्त्ता जिनके सामने जवाबदेह होते हैं वे अथवा जिन्हें बाजीगरों की तरह इन सब पर प्रभाव डाल कर अंकुश में रखना चाहिये वे केवल अज्ञानता, जड़ता और हानिकारक वहमों के भंडार ही हों, तो राज्यतंत्र की हर एक काररवाई गलत होगी। परन्तु ज्यों ज्यों मनुष्य इस दरजे से ऊँचे चढ़ते जायंगे, त्यों त्यों राज्यतंत्र सुधरता जायगा। यहां तक कि अंत को राज्यतंत्र के अधिकारी स्वयं उत्तम सद्गुण और बुद्धिवाले मनुष्य होकर सद्गुणी और विवेकी सार्वजनिक अभिप्राय के वायु मण्डल में लिपटी रहने वाली साध्य, परन्तु अभी तक कहीं न दिखाई देनेवाली उत्कृष्टता के बिन्दु पर पहुँचेंगे।

अब जब कि अच्छे राज्यतंत्र का प्रथम तत्त्व समाज के मनुष्यों का सद्गुण और बुद्धि है, तब किसी शासन-पद्धति में उत्कृष्टता का जो सब से आवश्यक तत्त्व हो सकता है, वह यह है कि वह अपनी प्रजा के सद्गुण और बुद्धि को चमकावे। किसी तरह का राजकीय नियमतंत्र हो उसके सम्बन्ध में पहिला प्रश्न यह है कि वह समाज के मनुष्यों में भिन्न भिन्न सात्विक और मानसिक इष्टगुणों अथवा (बेन्थम के अधिक पूर्ण श्रेणी विभाग का अनुसरण करें तो) सात्विक, मानसिक और उत्साही इष्टगुणों का पोषण करने में कितना अनुकूल है। जो राज्यतंत्र यह कार्य्य सब से अच्छी रीति पर करता है, उसका और सब विषयों में सब से अच्छा होना सम्भव है। क्योंकि लोगों में ये गुण जिस कदर होते हैं, उसी के आधार पर राज्यतंत्र का व्यवहारी प्रबन्ध अच्छा होना सम्भव है।

इस लिये सारी जनता में और पृथक् पृथक् मनुष्यों में अच्छे गुणोंकी वृद्धि की राज्यतंत्र में कितनी रुचि है, इसको हम अच्छे-पन की एक कसौटी मान सकते हैं। क्योंकि उनका हित ही राज्यतंत्र का एक उद्देश्य है और उनके अच्छे गुण यंत्र-सामग्री को चलाने वाली शक्ति एकट्ठा करते हैं। अब राज्यतंत्र की श्रेष्ठता का दूसरा अंगीभूत तत्व यंत्र सामग्री का अपना गुण होता है: अर्थात् जिन अच्छे गुणों की पूँजी जिस समय मौजूद हो, उस से उस समय लाभ उठाकर उचित कार्यों में लगाने के लिये वह कहां तक अनुकूल है? दृष्टान्त और स्पष्टीकरण के लिये हम न्यायतंत्र का विषय फिर से लेंगे। कोई न्यायप्रणाली नियत हो, तो फिर न्यायव्यवस्था का अच्छापन उसकी न्याय-सभाओं में रहने वाले मनुष्यों की योग्यता और उन पर प्रभाव डालने वाले अथवा उनको अंकुश में रखने वाले सार्वजनिक मत की योग्यता के सम्मिलित परिमाण में होता है। परन्तु

अच्छी और बुरी न्यायप्रणाली में जो भेद है, वह जनता में जो कुछ सात्विक और मानसिक योग्यता मौजूद होती है उसका दबाव न्याय-व्यवहार पर डालकर उसके परिणाम पर उचित असर डालने के लिये स्वीकार की हुई युक्तियों में है। न्यायाध्यक्ष पसन्द करने का ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि सद्गुण और बुद्धि का सबसे बड़ा औसत मिल जाय। प्रबन्ध की हितकारी रीतियां, जो बातें भूल से भरी हों उनको देखने और उन पर खुल्लमखुल्ला टीका, टिप्पणी करने की छूट· समाचार-पत्र द्वारा आलोचना करने और उलहना देने की स्वतंत्रता; इजहार लेने की प्रणाली की सत्यता ढूंढ निकालने में अनुकूलता या प्रतिकूलता; न्याय सभा में जाने के लिये कम या ज्यादा सुबीता, अपराध ढूंढ निकालने के लिये तथा अपराधियों को पकड़ने के लिये किया हुआ प्रबन्ध इत्यादि विषय शक्ति नहीं है, बरंच शक्ति को रुकावट के साथ सम्बन्ध में लाने वाली यंत्र सामग्री है। और यंत्र सामग्री कुछ अपने आप से नहीं चल सकती, तो भी उसके बिना चाहे जैसी विशाल शक्ति हो व्यर्थ जायगी और कुछ भी असर नहीं कर सकेगी। राज्यतंत्र के प्रबन्ध-विभाग के गठन के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भेद है। जब हाकिमों की योग्यता जांचने के लिये उचित परीक्षाएं और उनको ओहदा देने के लिये उचित नियम बनाये हों, जब कर्मचारियों में कार्य्य का सुविधाजनक विभाग किया हो, काम करने के लिये सुविधाजनक और नियमित क्रम बांधा हो और काम कर लेने के बाद ईमानदारी और समझदारी के साथ उसका ख्याल रखा जाता हो, जब प्रत्येक मनुष्य यह जानता हो कि मैं स्वयं किस बात का जिम्मेवार हूं और वह जिस बात का जिम्मेवार है, उसको दूसरे मनुष्य भी जानते हों; जब महकमें के किसी काम में बेपरवाही, पक्षपात

या स्वार्थसाधन रोकने के लिये बहुत अच्छे ढंग पर गढ़ा हुआ अंकुश रखा हो, तब उसकी यंत्र सामग्री अच्छी समझी जाती है। परन्तु जैसे सवार बिना लगाम घोड़े को नहीं चला सकता, वैसे राजनीतिक-अंकुश आप से आप काम नहीं कर सकता। अगर अंकुश रखनेवाले अफसर, जिनके ऊपर अंकुश रखना है उन्हीं के ऐसे घूसखोर या बेपरवा हों अथवा अंकुश रखने वाली सारी सामग्री की मुख्य कमानी जो जनता है, वह ऐसा अज्ञान, सुस्त या बेपरवा हो कि अपना फर्ज अदा न करे, तो व्यवस्था की सब से अच्छी यंत्र सामग्री से थोड़ा ही लाभ होगा। फिर भी, अच्छी सामग्री बुरी सामग्री की अपेक्षा सदा पसन्द करने योग्य है। जो थोड़ी सी चालनशक्ति या अंकुश-शक्ति विद्यमान होती है, उसको यह सब से अधिक लाभदायक रीति से अमल करने को समर्थ करती है। और इसके बिना तो चाहे जितनी चालन-शक्ति हो चल ही नहीं सकती। दृष्टान्त के तौर पर कह सकते हैं कि जनता अगर कारखाई पर नज़र न रखे तो उसके (कारखाई के) प्रकाशन से जैसे अहित की कुछ रुकावट नहीं होगी, वैसे ही हित को भी उत्तेजन नहीं मिलेगा। अगर उसको देखने की आशा ही न मिली हो, तो वह प्रकाशन बिना किस तरह रोकी या उसकाई जा सकती है? सार्वजनिक अधिकार के जिस गठन में अमलों का स्वार्थ और कर्त्तव्य दोनों पूर्णरीति से मिला होता है वह तत्वतः सम्पूर्ण है। कोई पद्धति अकेली उसको सम्पूर्ण नहीं कर सकती। परन्तु इस उद्देश्यवश योग्यरीति से गढ़ी हुई पद्धति ही न हो, तो इससे भी कम सम्पूर्ण हो सकेगा।

राज्यतंत्र की सूक्ष्म व्यवस्था के लिये किये हुए प्रबंध के बारे में हम ने जो कहा है, वह इसके स्थूल गठन के विषय में तो इस से भी अधिक स्पष्ट और ठीक है। जो राज्य-

व्यवस्था हितकारी होने का उद्देश्य रखती है, यह जनता का साधारण कार्य्य-व्यवहार चलाने के लिये उसके अलग अलग मनुष्यों में मौजूद अच्छे गुणों के खास भाग का संगठन होती है। प्रतिनिधि राज्यतंत्र, विद्यमान साधारण दरजे की बुद्धि और ईमानदारी का और उन में से सब से विवेकी पुरुषों के पृथक् पृथक् बुद्धिबल और सद्गुण का दबाव और किसी संगठन-पद्धति में ला सकने की अपेक्षा सीधे तौर पर लाकर उसको राज्यतंत्र में अधिक बलवान् करने का एक साधन है। तो भी इतना सत्य है कि चाहे जैसा राज्यतंत्र हो, उसमें जो कुछ सुख होता है और जो कुछ कष्ट नहीं होता, उसको रोकनेवाली तो जनता के अधिकार में जो वास्तविक सत्ता होती है, वही है। किसी राज्यतंत्र की धारा इन अच्छे गुणों को जितनाही अधिक संगठन करने में सफलता पाती है, और संगठन की पद्धति जितनी अच्छी होती है, वह राज्यतंत्र उतनाही अच्छा होता है।

इस से हम को अब किसी राजनीतिक नियमतंत्र में जो योग्यता आ सकती है, उसके दो भाग करने का अवसर मिलता है। उसका एक भाग यह है कि जनता की साधारण मानसिक उन्नति को वह किस कदर उत्तेजन देता है और इसमें बुद्धि, सद्गुण और कार्य्य-उत्साह तथा कार्य-सामर्थ्य सम्बन्धी उन्नति का समावेश होता है। दूसरा भाग यह है कि जनता में सम्प्रति विद्यमान सात्विक, मानसिक और उत्साह पूर्ण योग्यता के सार्वजनिक कार्य-व्यवहार पर सब से बड़ा असर होने के लिये वह उसका किस परिमाण में संगठन करता है। राज्यतंत्र मनुष्य पर कैसा असर करता है और स्थिति पर कैसा असर डालता है, वह नागरिकों को कैसा बनाता है और उनके साथ कैसा बर्ताव करता है, उस

का रूप लोगों की उन्नति की तरफ है या अवनति की तरफ, यह लोगों के लिये जो काम करता है और कराता है, वह अच्छा है कि बुरा—ये उसकी (राज्यतंत्र) पहिचान की कसौटियां हैं। राज्यतंत्र जैसे मनुष्य के मन पर सत्ता चलानेवाला महान बल है, वैसेही सार्वजनिक कार्य्य करने के लिये सुगठित व्यवस्था तंत्र है। पहिले विषय में उसकी हितकारी सत्ता मुख्य कर के परोक्ष रहती है, तो भी वह कुछ कम आवश्यक नहीं है। परन्तु उसकी दुष्ट सत्ता तो प्रत्यक्ष भी हो सकती है।

राज्यतंत्र के इन दो कर्त्तव्यों के बीच का भेद नियम और उन्नति के बीच के भेद जैसा परिमाण भेद नहीं है, वरंच प्रकार भेद है। इतने पर भी हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि उनका एक दूसरे से कुछ भी निकट सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा की वर्त्तमान स्थिति में राजकाज की यथासाध्य सब से अच्छी व्यवस्था चलाने का भरोसा जो नियम दिलाता है, वह उसी के द्वारा राज्य के अधिक सुधार के अनुकूल हो जाता है। जिस प्रजा के लिये ऐसा बढ़िया न्यायसंगत कानून होगा, जो उसकी स्वयं प्राप्त की हुई सात्विक और मानसिक उन्नति की स्थिति के अनुकूल हो, वही सब से शुद्ध और कुशल न्यायतंत्र होगा, सब से सुधरी हुई राज्यव्यवस्था होगी, सब से समान और कम बोझ स्वरूप कर प्रणाली होगी— उसका शीघ्रता से अधिक ऊंची स्थिति में आना अधिक सम्भव है। और राजकीय तंत्र जैसे अपना अधिक सीधा काम अच्छी तरह करके लोगों को सुधारने में मददगार होता है, उसकी अपेक्षा और किसी तरह वास्तविक सहायता नहीं कर सकता। इस के विरुद्ध यदि उस की यंत्र सामग्री ऐसी खराब रीति से सजायी गयी होगी कि उस का खास अपना काम खराब हो, तो लोगों की नीति बिगाड़ने में और

बुद्धि तथा उत्साह मंद करने में उस का जो असर होगा, वह हजारों रास्ते देखने में आवेगा। इतना होने पर भी यह भेद वास्तविक है। क्योंकि मनुष्य का मन सुधारने या बनाने के राजकीय तंत्र के साधनों में यह एक ही साधन है और इस हितकारक या हानिकारक प्रभाव का कारण और रीति एक भिन्न और विशाल अभ्यास का विषय है।

सार्वजनिक शिक्षा के साधनरूप में उस की क्रिया और जनता की शिक्षा की वर्त्तमान स्थिति में उस का संयुक्त कार्य व्यवहार चलाने के लिये किया हुआ प्रवन्ध—जो इन दो क्रियाओं के रास्ते राज्य-पद्धति अथवा रायकीय नियमतंत्र जनता के हित पर असर करता है, उस के दूसरे मार्ग में देश और सुधार की स्थिति के भेद के कारण पहिले की अपेक्षा कम भेद पड़ता है, यह स्पष्ट है। फिर इसका राज्यतंत्र के मूल गठन से भी बहुत कम सम्बन्ध है। राज्य का व्यवहारी काम चलाने की जो पद्धति स्वतंत्र राज्यतंत्र में सब से अच्छी होती है, वही निरंकुश राजसत्ता में भी बहुत करके सब से अच्छी निकलेगी। भेद इतना ही है कि निरंकुश राजसत्ता के इस से काम लेने की उतनी सम्भावना नहीं है। दृष्टान्त के तौर पर कह सकते हैं कि भिन्न भिन्न राज्यपद्धतियों में मिलकीयत का कानून, सवूत और न्याय-व्यवहार के मूल तत्व, कर और आय की व्यवस्था की पद्धति, अवश्य कर के भिन्न भिन्न होने की जरूरत नहीं है। इन में से प्रत्येक विषय का अपना खास मूल तत्त्व और नियम होता है और यह एक निराले अभ्यास का विषय है। सामान्य व्यवहार शास्त्र, दीवानी और फौजदारी कानून, आय और व्यापार की नीति, ये स्वयं शास्त्र हैं अथवा राज्यनीति में विशाल शास्त्र या कला की शाखा हैं;

और यद्यपि इन सब विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सब से शुद्ध सिद्धान्त समझने या अमल में लाने की एक समान सम्भावना नहीं है, तथापि अगर समझ कर अमल में लाये जायं, तो वे सभी पद्धतियों में एक समान लाभकारी निकलें। यह सच है कि ये सिद्धान्त जनता या मनुष्य-मन की सारी अवस्था में बिना किसी भेद के लागू नहीं पड़ सकते। इन में से अधिकांश समझ सकने योग्य राज्यकर्त्ता जब तक मिलें, तब तक आगे बढ़ी हुई जनता की किसी भी अवस्था के अनुकूल करने के लिये तो सिर्फ सूक्ष्म व्यवहारी विषयों में ही फेर बदल करने की जरूरत पड़ेगी। जिस राज्यतंत्र को यह बिलकुल अनुकूल नहीं आता, वह स्वयं ऐसा खराब या लोक-विचार से इतना विरुद्ध होगा कि वह प्रामाणिक साधनों द्वारा अपने को अस्तित्व में नहीं रख सकता।

जनता के हित का जो विभाग लोगों की अच्छी, बुरी शिक्षा से सम्बन्ध रखता है, उस की बात जुदी है। अगर उस के साधक के तौर पर नियमतंत्र का विचार करें, तो वह हाल में मिली हुई उन्नति की अवस्थानुसार तत्वतः भिन्न होगा। यद्यपि यह सिद्धान्त जो स्वीकार किया गया है, वह तत्त्व विचार से नहीं, वरंच व्यवहार दृष्टि से, तो भी पिछले जमाने के राजनीतिक मत से इस जमाने के राजनीतिक मत की श्रेष्ठता का यह मुख्य लक्षण गिना जा सकता है। क्योंकि पिछले जमाने में इंगलैण्ड और फ्रांस के लिये जन सत्ताक प्रतिनिधि राज्य मांगने में जो दलीलें पेश करने की चाल निकलती थी, उन्हीं दलीलों द्वारा एक समान रीति से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि बेडुइन * और मलय लोगों के लिये

* अरबिस्तान, इजिप्ट और अफरीका में फैली हुई एक भटकती अरब की जाति। मलाका और उस के दक्षिण के हिन्दुस्थानी टापुओं के निवासी।

भी यही एक योग्य राज्य-पद्धति है। शिक्षा और सुधार के विषय में भिन्न भिन्न जनता की स्थिति नीचे उतरते उतरते अन्त को सब से श्रेष्ठ पशु की स्थिति से बहुत बढ़ कर नहीं रहती। चढ़ती श्रेणी भी बहुत ऊंचे तक पहुंचती है और भविष्य उन्नति की सम्भावना इस से भी बहुत बड़ी है। कोई जनता अगर इन में से किसी स्थिति से अधिक ऊंची स्थिति में चढ़ सकती है, तो जुदे जुदे बलों का संयोग होने से ही। और उनमें मुख्य उसके ऊपर चलने वाला राज्यतंत्र है। आज तक किसी समय में प्राप्त की हुई मनुष्य उन्नति की सारी स्थिति के विषय में अगर हम धार्मिक-श्रद्धा की सत्ता को बाँट दें, तो मनुष्यों को उसकी वर्त्तमान स्थिति में लाने वाली और वे जिस स्थिति में आ सकते हैं, उस स्थिति में आने को समर्थ करने वाली सब से प्रबल सत्ता, उनके ऊपर चलने वाली हुकूमत के प्रकार और परिमाण अधिकार-विभाग और आज्ञा और अधीनता की दशाएं हैं। जब उनकी उन्नति की खास स्थिति के लिये राज्य तंत्र की अपूर्ण अनुकूलता होती है, तब वह उनको अपनी उन्नति में एक दम रोक सकती है। राज्यतंत्र के जिस एक आवश्यक गुण की खातिर उन्नति में आड़े आने वाले उसके प्रायः दूसरे सब दूषणों को क्षमा कर सकते हैं, वह यह है कि उनको अधिक ऊंची स्थिति में आने के लिये जो दूसरा कार्य्य करने की जरूरत है उसके लिये लोगों पर चलने वाली हुकूमत अनुकूल होनी चाहिए—अन्ततः प्रतिकूल न होनी चाहिये।

इस हिसाब से (पहिला दृष्टान्त फिर से लें तो) जंगली स्वतंत्रता की अवस्था में रहने वाली प्रजा, जिसमें प्रत्येक जन अधीनता की तरङ्ग में हो, सिवाय किसी बाहरी अंकुश में रहने के, स्वच्छन्दी जीवन बिताती है, वह जब तक हुकम में

रहना नहीं सीखती, तब तक सभ्यता में कुछ भी उन्नति करने को वास्तव में असमर्थ है। इस से इस जाति के लोगों पर जो राज्यतंत्र स्थापित हो, उसमें जो गुण अवश्य करके होना चाहिये, वह यह है कि उससे अपना हुक्म मनवावे। ऐसा करने में समर्थ होने के लिये राज्यतंत्र का गठन प्रायः अथवा सम्पूर्ण रूप से निरंकुश होना चाहिये। समाज के भिन्न भिन्न मनुष्यों को अपनी अपनी कार्य-स्वतंत्रता खुशी से दूसरों को सौंप देने के आधार पर रहने वाला किसी अंश में जन सम्मत राज्यतंत्र, उन्नति की इस अवस्था के शिष्यों को जो पहिला पाठ सिखाने की जरूरत है, वह सिखाने में असमर्थ होगा। इस से अगर इस प्रकार का सुधार उस से पहिले की सभ्य बनी हुई किसी दूसरी जाति के संसर्ग का फल न हो, तो यह प्रायः सदा धर्म या रण पराक्रम द्वारा प्राप्त सत्ता रखने वाले और बहुत करके विदेशी अस्त्र द्वारा प्राप्त सत्ता रखने वाले किसी निरंकुश राजा का कृत्य होता है।

फिर असभ्य जातियों को और विशेष कर सब से पराक्रमी और उत्साही जातियों को शान्ति के साथ लगातार परिश्रम करना पसन्द नहीं है। तथापि सारी असली सभ्यता का यही दाम लगता है। बिना ऐसे परिश्रम के जैसे सभ्य-समाज के लिये आवश्यक वृत्तियों में मन नहीं लग सकता, वैसे जड़-जगत उसे ग्रहण करने को तय्यार नहीं किया जा सकता। ऐसे लोगों में अगर उद्योग, धंधे की टेव बरजोरी न डाली गयी हो, तो ऐसा होने के लिये दुर्लभ योगों का ध्यान आने की और इस कारण से बहुधा बहुत अधिक समय बिताने की ज़रूरत पड़ती है। इस से व्यक्तिगत गुलामी जो उद्योगी जीवन का आरम्भ करती है और जनता के सब से बड़े भाग को इसी एक वृत्ति में लगे रहने को

लाचार करती है, वह भी इस कारण से लड़ाई और लूट मार की अवस्था की अपेक्षा अच्छी स्वतंत्रता की स्थिति को शीघ्रता से पहुंचा सकती है। यह कहने की शायद कोई जरूरत नहीं है कि गुलामी के लिये यह बहाना बहुत आरम्भ से ही सामाजिक अवस्था में ग्रहण करने योग्य है। सभ्य जनता के हाथ में अपने अधिकारस्थ मनुष्यों को सुधारने के लिये दूसरे बहुत से साधन होते हैं। और गुलामी उस कानून की सरकार के लिये, जो समग्र आधुनिक जीवन-व्यवहार की नींव है, सब तरह से विपरीत है और मालिकों को—जो एक बार सभ्यता के प्रभाव में आ गये हैं—ऐसी बिगाडने वाली है कि आधुनिक संसार में किसी अवस्था में उसको स्वीकार करना जंगली अवस्था से भी बदतर हालत में गिरने के बराबर है।

तो भी आज कल की सभ्य बनी हुई प्रायः प्रत्येक जनता अपने इतिहास के किसी समय में अधिकांश में गुलामों से बनी थी। इस अवस्था के मनुष्यों को उससे ऊंचे चढ़ाने के लिये जंगली जाति की अपेक्षा बहुत भिन्न प्रकार की राज्य-नीति की आवश्यकता है। अगर वे स्वभाव के चंचल हों और जनता में ऐसे उद्योगीश्रेणी से उनका संसर्ग हो, जो गुलाम भी न हों और गुलामों के मालिक भी न हों (जैसा कि ग्रीस में हुआ था) तो शायद उनके आवश्यक सुधार के लिये उनको गुलामी से छुड़ा देने के सिवाय और कुछ करने की आवश्यकता न पड़े। जहाँ उन्हों ने छुटकारा पाया कि वह रोम के छुटकारा पाये हुए मनुष्यों की तरह प्रायः नागरिक का सम्पूर्ण हक भोगने के लायक हो सकेंगे। जो हो, यह गुलामी की साधारण स्थिति नहीं है और उसका प्रचार बन्द होते जाने का यह एक चिन्ह है। जिसको दर-असल गुलाम कहते हैं, वह अपनी मदद आप न करने वाला

एक प्राणी है। यह जंगली से तो अवश्य ही कुछ आगे बढ़ा हुआ है। उसको राजनीतिक समाज का पहिला पाठ सीखना अभी तक बाकी नहीं है। उस ने आज्ञा मानना सीखा है। परन्तु वह जिस आज्ञा को मानता है, वह सिर्फ प्रत्यक्ष आज्ञा है। जन्म के गुलामों की ऐसी खासियत होती है कि वे अपनी रहन, चाल, नियम या कानून के अनुसार रखने में असमर्थ होते हैं। उनको जो हुक्म दिया जाता है, वही वे करते हैं और वह तभी जब उन को हुक्म दिया हो। जिस मनुष्य से वे डरते हैं, वह जब उन के सिर पर सवार रहता है और उन्हें सजा की धमकी देता है तब वे कहना मानते हैं। जहाँ उसने पीठ फेरी कि बस काम जहां का तहां पड़ा रह जाता है। उन के मन को निश्चय कराने वाला उद्देश्य उन के स्वार्थ को उत्तेजन देनेवाला नहीं, वरंच उन की प्राकृतिक अन्तर्वृत्ति को उत्तेजन देने वाला—तात्कालिक आशा या तात्कालिक भय—होना चाहिये। जो निरंकुश राज्यतंत्र जंगली को सुशील बना सकता है, वह केवल अपनी निरंकुशता के कारण गुलामों की अयोग्यता को और दृढ़ हो करेगा। परन्तु अपने अधिकारस्थ राज्यतंत्र का चलाना उनके लिये बिलकुल असम्भव है, वे अपना सुधार अपने हाथ से नहीं कर सकते, इसके लिये बाहर से प्रेरणा होनी चाहिये। उनको जिधर कदम बढ़ाना है और उनके सुधार के लिये जो एक मात्र मार्ग है, वह यह है कि वे अपने आप की अमलदारी से निकाल कर कानून की अमलदारी में लाये जायँ। उनको स्वराज्य सिखाना है। और आरम्भ की अवस्था में स्वराज्य का अर्थ है साधारण सलाहों को मान कर काम करने की शक्ति। उनको बल-राज्य नहीं चाहिये, वरंच प्रेरणा-राज्य चाहिये। इतना होने पर भी उनकी अवस्था ऐसी अधम है

कि वे जिस को अधिकार वाला मानते होंगे, उसके सिवाय दूसरे किसी की सलाह नहीं मानेंगे। अतएव उनके लिये सब से अनुकूल राज्यतंत्र यह है, जिसके हाथ बल हो, परन्तु वह उस बल से बहुत कम काम ले अर्थात् जो जनता के सभी कामों पर स्वयं निगाह रक्खे कि जिस से हरएक आदमी के दिल में यह ख्याल ताजा बना रहे कि उस राज्य तंत्र में—सरकार में—अपना बनाया हुआ कानून हर एक आदमी से मनवाने के लिये पूरा बल मौजूद है: परन्तु जो उद्यम और व्यवहार केवल सूक्ष्म विषयों की व्यवस्था में पड़ना असम्भव होने से बहुत सा काम पृथक् पृथक् मनुष्यों को स्वयं करने के लिये उत्तेजित करे, ऐसा सेन्ट सैमन (१) के सार्वजन कौटुम्ब्य (२) से मिलता जुलता निरंकुश पैतृक (३) राज्यतंत्र या शिष्ट (४) राज्यतंत्र ही है। यह, जिसको हम वालटेकन डोरी (५) कहते हैं; ऐसी

(१) काट ही सेंट सैमन का, जो सन् १८२५ ईस्वी में मरा, यह मत था कि समाज में सारी मिलकीयत पर सब का साधारण मालिकाव मान कर, परिश्रम के फल का उचित विभाग करने का नियम रखने से विद्यमान सामाजिक संकट का सचमुच अंत हो जायगा।

(२) सेंट सैमन के मतानुसार समूची जनता की बनी हुई एक कुटुम्ब रूपी अवस्था।

(३) मां, बाप का लड़के पर जैसा स्नेह होता है, वैसे स्नेह सहित निरंकुश-सत्ता का राज्य।

(४) शिष्ट ऊंची पदवीं और प्रतिष्ठा वाले पुरुषों का राज्य।

(५) हम लोग जैसे बालक को उँगली पकड़ा कर चलना सिखाते हैं, वैसे युरोप में डोरी के सहारे चलना सिखाने का रिवाज है।

प्रजा को सामाजिक उन्नति की दूसरी आवश्यक पैड़ी पर खूब तेज़ी से चढ़ाने के लिये जरूरी जान पड़ती है। शायद पेरू के इंकाओं (६) के राज्यतंत्र का ऐसा ही उद्देश्य रहा हो और पेरेग्वेक जेस्विटों का (७) ऐसा ही उद्देश्य था। मैं यह कहने की जरूरत नहीं समझता कि वालटेकन डोरी सिर्फ़ लोगों को धीरे धीरे आप से आप चलना सिखाने के साधन के तौर पर स्वीकार करने योग्य है।

इस दृष्टान्त को आगे बढ़ाना अप्रासंगिक होगा। समाज की प्रत्येक प्रसिद्ध अवस्था के लिये किस किस्म का राज्यतंत्र अनुकूल है, इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल करना प्रतिनिधि-शासन के नहीं, वरंच विशाल राज्यनीति शास्त्र के अंतर्गत है। किसी खास जनता के लिये सब से अनुकूल शासन-पद्धति का निर्णय करने में जरूरत यह है कि उस जनता के अंर्गभूत दूषणों और त्रुटियों में से कौन कौन आरम्भ में ही बाधा डालती हैं, उनको पहिचान लेने को अर्थात् जो (मार्ग) रास्ता ही बंद कर देती हैं, उनको ढूँढ निकालने को हमें समर्थ होना चाहिये। जिस वस्तु के बिना जनता आगे बढ़ ही नहीं सकती अथवा आगे बढ़ती भी है, तो लंगड़ाती और लुड़कती हुई उस वस्तु की कमी पूरी करने की ओर जिसका सब से अधिक ध्यान हो, वह राज्यतंत्र उसके लिये सब से अच्छा है। इतना होने पर भी हमें यह न भूलना चाहिये कि जिन जिन वस्तुओं का उद्देश्य सुधार या उन्नति है, उन सब के सम्बन्ध में एक शर्त्त जरूर है। वह

(६) युरोपियनों के दखल करने से पहिले का, अमेरिका के पेरू देश का देशी राजा।

(७) रोमन कैथलिक मत के प्रत्येक नीतिकुशल साधु का दल।

शर्त्त यह है कि जिस भलाई की कमी है उसको प्राप्त करने में, जो भलाई पहिले से प्राप्त हो चुकी है उसको कुछ हानि न पहुंचे या जहां तक बने कम हानि पहुंचे। जंगली लोगों को आज्ञा मानना सिखाने की जरूरत है, परन्तु इस रीति से नहीं कि वे गुलामों की जाति बन जायँ। और (इसको और विशाल रूप में लें तो) कोई शासन-पद्धति किसी जनता को उन्नति की दूसरी पैड़ी पर चढ़ाने में समर्थ हो तथापि वह इस काम को इस रीति से करे कि उसके आगे की पैड़ी पर चढ़ने का मार्ग बन्द कर दे अथवा उसके लिये बिलकुल निकम्मा बना दे, तो वह राज्यतंत्र बहुत अयोग्य होगा। ऐसी घटनाएं बार बार होती हैं और इतिहास में इनकी गिनती सब से शोकजनक प्रसंगों में होती है। इजिप्ट का धर्मगुरु राज्य और चीन का निरंकुश पैतृक राज्य वहां की प्रजाओं को अपने प्राप्त किये हुए सुधार के बिन्दु तक चढ़ाने के लिये बहुत योग्य साधन थे, परन्तु वहां पहुंच कर उन्हों ने मानसिक स्वतंत्रता और अहंभाव के अभाव से स्थायी पड़ाव बना लिया। क्योंकि ये दो गुण जिस सुधार के आवश्यक साधन हैं, उसे प्राप्त करने के लिये जिन नियमों ने उन्हें इतने ऊंचे चढ़ाया था उन्हीं ने असमर्थ कर दिया था और उन नियमों ने लय होकर दूसरों के लिये रास्ता नहीं दिया, इस से आगे सुधार होना रुक गया। इन जातियों के विरुद्ध पूर्व ओर की एक दूसरी और तुलना में छोटी जाति का—यहूदी जाति का—उलटे ढङ्ग का दृष्टान्त लिया जाय। उसके ऊपर भी निरंकुश स्वेच्छाचारी राज्य था और वह भी धर्मगुरु राज्य था, उसका नियम विधान भी हिन्दुओं की तरह स्पष्ट रूप से धर्मगुरु ने किया था। पूर्व की दूसरी जातियों के नियमतंत्रों का उन जातियों पर जैसा असर हुआ, वैसा ही इन लोगों के

नियमतंत्रों का इनके ऊपर हुआ—इनको उद्योगी और आज्ञाधीन बनाया और सामाजिक व्यवहार में लगाया, परन्तु उन दूसरे देशों की तरह इनके राजा या धर्मगुरु इनकी प्रकृति के गठन पर कभी पूरा अधिकार नहीं जमा सके। इनके धर्म ने बुद्धि-विचक्षण और ऊँची धार्मिक वृत्ति वाले पुरुषों को लोगों द्वारा ईश्वरप्रेरित मनवाने और स्वयं अपने को ऐसा समझने की भी स्वतंत्रता देकर एक अकलित मूल्य के अव्यवस्थित तंत्र को (एक तरह से कहिये तो) पैगम्बर श्रेणी को पैदा कर दिया था। पैगम्बर हमेशा नहीं तो साधारण तौर पर पवित्र चरित्र होने से जाति में एक सत्ता रखते थे और बहुधा राजाओं और धर्म-गुरुओं से भी बढ़ कर सत्ता रखते थे। और वे उत्तरोत्तर के एक मात्र असली साधन को, जो भिन्न भिन्न सत्ताओं में परस्पर स्पर्द्धा स्वरूप ही है, उसको पृथ्वी के उस नन्हें से कोने में जीवित रखते थे। इस से धर्म ने दूसरे सब स्थानों में जो स्वरूप धारण किया था वैसा यहां नहीं हुआ—अर्थात् जो जो वस्तुएं एक बार प्रतिष्ठा पा गयीं, वे सब पवित्र हो गयीं, और अधिक सुधार के मार्ग में बाधक नहीं हुईं। म० सेलवेडर नाम के प्रख्यात यहूदी ने जो यह कहा है कि पैगम्बर लोग धर्म और राज्य के सम्बन्ध में आधुनिक समय के सामयिक पत्रों की स्वाधीनता का मतलब पूरा करते थे; यह यहूदी जीवन को इस महान् तत्त्व में सामाजिक और सार्वभौम इतिहास में लिये हुए अंश का वास्तविक परन्तु अपूर्ण स्वरूप दरसाता है। क्योंकि प्रेरणा-शास्त्र कभी सम्पूर्ण न हो सकने से, सब से बुद्धि विचक्षण और सद्वृत्ति वाले पुरुषों को जो कुछ फटकार और धिक्कार योग्य जंचता था, उसको वे इस उपाय से प्रायः ईश्वर के फरमान से खुल्लमखुल्ला फटकार और धिक्कार बता कर निकाल

सकते थे, इतना ही नहीं; वरंच सामाजिक धर्म्म का बहुत अच्छा और ऊंचे दरजे का भावार्थ प्रकट कर सकते थे और वह भावार्थ उस समय से धर्मशास्त्र में दाखिल हो जाता था। ईसाई और उस धर्म्म पर विश्वास न करने वाले—दोनों के मन में बाइबिल को बतौर एक पुस्तक के पढ़ने की आदत, जो हाल तक जोरों पर थी, उस से जो कोई अपने को अलहदा कर सकता है वह पेन्टाटयूक * की नीति और धर्म्म अथवा ऐतिहासिक पुस्तकों (जो अवश्य ही धर्मगुरु विहीन यहूदी-संरक्षकों की कृति हैं) की नीति और धर्म्म भविष्य-वाणियों की नीति और धर्म्म के बीच का विशाल अंतर, जो भविष्य-वाणियों और गासपेलस × के अंतर ऐसा बड़ा है उसे, देख कर सानन्द आश्चर्य मानता है। उन्नति के लिये इस से बढ़ कर अनुकूल अवसर सहज में नहीं मिल सकता। इस से यहूदी दूसरे एशिया वासियों की तरह अपनी स्थिति में स्थावर होने के बदले पुरानी दुनिया को ग्रीकजाति के नीचे तब से आगे बढ़ने वाले थे और ग्रीकजाति सहित अर्वाचीन सुधार के आरम्भ विन्दु और आगे बढ़नेवाली मुख्य शक्ति हो गये।

इस से जनता को आगे जिन पैड़ियों पर चढ़ना है, उनमें से केवल अगली पैड़ी नहीं, वरंच सब पैड़ियों का, अर्थात् जिन को आगे प्रत्यक्ष देख सकते हैं, और जो इन से भी बहुत विशाल अनिश्चित श्रेणी हमारे परोक्ष में है, उन दोनों का बिना हिसाब किये विविध सामाजिक अवस्था के लिये

* बाइबिल की प्राचीन स्थापना का विभाग।

+ बाइबिल की नवीन स्थापना में ईशू खृष्ट के जीवन और उपदेश का वृत्तान्त।

विविध शासन-पद्धति की अनुकूलता का प्रश्न समझना असम्भव है। इसका परिणाम यह है कि शासन-पद्धति की योग्यता का निर्णय करने के लिये एक स्वयं सब के पसन्द करने योग्य परम उत्कृष्ट शासन-पद्धति का नमूना तय्यार करें अर्थात् यह ऐसी हो कि अगर उसकी भलाई करने की रुचि से काम लेने के लिये जरूरी मौका मौजूद हो, तो यह दूसरों की अपेक्षा कोई एक सुधार नहीं, वरंच सब प्रकार के और सब सूरतों के सुधार बहुत सुगमता से करे। यह निश्चय होने के बाद हमें यह विचार करना है कि इस शासन-पद्धति के अपनी रुचि फलीभूत करने का समर्थ होने के लिये कौन कौन सी मानसिक दशाएं आवश्यक हैं अर्थात् कौन कौन सी त्रुटियां उनसे मिलने योग्य लाभ पाने में असमर्थ बनाती हैं। इस से इस विषय का एक सिद्धान्त निकाला जा सकेगा कि यह शासन-पद्धति किन किन प्रसङ्गों में जारी करना बुद्धिमानी है। और इसका भी निर्णय किया जा सकेगा कि किन किन प्रसङ्गों में जारी करने में लाभ है और उन जनताओं को सब से अच्छी शासन पद्धति के योग्य होने से पहिले बीच की जिन जिन अवस्थाओं से गुजरना है उन में से उन को कौन कौन सी अपेक्षाकृत घटिया पद्धति सब से अच्छी तरह पार कर सकेंगी।

इनमें से पिछले प्रश्न से हमारा यहां सम्बन्ध नहीं है, परन्तु पहिला हमारे विषय का एक अंग है। क्योंकि अगर हम एक ऐसा सिद्धान्त पेश करेंगे कि वास्तव में इस परम उत्कृष्ट शासन-पद्धति का नमूना एक या दूसरी तरह के प्रतिनिधि पद्धति में दिखाई देगा, तो हम उद्धत नहीं समझे जायँगे। इसकी दलील और नजीर आगे के पन्नों में दिखाई देगी।

तीसरा अध्याय।

वास्तव में सब से श्रेष्ठ शासन-पद्धति प्रतिनिधि-शासन है।

एक मुद्दत से (शायद ब्रिटिश स्वतंत्रता की सारी अवधि में) एक आम कहावत चली आती है कि अगर कोई अच्छा निरंकुश-स्वेच्छाचारी, राजा मिले तो निरंकुश राज्य सब से श्रेष्ठ शासन-पद्धति हो जाय। मैं इस विचार को, अच्छा राज्यतंत्र क्या है, इस विषय में मूलतत्त्व सम्बन्धी और बहुत ही हानिकारक भ्रम समझता हूँ। और जब तक यह मन में से निर्मूल नहीं होगा, तब तक राज्यतंत्र सम्बन्धी सारे तर्क की मिट्टी पलीद किया करेगा।

इसमें यह ख्याल समाया हुआ है कि किसी उत्कृष्ट पुरुष के हाथ में पड़ी हुई निरंकुश सत्ता राज्यतंत्र के सारे कर्त्तव्यों का सद्गुण और कुशलता से अवश्य पालन करेगी। अच्छे कानून बनेंगे और अमल में आवेंगे। बुरे कानून सुधरेंगे, जिम्मेवारी की सब जगहों पर सब से अच्छे मनुष्य नियुक्त किये जायंगे, देश-दशा के अनुसार और उसकी मानसिक और सात्त्विक शिक्षा के परिमाण से जहां तक बनेगा न्याय व्यवस्था अच्छी होगी, राज्य का बोझ हलका होगा और वह उचित रीति से डाला जायगा और राज्यतंत्र की प्रत्येक शाखा का प्रबन्ध पवित्रता और चतुरता से किया जायगा। बहस के लिये मैं यह सब कबूल करने को तय्यार हूँ, परन्तु मैं यह बताऊँगा कि यह कबूलियत कितनी भारी है। इन परिणामों की आशा के लिये भी "अच्छा निरंकुश

राजा" यह सादा वाक्य जितना भाव सूचित करता है, उस से उसमें कितने अधिक भाव का समावेश होना चाहिये? परिणामों की सिद्धि के लिये तो बेशक अच्छा ही नहीं वरंच सर्वदर्शी निरंकुश राजा का भाव होना चाहिये। उसको हर वक्त देश के प्रत्येक प्रान्त के प्रबन्ध की प्रत्येक शाखा के बर्ताव और कारवाई के बारे में खूब विस्तार के साथ सच्ची खबर मिलनी चाहिये और हर रोज गरीब मजदूर से लेकर राजा तक को जो चौबीस घंटे ही मिलते हैं, उतने ही समय में इस सारे प्रबन्ध का सभी शाखाओं पर उचित अंश में प्रभावशाली लक्ष्य और निगरानी करने को शक्तिमान होना चाहिये अथवा निगरानी और अंकुश में रह कर राज्यतंत्र की हरएक शाखा का प्रबन्ध करने योग्य ईमानदार तथा होशियार मनुष्यों का बड़ा दल ही नहीं, वरंच ऐसी निगरानी बिना स्वयं काम चला सकें तथा ऐसी निगरानी दूसरों के ऊपर कर सकें—ऐसा भरोसा रखने योग्य उत्तम सद्गुण और बुद्धि वाले मनुष्यों का छोटा दल भी अपनी प्रजा के बड़े समूह में से परख कर ढूंढ़ निकालने को समर्थ तो होना ही चाहिये। यह भारी काम कुछ भी उचित रीति से चलाने योग्य आवश्यक बुद्धि-बल और कार्यसामर्थ्य ऐसा असाधारण है कि यह अगर असह्य संकटों से छूटने के उपाय के तौर पर और भविष्य में होने वाले किसी लाभ की आंतरिक तय्यारी के तौर पर न हो, तो हम जैसा समझते हैं वैसा अच्छा निरंकुश राजा यह काम सिर पर लेने को तय्यार होगा, इस की कल्पना शायद ही हो सकती है। परन्तु इस बे-अन्दाज काम की गिनती न करें, तो भी यह दलील ज़ोरदार असर रखती है। मान लो कि कठिनाई दूर हो गयी। इससे हमें क्या लाभ होगा? एक बिलकुल मानसिक सत्व से

रहित जनता का सारा कार्य्य-व्यवहार चलाने वाली अलौकिक मानसिक-शक्ति के एक मनुष्य की निःसत्त्वता निरंकुश सत्ता के भाव में ही घुसी हुई है। सारी जनता को और उस में विद्यमान प्रत्येक पृथक् पृथक् मनुष्य को अपने भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भी मत प्रकट करने की सम्भावना नहीं रहती। वे अपने साधारण लाभ के विषय में अपनी कुछ भी मरजी काम में नहीं ला सकते। उनके लिये सब विषयों का निर्णय उनको छोड़ कर दूसरे किसी की मरजी करती है और वे लोग उस को न मानें तो कानून से कसूरवार ठहरें। ऐसी अमलदारी में किस किस्म के मनुष्य जीव बन सकते हैं? उस में उनकी विचार-शक्ति या कार्य-शक्ति क्या विकाश पा सकती है? शायद कोरे तर्क के विषय में, जब तक उनका विवेचन राज्यनीति में न दख़ल दे अथवा उस के प्रबन्ध के साथ सब से दूर का सम्बन्ध भी न रखे, तब तक उनको चर्चा चलाने दी जा सकती है। व्यवहारी विषय में तो उनको अधिक से अधिक सिर्फ सलाह देने की स्वतंत्रता दी जा सकती है; और सब से दयालु निरंकुश राजा की अमलदारी में भी जिनकी उत्कृष्टता प्रसिद्ध हो चुकी या मानी जा चुकी हो, उनके सिवाय दूसरे मनुष्य अपनी सलाह राजकाज के प्रबन्धकर्त्ताओं के कान तक पहुंचाने की आशा नहीं रख सकते, तब उस पर ध्यान दिलाने की बात कौन कहे? जो मनुष्य अपने विचार का कुछ बाहरी फल न होता जान कर भी विचार करने का कष्ट उठावे और जो कर्त्तव्य उसके सिर पर पड़ने की कुछ भी सम्भावना नहीं है, उसके योग्य हो, उसको मानसिक उद्योग का उसी उद्योग में और उसी की ख़ातिर बहुत असाधारण शौक हो। हर एक जमाने में कुछ को छोड़कर बाकी के किसी मनुष्य को अपने मान-

सिक उद्योग के परिणामों का कुछ व्यवहारी उपयोग होने की आशा रहती है, तभी वह उस तरफ उचित उत्साह दिखाता है। इस से यह मतलब नहीं निकलता कि जनता में मानसिक सत्ता बिलकुल रहेगी ही नहीं। जीवन के साधारण काम में—जो प्रत्येक मनुष्य या कुटुम्ब को अपने लिये अवश्य करना पड़ेगा—मानसिक भावना के कुछ खास संकीर्ण विस्तार की सीमा में कुछ बुद्धि और व्यवहार-कुशलता की आवश्यकता पड़ेगी। कदाचित् विशिष्ट विद्वान भी होंगे तो वे उस शास्त्र को उसके भौतिक उपयोग के लिये अथवा अभ्यास के शौक से विकसित करते होंगे। अधिकारीवर्ग भी होगा और राज्यतंत्र के तथा सरकारी प्रबन्ध के कुछ व्यवहारी नियम सीखकर अधिकारीवर्ग के लिये शिक्षा पाते हुए पुरुष भी होंगे। निरंकुश राजा का दबदबा जमाने के लिये किसी खास (साधारणतः सैनिक) विभाग में देश के सब से ऊंचे मानसिक प्रभाव का सुव्यवस्थित गठन किया जायगा और कितनी ही बार किया गया है। परन्तु साधारण जन समूह अधिकतर व्यवहार के बड़े बड़े विषयों में ज्ञान रहित और उत्साह रहित होता है, अथवा इसको कुछ ज्ञान होता है, तो वह बाहरी होता है, ठीक वैसेही जैसे जिस मनुष्य ने किसी दिन औज़ार नहीं उठाया उसको कारीगरी का ज्ञान हो। और उनको जो हानि होती है वह केवल बुद्धि सम्बन्धी नहीं, उनकी सात्विक शक्तियां भी उतनीही कुंठित होती हैं। जहां जहां मनुष्य प्राणी के उत्साह का क्षेत्र कृत्रिम सीमा से संकुचित होता है, वहां वहां उनके विचार भी उसी कदर संकुचित और कुंठित होते हैं। उत्साह मनोवृत्ति की खुराक है, कुटुम्ब प्रेम का आधार भी स्वेच्छा-सेवा है। किसी मनुष्य को अपने देश के लिये

कुछ भी करने मत दो, तो वह उसकी परवा नहीं रखेगा। एक पुरानी कहावत है कि निरंकुश राज्य में बहुत करके एक ही देश-भक्त होता है और वह निरंकुश राजा है। यह कहावत नेक और चतुर राजा की भी पूरी अधीनता के परिणामों को खूब समझ बूझकर कही गयी है। धर्म बाकी रहता है और ऐसा भरोसा रखा जा सकता है कि यह जो साधन बाकी है, वह मनुष्य की दृष्टि और मन को अधम विचार में से ऊंचे चढ़ावेगा; परन्तु यह सोचें कि धर्म निरंकुश राज्य के स्वार्थ के लिये अव्यवस्थित होने से बचा हुआ है, तो भी इस दशा में उसका भी एक सामाजिक विषय माना जाना बन्द हो जाता है और वह संकीर्ण होकर मनुष्य और उसके कर्त्ता के बीच का एक खानगी (प्राइवेट) विषय हो जाता है और उसमें सिर्फ खास अपने मोक्ष का प्रश्न रहता है। इस रूप में धर्म बिलकुल स्वार्थी और संकीर्ण ममत्व भाव के अनुकूल हो जाता है, इस से उसमें अपने भक्त को उसके जाति भाइयों के साथ समभाव रखवाने की उतनी ही कम सम्भावना है, जितनी कम विषय वृत्ति में है।

अच्छा निरंकुश राज्य याने वह राज्यतंत्र जिसमें निरंकुश राजा की जहां तक चले वहां तक राज्य के अमले कोई प्रत्यक्ष अत्याचार न करें, तथापि प्रजा के सभी साधारण लाभ की व्यवस्था प्रजा के लिये दूसरे मनुष्य करें, सामाजिक लाभ सम्बन्धी सभी विचार दूसरे मनुष्य करें और प्रजा के मन में अपना उत्साह परित्याग करने की टेव पड़े और इसको वह स्वीकार करती जाय। किसी बात को जैसे ईश्वर पर छोड़ते हैं, वैसे राज्यतंत्र पर छोड़ने के माने हैं। उसके विषय में कुछ परवा न करना और उसका परिणाम बुरा हो, तो उसे दैवी आफत समझ कर शिरोधार्य कर लेना। इस तरह कुछ विद्यासक्त

पुरुषों को—जो वादविवाद में वादविवाद की खातिर ही मानसिक उत्साह रखते हैं-छोड़ कर सारी जनता का मन और विचार खानगी (प्राइवेट) जिन्दगी के गौण लाभ में और उसके प्राप्त हो जाने पर मौज और आडम्बर में डूबा रहता है। परन्तु अगर इतिहास की सारी साक्षी किसी काम की हो तो इसका अर्थ यही है कि जनता की अधोगति का अर्थात् अगर उसने ऐसी पदवी पाई है जिससे नीचे गिरना अधोगति है, तो उसके नीचे गिरने का समय आया है। अगर वह पूर्वी प्रजा की स्थिति से कभी ऊंचे न चढ़ी हो, तो वह उस स्थिति में सड़ा करती है। और अगर उसने उत्साह, देश भक्ति और मानसिक उन्नति द्वारा—जो सामाजिक गुणरूप में स्वतंत्रता के फल हैं—ग्रीस और रोम की तरह कुछ अधिक उन्नति की हो, तो वह थोड़े समय में फिर पहिली अवस्था में आ पड़ती है। और इस अवस्था का अर्थ बहुत बुरे परिवर्त्तन से निरापद जड़ शान्ति नहीं है: बहुधा इसका अर्थ है किसी अधिक बलवान् निरंकुश राजा द्वारा अथवा किसी सब से नजदीक के बिना सुधरी हुई प्रजा द्वारा—जिसने जंगली जड़ता के साथ स्वतंत्रता का उत्साह रखा हो उसके द्वारा—छितरा जाना, जीता जाना और उसके घर का गुलाम बन जाना।

निरंकुश राज्य का यह सिर्फ स्वाभाविक रूप नहीं है, वरन अंगीभूत तत्व है और जिस कदर निरंकुश राज्य निरंकुश राज्य न हो जाना कबूल करे अर्थात् कल्पित निरंकुश राजा अपनी सत्ता चलाने से बाज रहे और उस सत्ता को अपने हाथ में अमानत रखते हुए लोगों को इस तौर पर चलने दे मानों वे अपना राज्य आप ही चलाते हों—उस कदर उस से छूटने का मार्ग मिलने के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। असम्भव होने पर भी हम अंकुशित राज्यतंत्र के

कितने ही नियम और शर्तें मानने वाले किसी निरंकुश राजा की कल्पना करते हैं। वह सार्वजनिक कार्य्य के विषय में लोक-मत बनाने और प्रकट करने और आन्दोलन मचाने योग्य स्वतंत्रता सामयिक-पत्र को दे; वह अपना अधिकार बल बीच में अड़ाये बिना स्थानिक कार्य्य की व्यवस्था लोगों द्वारा होने दे; कर बिठाने की सत्ता और प्रबंध करने तथा कानून बनाने का सब से बड़ा अधिकार अपने हाथ में रख कर सारी प्रजा की या खास श्रेणी की स्वतंत्रता से पसन्द की हुई राज्यसभा या राज्यसभाएं भी अपने आस-पास रखे—अगर वह इस प्रकार का बर्ताव करे और निरंकुश राजा होने का इतना अधिकार छोड़ दे, तो वह निरंकुश राज्य के अंगीभूत अनर्थों का बहुत बड़ा भाग दूर कर देता है। ऐसा होने से जनसमूह में राजनीतिक उत्साह और राज-काज के लिये सामर्थ्य खिल जाने से रुकेगी नहीं और ऐसा लोक-मत बनेगा जो राज्यतंत्र की केवल प्रतिध्वनि न होगा, परन्तु इस सुधार से नयी कठिनाइयां शुरू होंगी। राजाज्ञा से स्वतंत्र यह लोक-मत या तो उसके पक्ष में या विपक्ष में होगा। पहिला नहीं तो दूसरा होगा ही। कोई राज्यतंत्र बहुत से मनुष्यों को नाराज किये बिना नहीं रह सकता। और जब उन्हें नियमित साधन मिले और वे अपने विचार प्रकट करने को शक्तिमान हुए तब राज्यतंत्र के कामों के विरुद्ध राय अक्सर प्रकट होगी ही, जब यह प्रतिकूल राय अधिक संख्या में हो तब राजा को क्या करना होगा? वह अपना रास्ता बदले? प्रजा का मन रक्खे? ऐसा करता है तो वह अब निरंकुश नहीं, अंकुशित राजा, प्रजा का प्रतिनिधि अथवा मुख्य मंत्री समान हो जाता है। भेद इतना ही है कि वह हटाया नहीं जा सकता। और अगर वैसा न, करे तो

उसे यह विरुद्ध भाव अपनी निरंकुश सत्ता द्वारा दबा देना होगा; नहीं तो प्रजा और एक मनुष्य के बीच में स्थायी विरोध उठेगा और उसका यह एक ही परिणाम सम्भव है। मौन भाव की तावेदारी और "ईश्वरी हक" के धार्मिक नियम भी ऐसी स्थिति के स्वाभाविक परिणाम को बहुत समय तक रोक नहीं सकेगा। राजा को लाचार होकर अंकुशित राज्य की शर्तों का अनुसरण करना पड़ेगा अन्यथा ऐसा करने को तय्यार किसी दूसरे के लिये अपनी जगह खाली करनी पड़ेगी। इस प्रकार निरंकुश राज्य के मुख्य कर के नाम का होने के कारण खुदमुख्तार सरकार से जो लाभ सोचा जाता है, वह कम ही होगा और स्वतंत्र राज्य-तंत्र का लाभ भी बहुत करके अधूरा ही सधेगा। क्योंकि नागरिक जन चाहे जितनी अधिक असली स्वतंत्रता भोगते हों यह मेहरबानी में दाखिल है और इस शर्त्त पर है कि,वर्त्तमान राज्य गठन के अनुसार चाहे जिस घड़ी छीन ली जा सकती है। अगर उनका राजा चतुर और दयालु है, तो भी यह बात न भूलनी चाहिये कि कानून के रू से वे लोग उसके गुलाम हैं।

लोगों के अज्ञान, लापरवाही, अलहड़पन और आंधे हठ में तथा स्वतंत्रता के नियमों द्वारा प्रबल अस्त्र धारण करने वाले स्वार्थी, मतलबी पुरुषों के गुट्ट बाँधने से सब में हित-कारक सामाजिक सुधार के मार्ग में आ पड़ी हुई अड़चनों के कारण जो अधीर या निराश बने हुए सुधारक तड़पते होंगे, वे अड़चनें दूर करने के लिये और हठीली प्रजा को और अच्छे राज्य प्रबन्ध में आने को लाचार करने के लिये कभी कभी जबरदस्ती करने को तरसें, तो इस में बहुत आश्चर्य मानने की बात नहीं है। परन्तु (जहाँ एकाध दूषण सुधारने वाला राजा कभी कभी सौ में एक होता है, वहाँ नये

नये दूषण खड़ा करने वाले निन्नानवे होते हैं इस बात को दरकिनार रखें तो भी) जो लोग अपनी आशा सफल करने के लिये ऐसे किसी साधन की अपेक्षा रखते हैं, वे राज्यतंत्र का जो मुख्य तत्व प्रजा का अपना आप सुधार करना है, उसको तो उसकी भावना में से निकाल ही डालते हैं। स्वतंत्रता का एक लाभ यह है कि उसकी सत्ता में राज्यकर्त्ता प्रजा के मन को ताक पर नहीं रख सकता और प्रजा के मन को सुधारे बिना उसके लिये उसका कार्य्य-व्यवहार नहीं सुधार सकता। प्रजा पर उसकी मरजी के बिना अच्छा राज्य चलाना सम्भव हो, तो भी उसके ऊपर का अच्छा राज्य उतने समय से अधिक नहीं टिक सकता, जितने समय बहुधा उस प्रजा की स्वतंत्रता टिकती है, जो प्रजा विदेशी हथियार के बल से बिना स्वयं साथ दिये स्वतंत्र हुई हो। यह सच है है कि निरंकुश राजा लोगों को शिक्षा दे सकता है और सच-मुच ऐसा करना उसकी निरंकुशता के लिये सब से अच्छा बहाना होगा। परन्तु कोई शिक्षा जो मनुष्य प्राणियों को सिर्फ यंत्ररूप बनाने की अपेक्षा कुछ विशेष उद्देश्य रखती है वह अन्त को उनसे अपने कार्य्य का अधिकार अपने हाथ में लेने का दावा कराती है। अठारहवीं सदी में फ्रांसीसी दार्शनिकों के नेताओं को जेस्विटो ने शिक्षा दी थी। ऐसा मालूम होता है कि जेस्विट की शिक्षा भी स्वतंत्रता की आकांक्षा उत्तेजित करने पर वास्तव में थी। जो वस्तु बुद्धि को चमकाती है, वह थोड़ी ही क्यों न हो, मगर अपने द्वारा अधिक निरंकुशता के साथ काम लेने के लिये अधिक आकांक्षा जगाती है। और जिस स्थिति की आकांक्षा करने की ओर और बहुत करके जिस की मांग की ओर प्रजा को अवश्य उभाड़ना प्रजा-शिक्षा का उद्देश्य हो उसके सिवाय अगर किसी

दूसरी वस्तु के लिये शिक्षा दे तो वह व्यर्थ गई जानना।

बहुत नाजुक मौके पर तात्कालिक डिक्टेटर * के तौर पर स्वतंत्र सत्ता धारण करने की बात की मैं निन्दा करना नहीं चाहता: राजनीतिक संस्था की जो व्याधियां कम करारे उपायों से नहीं निकलतीं, उनके लिये आवश्यक औषध के तौर पर ऐसी सत्ता प्राचीन काल में स्वतंत्र राष्ट्रों ने अपनी खुशी से दी है। परन्तु अगर वह डिक्टेटर (अथवा निरंकुश सत्ताधिकारी) सोलन † केपिटेक ‡ की तरह अपनी धारण की हुई सारी सत्ता जनता को स्वतंत्रता के उपभोग में रोकने वाली उपाधियों को दूर करने में ही लगावे, तब वह खास नियमित समय के लिये धारण करना सकारण है। अच्छा निरंकुश राज्य केवल झूठी कल्पना है और अनुभव में तो (किसी तात्कालिक उद्देश्य के साधन के तौर पर काम में लाने के सिवाय) यह सब से बदहवास और भयंकर तुरंग हो जाता है। खराब खराब ही है। सुधार में कुछ भी आगे बढ़े हुए देश में तो एक अच्छा निरंकुश राज्य खराब से भी अधिक हानिकारक है। क्योंकि वह लोगों के विचार, वृत्ति और उत्साह को बहुत ही मन्द और निर्बल करने वाला बन

---

* रोम के प्रजासत्ताक राज्य में असाधारण आफत या भय के समय बिलकुल निरंकुश सत्ता वाले हाकिम नियुक्त होते थे † ग्रीस के सात ज्ञानियों में से एक—इस ने एथेन्स राज्य के लिये बहुत अच्छे कानून बना कर वहां उत्तम प्रजासत्ताक राज्य की नींव डाली थी, वह सन् इस्वी से छठी सदी पहिले हुआ था। ‡ ग्रीस के सात ज्ञानियों में से दूसरा यह लेस्बोस नाम के ग्रीस के पास के एक टापू का राजा था और इसका राज्यतंत्र बहुत अच्छी बुनियाद पर था। वह इस्वी सन् से

जाता है। आगस्टस * के निरंकुश राज्य ने रोमनों को टैबीरियस † के लिये तय्यार किया। उनकी लगभग दो पीढ़ियों की नरमी वाली गुलामी ने उनकी प्रकृति में विद्यमान सारा सत्त पहिले निर्मूल न कर दिया होता तो शायद इस अधिक फटकार-योग गुलामी का सामना करने लायक उत्साह उन में रहता।

यह बताने में कुछ कठिनाई नहीं है कि यही शासन-पद्धति सब से श्रेष्ठ है, जिस में अन्तिम अधिकार या सर्वोपरि निग्रह सत्ता सारी जनता को सौंपी हुई होती है अर्थात् प्रत्येक नागरिक को उस अन्तिम प्रभुता से काम लेने में मत देने की स्वाधीनता हो। इतना ही नहीं, वरंच कोई स्थानिक या साधारण सरकारी काम स्वयं बजाने और सरकारी प्रबन्ध में कार्यतः काम लेने के लिये अधिक नहीं तो समयानुसार भी वह बुलाया जाता हो।

इस सिद्धान्त की परीक्षा के लिये, जैसा कि पिछले अध्याय में बता आये हैं, राज्यतंत्र की श्रेष्ठता का प्रश्न जिन

पूर्व ६५०-६७० के अरसे में हुआ। * रोमन-साम्राज्य का पहिला सम्राट् (ईस्वी सन् से पूर्व ६३ ई० स० १४) यद्यपि इसने रोम का जन सत्ताक राज्य उलट कर अपना निरंकुश राज्य स्थापित किया था तथापि बाहर से सारी कारस्वाई उसने जनसत्ताक राज्य जैसी रखी थी और स्वयं एक साधारण मनुष्य की तरह ऐसी नरमी, योग्यता और दयालुता से बर्ताव करता कि रोमनों को निरंकुश राज्य स्वीकार करना जब नहीं मालूम हुआ। † रोम का दूसरा सम्राट् (ईस्वी सन् १४ ३७) यह बड़ा शक्की, अनदेखना और क्रूर था। इसने प्रजा पर बहुत बहुत जुल्म किये तथा बहुतों को मरवा डाला था।

दो शाखाओं में सहज ही बँट जाता है, उनके विषय में इसको जांचना चाहिये, अर्थात् यह जनता में विद्यमान सात्विक, मानसिक और उत्साही शक्तियों द्वारा अपने कार्य्य-व्यवहार की अच्छी व्यवस्था किस दरजे तक दिखाती है और उन शक्तियों को सुधारने या बिगाड़ने में कितना असर करती है।

यह कहने की शायद ही जरूरत है कि वास्तव में परम उत्कृष्ट राज्यतंत्र का यह अर्थ नहीं है कि यह सभ्यता की सभी अवस्थाओं में साध्य या मान्य हो वरंच यह है कि जिस स्थिति में यह साध्य और मान्य हो उस स्थिति में उस से सब से अधिक परिमाण में तात्कालिक और भावी शुभ परिणाम निकले। इस लक्षण का कुछ भी दावा कर सकती है तो एक मात्र पूर्णतया लोक-सम्मत शासन-पद्धति ही। राजनीतिक गठन की उत्कृष्टता जिन दो शाखाओं में बँटी हुई है उन दोनों में यह सर्वोत्तम है। दूसरी कोई भी शासन-पद्धति हो, उस से यह जैसे अच्छे वर्त्तमान राज्य प्रबंध के अधिक अनुकूल है, वैसे सामाजिक प्रकृति का अधिक अच्छा और उन्नत स्वरूप दिखाती है।

वर्त्तमान दिन के विषय में जो दो नियम उसकी श्रेष्ठता के आधार हैं वे मनुष्य के कार्य्य-व्यवहार के विषय में हमारे निकाले हुए किसी साधारण सिद्धान्त के समान ही सर्वतः सत्य और उपयोगी हैं। पहिला नियम यह है कि प्रत्येक या किसी पुरुष का हक और लाभ जब वह पुरुष उसके बचाव के लिये स्वयं खड़ा होने को समर्थ और साधारण तौर पर तत्पर होता है तभी बिगड़ने के जोखिम में नहीं है। दूसरा यह है कि सामाजिक समृद्धि उसके बढ़ाने में लगे हुए पृथक् पृथक् मनुष्यों का प्रयत्न और विविधता जितनी अधिक होती है, उतनी ही अधिक उन्नत होती है और अधिक विस्तार में फैलती है।

वर्त्तमान के उपयोग के लिये इन दो सिद्धान्तों को अधिक निर्दिष्ट स्वरूप में रखें, तो मनुष्यप्राणी जिस कदर आत्मरक्षा करने की शक्ति रखते हैं और ऐसे होते हैं, उसी कदर वे दूसरों द्वारा होने वाले अनिष्ट से निरापद होते हैं और उनके लिये दूसरे जो कुछ करें, उसका भरोसा रखने के बदले वे स्वयं पृथक् पृथक् या संयुक्त हो कर जो कुछ कर सकते हैं उस पर भरोसा रख कर जिस कदर आत्माश्रयी होते हैं, उसी कदर प्रकृति का सामना करने में अधिक सफलता पाते हैं।

पहिला सिद्धान्त—अर्थात् प्रत्येक जन स्वयं ही अपने हक और लाभ का निर्भय रक्षक है—एक ऐसा बुद्धिमत्ता पूर्ण मूल सिद्धान्त है कि अपना कार्य्य-व्यवहार स्वयं चलाने में समर्थ प्रत्येक मनुष्य, जहां जहां उसका निज का लाभ होता है वहां वहां, निःशंक भाव से इस नियम के अनुसार वर्त्ताव करता है। अवश्य ही बहुतेरों को इसे राजनीतिक सिद्धान्त मानना बहुत नापसन्द है और वे इसको सार्वत्रिक आत्म-स्वार्थ का सिद्धान्त कह कर इसकी दिल्लगी उड़ाते हैं। उनको हम यह उत्तर दे सकते हैं कि मनुष्य-जाति जो दूसरों की अपेक्षा अपने को, और अधिक बेगाने की अपेक्षा अधिक नजदीकी को, नियमबद्ध अधिक पसन्द करती है—यह बात किसी समय सत्य मानी जाने से रुक जायगी, तो उसी घड़ी से सार्व-जन कौटुम्ब्य केवल साध्य नहीं होगा वरंच प्रतिपादन होने योग्य सामाजिक स्वरूप यही एक रहेगा। और जब वह समय आवेगा तब वह अवश्य अमल में आवेगा। मुझ से पूछिये तो मुझे सार्वत्रिक आत्मस्वार्थ की बात पर श्रद्धा न होने से यह मानने में कुछ कठिनाई नहीं है कि सार्वजन कौटुम्ब्य मनुष्य-जाति के शिष्ट समाज में इस समय भी साध्य है और शेष में साध्य हो सकता है।। परन्तु विद्यमान नियम-तंत्र के

पक्षपाती जो आत्म-स्वार्थ के साधारण प्रभाव के मत को दूषते हैं उनको तो यह अभिप्राय नहीं रुचेगा। इस से मेरे मन में यह विचार आता है कि वे इतना तो जरूर ही मानते होंगे कि अधिकांश मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अपना विचार पहिले करते हैं। इतने पर भी सर्वोपरि सत्ता में भाग लेने का सब का हक प्रतिपादन करने के लिये, इतना भी कहने की जरूरत नहीं है। हमें यह सोचने की जरूरत नहीं है कि जब एक भिन्न श्रेणी के हाथ में सत्ता रहती है, तब वह अपने ऊपर दूसरों को जानबूझ कर न्योछावर करती है। इस सम्बन्ध में इतना कहना बस है कि बाहर रहे हुओं के लाभ के, अपने स्वाभाविक रक्षकों की अनुपस्थिति में हमेशा, नज़र से बाहर चले जाने का डर रहता है। और निगाह में लिया जाता है, तब उस से जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, उसकी अपेक्षा भिन्न दृष्टि से देखा जाता है। दृष्टान्त के तौर पर इस देश में जिन लोगों को मजदूर-दल कहते हैं, वे राज्यतंत्र में प्रत्यक्ष भाग लेने से वंचित किये हुए माने जाते हैं। मैं यह नहीं विश्वास करता कि जो उसमें भाग लेते हैं, वे साधारण तौर पर, अपने लिये मजदूर-दल की बलि देने का कुछ ख्याल रखते होंगे। पहिले वे ऐसी ही धारणा रखते थे; उनकी मजदूरी कानून के ज़ोर से कम रखने के लिये जो आग्रहपूर्वक प्रयत्न इतनी मुद्दत तक चल रहा था उसको देखो। परन्तु वर्त्तमानकाल में उनका साधारण रूप बिलकुल उलटा है। मज़दूर-श्रेणी के लिये वे बहुत बड़ा त्याग, विशेष कर अपने धन सम्बन्धी लाभ का त्याग खुशी से करते हैं। और फजूलखर्चा तथा अविचारी उदारता का दोष बहुत कम करते हैं। मैं यह भी नहीं मानता कि इतिहास में दूसरा कोई भी राज्यकर्त्ता अपने देशियों में सब से गरीब दरजे के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन को इनसे

अधिक आंतरिक उत्कण्ठा से प्रेरित हुआ होगा। तो भी क्या पार्लामेण्ट या लगभग उसका कोई सभासद किसी प्रश्न को क्षण भर के लिये भी मजदूर मनुष्य की दृष्टि से देखता है? जिसमें मजदूरों की मजदूरी सम्बन्धी स्वार्थ रहता, वैसा प्रश्न जब उठता है तब उसको मजदूरी कराने वाले की निगाह से नहीं देखते तो और किस निगाह से देखते हैं! मैं यह नहीं कहता कि उस प्रश्न के विषय में मजदूर मनुष्यों का अभिप्राय साधारणतः दूसरों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट होता है, परन्तु कितनी ही बार वह बिलकुल नज़दीक ही सा होता है। खैर, मतलब यह कि जैसे वह नफरत से हटा ही नहीं दिया जाता वरंच अनसुनी कर दिया जाता है, वैसा न करके उसके ऊपर आदर पूर्वक ध्यान देना चाहिये। दृष्टान्त के तौर पर हड़ताल का प्रश्न है। इस बात का संशय है कि पार्लामेण्ट की दोनों सभाओं में से किसी एक में एक भी अगुआ सभासद शायद ही ऐसा हो, जिसके दिल में यह बात न जम गयी हो कि "इस विषय में न्याय पूरा पूरा मालिकों के पक्ष में है, और मज़दूरों का विचार तो बिलकुल बेहूदा है।" जिन्हों ने इस प्रश्न का मनन किया है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि यह विचार कहाँ तक खोटा है और हड़ताल करने वाले अपनी बात पार्लामेण्ट को सुनाने में समर्थ हों, तो इस विषय पर कैसी भिन्न रीति से और कितनी कम दिखाऊ रीति से बहस करने को लांचार होना पड़े।

दूसरों के लाभ की रक्षा करने का हमारा कैसाहू हार्दिक विचार क्यों न हो, परन्तु उनका हाथ बांध लेना निरापद या लाभदायक नहीं हो सकता। यह मनुष्य के कार्य्य व्यवहार की अंगीभूत अवस्था है। यह बात उससे भी अधिक स्पष्ट तथा सत्य है कि जीवन में उनकी स्थिति का कुछ भी असली

और स्थायी सुधार उन्हीं के हाथों से कराया जा सकता है। इन दो तत्त्वों के संयुक्त प्रभाव से सभी स्वतंत्र जनताएं दूसरों की अपेक्षा अथवा अपनी स्वतंत्रता गँवाने के बाद अपनी ही अपेक्षा जैसे सामाजिक अन्याय और अपराध से बहुत बची रही हैं वैसे अधिक तेजस्वी समृद्धि भी प्राप्त कर सकी हैं। जब संसार के स्वतंत्र राज्य स्वतंत्रता भोग रहे थे, उस अरसे में उनकी और एक या अनेक राज्यकर्त्ता निरंकुश राज्य की उसी समय की प्रजा के बीच का अन्तर देखो। ग्रीस के शहरों और ईरानी सत्रापी (पुराने ईरान के मातहत देशों)के दरमिआन; इटली के जनसत्ताक राज्य और फ्लाएण्डर्स तथा जर्मनी के स्वतंत्र शहरों में और युरोप के माण्डलिक राज्यों के दरमियान; स्वीजरलैण्ड, हालैण्ड और इंगलैण्ड तथा आस्ट्रिया और राज्य-विप्लव से पहिले के फ्रांस के दरमियान मुकाबला करो। पहिलों की बढ़ती साफ तौर पर इतनी अच्छी थी कि उसको इन्कार नहीं कर सकते। फिर उनकी बढ़ती से उनके अच्छे राज्य-प्रबन्ध में और सामाजिक सम्बन्ध में श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इतिहास के पन्ने पन्ने में दिखाई भी देती है। हम अगर एक जमाने की दूसरे जमाने से नहीं, वरंच एक ही जमाने में रहे हुए भिन्न भिन्न राज्यों की तुलना करें तो स्वतंत्र राज्यों में सामयिकपत्र होने पर भी चाहे जितना भारी अन्धेर रहा हो और जिसको अतिशयोक्ति स्वयं बताना चाहे तो भी वह, निरंकुश राज्यवाले देशों में जिन्दगी के सभी व्यवहार में जनता पर तिरस्कार पूर्वक लतमर्दन का जो बर्ताव हो रहा था या आय के प्रबन्ध के नाम चलने वाली लूट-पाट की चाल से और भयंकर न्यायसभाओं की लुका-चोरी में पृथक् पृथक् मनुष्यों पर जो त्रासदायक अत्याचार प्रतिदिन बार बार हो रहा था उसके मुकाबले में क्षण भर भी नहीं टिक सकता।

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अब तक जिस स्वतंत्रता का लाभ भोगने में आया है वह सिर्फ जनता के एक भाग को उसका हक देने से मिला है और ऐसा राज्यतंत्र तो अभी असाधित मनोरथ ही है, जिसमें यह निष्पक्ष भाव से सब को दिया गया हो। यद्यपि इस मनोरथ के निकट जानेवाले हरएक कदम में कुछ और ही गुण है और सामाजिक सुधार की वर्त्तमान स्थिति में तो कितनीही बार निकट जाने से अधिक नहीं बन पड़ता तथापि स्वतंत्र राज्यतन्त्र का परम सम्पूर्ण भाव यह है कि इस लाभ में सब को भाग मिले। जिस परिमाण में—चाहे वे कोई हों—उस से वंचित रहते हैं, उस परिमाण में वंचित रहे हुओं का लाभ बाकी को मिलने की जमानत से वंचित रहता है और जिस उत्साह-शक्ति के प्रयोग के परिमाण में ही हमेशा साधारणसमृद्धि बढ़ी हुई देखने में आती है, वह शक्ति उनके अपने और जनता के हित में लगाने का अवकाश और उत्तेजन, उनको अपनी अन्य स्थिति में जितना मिलता उसकी अपेक्षा, ऐसी स्थिति में कम मिलता है।

वर्त्तमान हित सम्बन्धी स्थिति इस प्रकार अर्थात् चलते जमाने के कार्य्य व्यवहार की अच्छी व्यवस्था है। अब अगर हम शासन-पद्धति की प्रकृति के ऊपरी असर के विषय पर आवें तो दूसरे किसी की अपेक्षा जन सम्मत शासन-पद्धति की श्रेष्ठता यथासम्भव हमें इस से भी अधिक प्रभावशाली और निर्विवाद मालूम पड़ेगी।

यह प्रश्न वास्तव में इस से भी बढ़ कर एक तात्विक प्रश्न के आधार पर है—अर्थात् मनुष्य-जाति के सामान्य हित के लिये प्रकृति के दो साधारण नमूनों में से किस की प्रधानता चाहने योग्य है, उत्साही की या उदासीन की; जो

अनिष्ट का सामना करता है उसकी, या जो बरदाश्त कर रहा है उसकी; जो प्रसंगों को अपने वश में रखने का प्रयत्न करता है उसकी, या जो आप प्रसङ्गों के वश हो जाता है उसकी?

नीतिकारों के साधारण वचन और मनुष्य जाति की साधारण सहानुभूति उदासीन प्रकृति के पक्ष में है। उत्साही प्रकृति सानन्द आश्चर्य उपजाती है सही, किन्तु अधिकांश मनुष्य स्वयं नम्र और अधीन प्रकृति को ही पसन्द करते हैं। हमारे पड़ोसियों की अधीनता हमारी निर्भयता का भाव बढ़ाती है और हमारी स्वच्छन्दता के हाथ का खिलौना बन जाती है। जब उदासीन प्रकृति के पुरुषों की चंचलता की हमें जरूरत नहीं होती, तब हमारे मार्ग में उसकी अँड़चन कम जंचती है। सन्तोषी प्रकृति भयंकर प्रतिस्पर्धी नहीं है: तो भी इस बात में तो कुछ सन्देह नहीं है कि मनुष्य व्यवहार में सुधार केवल असन्तुष्ट प्रकृति का काम है; और उदासीन मन को उत्साह का सद्गुण धारण जितना सहज है, उससे उत्साही के लिये धीरता का सद्गुण धारण करना अधिक सहज है।

मानसिक, व्यवहारिक और सात्विक इन तीन प्रकार की मन की उत्कृष्टता में पहिली दो के सम्बन्ध में कुछ भी सन्देह नहीं रहता कि किस पक्ष में लाभ है। सारी मानसिक उत्कृष्टता उत्साही प्रयत्न का फल है। हौसला, गति में रहने की आकांक्षा, अपने या दूसरों के लाभ के लिये नयी वस्तुओं को जांचते और जानते रहना तर्क शक्ति का और उस से बढ़ कर प्रयोग-शक्ति का मूल है। जो मानसिक शिक्षा दूसरे नमूने की प्रकृति के अनुकूल आती है, वह ऐसी मंद अनिश्चित प्रकार की होती है कि विनोद अथवा केवल मनन पर ही बस करने वाले मन में देखने में आती है। यथार्थ और सबल

मनन की अर्थात् केवल स्वप्न देखने के बदले सत्य सिद्धान्तों का निर्णय करने वाले मन की कसौटी उसका उपयोग है। जहां मनन की मर्यादा में असली स्वरूप और स्पष्ट भाव निर्धारित करने का उद्देश्य नहीं होता, उस से पिथागोरियन या वेद की गूढ़ अध्यात्म विद्या से बढ़ कर कोई फल नहीं निकलता। व्यवहारिक सुधार के सम्बन्ध में तो यह बात इस से भी अधिक स्पष्ट है। जो प्रकृति कुदरती शक्तियों और रस्मों का सामना करती है, वही मनुष्य के जीवन में सुधार करती है। जो प्रकृति उनके वश में रहती है, वह कुछ नहीं करती। सभी स्वलाभ-साधक-गुण चंचल और उत्साही प्रकृति के पक्ष में हैं और जो वृत्ति और वर्त्ताव समाज के पृथक् पृथक् मनुष्यों के लाभ की वृद्धि करता है, वह अन्त को सारे समाज की साधारण उन्नति करने में सब से अधिक सहायता करने वाली वृत्ति और वर्त्ताव का अंश तो होगा ही।

परन्तु सात्विक श्रेष्ठता के विषय में पहिली दृष्टि से संशय का कारण जान पड़ता है। निरुत्साही प्रकृति ईश्वरी इच्छा की उचित अधीनता के लिये अधिक अनुकूल होती है, इस से उस के पक्ष में जो इस साधारण रीति से धार्मिक भाव है, उस उद्देश्य से मैं नहीं कहता। क्रिस्तानी और दूसरे धर्मों ने यह विचार पैदा किया है; परन्तु इस और दूसरी कितनी ही विक्रियाओं का परित्याग करने को समर्थ होने का खास अधिकार तो क्रिस्तानी धर्म को ही है। धार्मिक विचार को अलग रखें तो भी रुकावटें दूर करने के बदले उनके अधीन होने वाली जो उदासीन प्रकृति है, वह अपने लिये और दूसरों के लिये बहुत उपयोगी तो बेशक नहीं होगी, परन्तु शायद यह सोचा जाय कि निर्दोष तो होगी। सन्तोष हमेशा एक धार्मिक सद्गुण गिना जाता है परन्तु यह सोचना पूरी भूल है कि

वह अवश्य करके अथवा स्वाभाविक रीतिपर उदासीन प्रकृति का सहचर है। और ऐसा न हो तो उसका सात्विक परिणाम हानिकारक होता है। जहां ऐसे लाभ की लालसा होती है, जो प्राप्त नहीं हुआ है, वहाँ उसको जिस मनुष्य में अपने उत्साह द्वारा प्राप्त करने की सम्भावना नहीं है उस में, जिसने वह लाभ प्राप्त कर लिया है उसको धिक्कार और द्वेष की नज़र में देखने की वृत्ति होती है। जिस को अपनी दशा सुधारने के प्रयत्न में सफल होने की आशा होती है, वही मनुष्य उस काम में लगे हुए या सफलता पाये हुए दूसरे मनुष्य के प्रति शुभ इच्छा रखता है। जहाँ अधिकांश इस प्रकार उलझे रहते हैं, वहाँ जो लोग अपनी धारणा में सफलता नहीं पाते उनकी मनोवृत्ति, देश की साधारण वृत्ति द्वारा एक समान हुई रहती है और वे अपनी असफलता को प्रयत्न या प्रसंग के अभाव का अथवा खास अपने दुर्भाग्य का परिणाम समझते हैं। परन्तु जो लोग दूसरों के पास जो चीज़ है, उसकी चाह रखते हुए भी, उसके लिये उत्साह पूर्वक प्रयत्न नहीं करते वे या तो हमेशा बड़बड़ाया करते हैं कि जिसके लिये हम अपने निमित्त प्रयत्न नहीं करते वह चीज़ हमें भाग्य नहीं दे देता; या जिस चीज़ को वे चाहते हैं, वह जिनके पास होती है, उन के ऊपर द्वेष और बुरे भाव से किचकिचाया करते हैं।

जिस कदर जीवन की सफलता प्रयत्न का नहीं, वरंच दैव या अकस्मात का फल समझा या माना जाता है, उसी कदर द्वेष सार्वजनिक प्रकृति के एक लक्षण रूप में खिल निकलता है। मनुष्य-जाति में पूर्व के लोग सब से अनदेखने हैं। पूर्व के नीतिकारों में और पूर्व की कहानियों में अनदेखना मनुष्य विलक्षण रूप से दिखाई देता है। प्रत्यक्ष जीवन में जिस के पास कोई वस्तु चाहने योग्य होती है, वह चाहे महल हो,

चाहे खूबसूरत बालक, चाहे अच्छा नीरोग और आनन्दी स्वभाव हो—उस मनुष्य के लिये तो वह भारी दहशत का कारण होता है; उसकी केवल दृष्टि का जो फर्जी असर ख्याल किया जाता है वह दुष्ट-दृष्टि के सर्वव्यापक वहम का फल है। चंचलता और ईर्ष्या के विषय में पूर्व के लोगों के बाद कुछ दक्षिणी युरोपियनों का नम्बर है। स्पेनियार्डों ने अपने सब महापुरुषों को द्वेष से खदेड़ दिया था, उनका जीवन ज़हरीला कर दिया था और उनकी सफलता को असमय रोकने में सफलता पायी थी। * फ्रांसीसी जो वास्तव में दक्षिणी प्रजा हैं, उनके सम्बन्ध में यह बात है कि उनकी उत्साही प्रकृति होने पर भी निरंकुश राज्य और कैथलिक मत की दोहरी शिक्षा के कारण अधीनता और सहनशीलता की साधारण प्रकृति बनी है और इन गुणों को चतुराई और उत्कृष्टता का सब से मान्य भाव मिला है। और उन में एक दूसरे की या सारी श्रेष्ठता की जितनी ईर्ष्या विद्यमान है, उस से अधिक नहीं है तो उसे फ्रांसीसी प्रकृति में मौजूद अनेक अमूल्य निवारक तत्वों का और उस में सब से अधिक मनुष्य

* मेरी यह उक्ति भूतकाल के लिये ही है। क्योंकि जो महान् और अन्त को हाल ही में स्वतंत्र बनी हुई प्रजा खोये हुए लाभ को लौटा लाने की आशा दिखाने वाले उत्साह सहित युरोपियन उन्नति के साधारण प्रयत्न में प्रवेश करती है, उसको हलका करने के लिये मैं कुछ कहना नहीं चाहता। स्पेनियार्ड की बुद्धि और उत्साह क्या क्या करने को समर्थ है, इस विषय में कुछ सन्देह नहीं किया जा सकता और मुख्य कर के प्रजा की हैसियत से उन में जो दोष है उसका असली उपाय स्वतंत्रता और उद्योग का शौक है।

विशेष में मौजूद उत्साह का परिणाम समझना चाहिये। क्योंकि यद्यपि यह उत्साह आत्माश्रयी और प्रयत्नशील एंग्लो सेक्सन के उत्साह की अपेक्षा कम आग्रही और अधिक छिन्न हैं तथापि जिन जिन विषयों में उनके नियम-तंत्रों की .. की अनुकूलता हुई है उन पर फ्रांसीसियों ने प्रकाश डाला है।

वास्तविक सन्तोषी मनुष्य बेशक सब देशों में होते हैं उन के पास जो वस्तु नहीं होती उस के लिये प्रयत्न नहीं करते, इतना ही नहीं, वरंच उस की अभिलाषा भी नहीं रखते; जिनका भाग्य बहुत अच्छा दिखाई देता है, उनसे वे डाह नहीं करते। परन्तु जान पड़ने वाले सन्तोष का बड़ा भाग तो असन्तोष ही होता है और उस के साथ आलस या मनमानी की खिचड़ी होती है। वे अपनी उन्नति के लिये उचित उपाय न कर के उलटे दूसरों को अपनी श्रेणी में उतार लाने में आनन्द मानते हैं। और अगर हम निर्दोष सन्तोष के उदाहरणों को भी बारीकी से जांचते हैं, तो हमें मालूम होता है कि उदासीनता केवल बाहरी स्थिति सुधारने के बारे में होती है, परन्तु आध्यात्मिक योग्यता की निरंतर वृद्धि के लिये चेष्टा तो उस के साथ जारी रहती है अथवा कम से कम दूसरों को लाभ पहुंचाने की निःस्वार्थ आतुरता तो होती है, सिर्फ तभी वे हमारी प्रशंसा प्राप्त कर सकते हैं। जिस सन्तोषी मनुष्य या सन्तोषी कुटुम्ब में दूसरे किसी को अधिक सुखी करने की, अपने देश या अपने पड़ोस की भलाई करने की अथवा अपनी सात्विक उत्कृष्टता बढ़ाने की कुछ भी अभिलाषा नहीं होती, उसके प्रति हमारे जी में प्रशंसा या प्रसन्नता का कुछ भाव नहीं उपजता। इस किस्म के सन्तोष को जो हम निःसत्वता और उत्साह के अभाव का परिणाम समझते हैं, वह उचित है। हम जिस सन्तोष को पसन्द करते हैं, वह यह

—जो न मिल सके उसके विना खुशी से चला लेने की साम-
भिन्न भिन्न इष्ट वस्तुओं का परस्पर मूल्य आँकने की तुलना-
क्ति और अधिक मूल्यवान वस्तु के प्रतिकूल जानेवाली कम
की वस्तु का प्रसन्नता पूर्वक परित्याग। इतने पर भी
जब अपनी या दूसरी कोई स्थिति सुधारने के प्रयत्न में
त्साह पूर्वक लगा रहता है, तब उस में ये गुण उसी हिसाब
अधिक स्वाभाविक होते हैं। जो मनुष्य अपने उत्साह
कठिनाइयों से निरन्तर सामना कराता रहता है, उसको
मालूम होता है कि कौनसी कठिनाई अलंघ्य है और कौन
सी है जो पार की जा सकती है, तो भी उस में प्रयत्न के
योग्य फल नहीं मिलता। जिस के सभी विचार और प्रयत्न
साध्य और उपयोगी हौसलों के लिये आवश्यक हैं और उन
में साधारणतः लगे रहते हैं उनका, दूसरों की अपेक्षा, जो वस्तु
ने योग्य नहीं है या जो अपनी सी नहीं लगती उस
वस्तु का ध्यान लगा कर, अपने मन को सशंकित असन्तोष
में रहने देना कम सम्भव है। इस हिसाब से उत्साही और
आत्माश्रयी प्रकृति सब से श्रेष्ठ है, इतना ही नहीं; वरंच
विरुद्ध प्रकृति में भी जो कुछ वास्तव में उत्कृष्ट या इष्ट है
उसका सम्पादन करना उसके लिये सब से अधिक सम्भव है।

इंगलैंड और संयुक्तराज्य की साहसी और उछलती प्रकृति अपना बल बहुत हलके उद्देश्यों के पीछे खर्च कर डालती है, इतने के लिये ही वह निन्दा योग्य है। यह प्रकृति तो स्वयं मनुष्य-जाति के साधारण सुधार की सब से अच्छी आशा के आधार का रूप है। यह एक सूक्ष्म अवलोकन करने में आया है कि जब कभी कोई बात बिगड़ जाती है तब फ्राँसीसी कह उठते हैं 'धीरता रखो।' परन्तु अंगरेज कह उठते हैं, 'क्या शरम की बात है।' ये लोग जब कोई गलती हो जाती है

तब शरम समझते हैं। जो लोग एक दम इसी अनुमान में आ सकते हैं कि बिगड़ी हुई बात को बना सकते थे और बनाना ही चाहिये; उन्हीं की ओर से दुनिया का सुधार करने में सब से अधिक सहायता मिलने की आशा है। जब इलकी वस्तुओं की अभिलाषा रखी जाती है, जब यह अभिलाषा शारीरिक सुख और धन का आडम्बर दिखाने की सीमा से कुछ ही आगे बढ़ती है, तब उस तरफ के उत्साह का तात्कालिक परिणाम जड़ पदार्थों पर मनुष्य की सत्ता निरन्तर बढ़ाते जाने की अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं होता। परन्तु यह उत्साह भी सब से महान् मानसिक और सामाजिक सफलता के लिए मार्ग खोलता है और यांत्रिक-साधन तय्यार करता है। क्योंकि जब तक उत्साह मौजूद है, तब तक कितने ही मनुष्य उससे काम लेंगे और सिर्फ बाहरी स्थिति नहीं वरंच मनुष्य की अन्तः प्रकृति भी पूर्णतया विकसित करने में उसका अधिक अधिक उपयोग होगा। उत्साह के दुरुपयोग की अपेक्षा मंदता, निस्पृहता और अभिलाष का अभाव सुधार के लिये अधिक हानिकारक बाधा है और ये वृत्तियां ऐसी हैं कि जब जनता में विद्यमान होती हैं, तब इन्हीं के कारण कुछ उत्साही पुरुषों के हाथ से उत्साह का बहुत भयंकर दुरुपयोग होने की सम्भावना रहती है। मनुष्य-जाति के बहुत बड़े भाग को जंगली या अर्ध-जंगली अवस्था में रखने वाली भी यही हैं।

अब इस बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि एक या कुछ राज्यकर्त्ता का राज्यतंत्र उदासीन प्रकृति का नमूना पसन्द करता है और अधिकांश का राज्यतंत्र उत्साही और आत्माश्रयी नमूना पसन्द करता है। बेजिम्मेवारी के शासन-कर्त्ता प्रजा में चंचलता के बदले सुस्ती चाहते हैं और कुछ चंचलता चाहते भी हैं, तो उसके लाचार करने से। वे सब राज्यतंत्र जिनका

उनमें बिलकुल भाग नहीं होता उनको ऐसा समझते हैं कि उन्हें मानुषी आज्ञाओं को दैवी गति समझ कर उनके अधीन होना चाहिये। ऊपर वालों की इच्छा के और ऊपर वालों की इच्छा स्वरूप कानून के अधीन बिना चूं किये होना चाहिये। परन्तु जिनके अन्दर अपने बाकी के कार्य्य व्यवहार के विषय में संकल्प, उत्साह या चंचलता का अंतः प्रवाह जारी रहता है, वे मनुष्य अपने राज्यकर्त्ता के हाथ के केवल हथियार या साधन बनकर नहीं रहते और उनमें इन गुणों का कुछ भी आविर्भाव होता है, तो उन्हें निरंकुश राजाओं से उत्तेजन मिलने के बदले माफी मांगनी पड़ती है। जब बे-जिम्मेवारी के राज्यकर्ता को प्रजा की मानसिक चंचलता में इतना जोखिम नहीं जँचता कि उसे दबा देने की इच्छा हो, तब यह स्थिति ही स्वयं रुकावट है। प्रयत्न किसी प्रत्यक्ष निराशा की अपेक्षा अपनी असफलता के ख्याल से अधिक दबा रहता है। दूसरों की इच्छा की अधीनता और स्वाश्रय तथा स्वराज्य रूपी सद्गुणों में स्वाभाविक विरोध है। गुलामी का बन्धन जितना कड़ा किया रहता है, उसी कदर यह-विरोध कमोवेश सम्पूर्ण होता है। प्रजा की स्वतंत्र क्रिया पर कहां तक अंकुश रखा जाय अथवा उसका काम उसके लिये करके कहां तक दबाया जाय, इस विषय में भिन्न भिन्न राज्यकर्त्ता एक दूसरे से बहुत अलग हो जाते हैं। परन्तु भेद सिर्फ परिमाण का है; मूलतत्व का नहीं। और कितनी ही बार सब से अच्छे निरंकुश राजा अपनी प्रजा की स्वतंत्र क्रिया को बन्धन में बाँध लेने में सब से अधिक आगे बढ़ जाते हैं। खराब निरंकुश राजा तो अपने मौज, शौक का इन्तजाम हो जाने पर बहुधा प्रजा को मन लायक करने देने को राजी भी हो जाता है, परन्तु अच्छा निरंकुश-राजा प्रजा स्वयं

जितना जानती है, उससे अधिक अच्छी रीति पर उसका काम उससे करा कर उसकी भलाई का आग्रह करता है। फ्रांसीसी कारीगरी की सारी मुख्य शाखाओं के लिये नियमित पद्धति मुकर्रर करने का कानून महान् कोलबर्ट * का काम था।

कुदरती फर्ज और उसके साथ जो सामाजिक बन्धन बाँधने में मनुष्य प्राणी का अपना भाग होता है और जो उसे बुरा लगे उसको खुल्लमखुल्ला नापसन्द करने और बदलने के लिये उत्साह पूर्वक प्रयत्न करने को वह खुद-मुख्तार है, उसके सिवाय दूसरे किसी बाहर के दबाव से, वह जहां अपने को मुक्त समझता है, वहां मनुष्य-शक्तियों की स्थिति बहुत भिन्न होती है। अपूर्ण-जन-सम्मत-राज्य में जो लोग नागरिकता का सम्पूर्ण हक़ नहीं भोगते वे भी इस स्वतंत्रता से अवश्य काम ले सकते हैं। परन्तु जब कोई मनुष्य समान पदवी भोगता है और उसे ऐसा नहीं लगता कि जिस मण्डली में वह स्वयं दाखिल नहीं है उसके विचार और वृत्तियों पर वह जो असर करेगा वह उसकी अपनी सफलता का आधार होगा, तब उसके आत्मपरिश्रम और आत्मविश्वास को बहुत बड़ा और अधिक उत्तेजन मिलता है। राज्यगठन से वंचित रहना, अपने भविष्य का निर्णय करनेवाले से द्वार बाहर से दाद-फरियाद करने को लाचार होना और सलाह मशविरे में न बुलाया जाना, मनुष्य के लिये बड़ी निराशा की बात है और किसी श्रेणी के लिये तो इस से भी बढ़ कर निराशा की बात है। संबद्ध पुरुष

* कोलबर्ट (१६१९–१६८३) फ्रांस का प्रधान था, इसने देश में धन तथा व्यापार सम्बन्धी बहुत सुधार किये और साहित्य तथा कला कौशल के लिये अच्छा उत्तेजन दिया था।

को जब नागरिक की हैसियत से दूसरे किसी के इतनाही हक़होता है अथवा उतना अधिकार मिलने की आशा होती है, तभी उसकी प्रकृति पर होनेवाली स्वतंत्रता का उत्साहजनक प्रभाव पराकाष्ठा को पहुंचता है। कोई सामाजिक कार्य्य, कुछ समय और अपनी बारी से, करने के लिये नागरिकों पर समयानुसार होनेवाली बुलाहट से मनुष्य प्रकृति को जो व्यवहारी शिक्षा मिलती है, वह इस अंतर्वृत्ति के विषय से भी अधिक आवश्यक है। अधिकांश मनुष्यों को साधारण जीवन में अपना विचार और भावों का विस्तार बढ़ाने में कितना कम साधन होता है, इस बात पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। उनका काम दस्तूर मुताबिक होता है; हौसले की मेहनत नहीं, वरंच सब से हलके दरजे के आत्म-स्वार्थ की, हर रोज़ की कमी पूरी करने की मेहनत होती है। किया हुआ काम या उसे करने की रीति—दोनों में से कोई मनुष्य के मन को अपने से बाहर के विचार या वृत्ति में प्रवेश नहीं कराता। यद्यपि शिक्षाप्रद पुस्तकें उस के सामने होती हैं तथापि उन्हें पढ़ने का कोई उत्तेजन नहीं है; और बहुत बातों में तो मनुष्य को अपने से किसी बहुत ऊंची शिक्षा वाले पुरुष का संसर्ग नहीं होता। ऐसी जनता के लिये कोई काम सौंपने से किसी अंश में यह सारी त्रुटि पूरी होती है। अगर स्थिति ऐसी अनुकूल हो कि उसे बहुत अधिक परिमाण में सार्वजनिक कर्त्तव्य सौंपा जाय, तो उस से मनुष्य शिक्षित होता है। प्राचीन काल में सामाजिक तंत्र और सात्विक विचार में त्रुटियां होने पर भी डैकेस्टरी* और एकलीशिया† के रिवाज से प्रत्येक साधारण एथीनियन

* एथेन्स में जूरी की सी न्याय पंचायत। † एथेन्स की कानून

नागरिक की औसत बुद्धि इतनी अधिक खिल उठी थी कि दूसरी किसी प्राचीन या अर्वाचीन जनता में अभी तक उसका जोड़ा नहीं मिलता। ग्रीस देश के हमारे महान् इतिहास लेखक (ग्रोट) के इतिहास के प्रत्येक पन्ने में इस बात का सबूत स्पष्ट रूप से मिलता है। परन्तु उन की बुद्धि और संकल्प-शक्ति पर सब से अच्छा असर होगा, यह सोच कर उन के महान् वक्ताओं ने जो भाषण किये हैं, उन के ऊंचे गुण के सिवाय हमें और कुछ देखने की मुश्किल से जरूरत रहती है। जूरी में शामिल होने और पेरिश‡ की ड्यूटी बजाने के फर्ज के कारण निचले मध्यम दरजे के अंगरेजों को परिमाण में कम होने पर भी लगभग इसी प्रकार का लाभ हुआ है और यद्यपि यह लाभ सब को नसीब नहीं होता या न इस तरह लगातार अथवा उन को इतने बड़े नाना प्रकार के ऊंचे विचारों में प्रवेश नहीं कराता कि उसकी तुलना, एथेन्स के प्रत्येक नागरिक को जन सत्ताक राज्यतंत्र के कारण जो सार्वजनिक शिक्षा मिलती थी उस से, की जाय, तो भी जो मनुष्य अपनी जिन्दगी में शिक्षकता या दुकानदारी के सिवाय और कुछ नहीं करते, उन से तो वे इस कारण से विचार और बुद्धि विकसित करने के विषय में बहुत भिन्न प्रकार के मनुष्य होंगे। खास अपना काम करने वाले नागरिक को कभी कभी सार्वजनिक कर्त्तव्य में भाग लेने से मिलने वाली शिक्षा का सात्विक अंश इस से भी अधिक लाभकारी है। मनुष्य जब ऐसे काम में लगता है, तब उस को जो अपना नहीं है उस लाभ को तौलना, परस्पर विरोधी दावा में पक्षपात से भिन्न नियम पर चलना और जिनके अस्तित्व का

बनाने वाली सभा। ‡ इंगलैण्ड में एक धर्मगुरु के अधीनस्थ प्रदेश।

कारण साधारण हित है, उन तत्वों और नियमों को गढ़ना लाजिम होता है, और उस को ऐसे विचार और व्यवहार में अपने से जो अधिक जानकार मनुष्य बहुत कर के उसी काम में अपने साथ जुड़े हुए मिल जायंगे, वे साधारण हित के सम्बन्ध में उस की बुद्धि को दलीलें दिखाने और मनोवृत्ति को उत्तेजित करने का काम अपने ऊपर उठा लेंगे। इस से वह यह समझना सीखेगा कि मैं स्वयं भी जनता में हूं और जो विषय जनता के लाभ का है, वह मेरे लाभ का है। जहां सार्वजनिक उत्साह के लिये ऐसी शाखा नहीं होती, वहां कानून मानने और सरकार के ताबे रहने के सिवाय और कोई सामाजिक कर्त्तव्य उन्हें पालन करना है, ऐसा विचार साधारण सामाजिक स्थिति के गैर-सरकारी मनुष्यों में शायद ही होता है— जनता के साथ अपनी एकता का कुछ निःस्वार्थ विचार नहीं होता। स्वार्थ और कर्त्तव्य दोनों के सम्बन्ध में प्रत्येक विचार या वृत्ति खास अपनी और अपने कुटुम्ब की सीमा में घुसी रहती है। मनुष्य भी किसी साधारण लाभ का विचार नहीं करता; उसे यह विचार नहीं होता कि कोई भी उद्देश्य दूसरे मनुष्यों के शामिल होकर साधन करना है, वरंच यही विचार रहता है कि सिर्फ उन से चढ़ा ऊपरी कर के और कुछ अंश में उन की हानि कर के (अपना उद्देश्य) साधन करना है। जो पड़ोसी कभी सामाजिक लाभ के लिये किसी साधारण काम में नहीं लगता और इस से जो सहचर या साथी नहीं होता, वह उसी कारण से प्रतिद्वन्दी हो जाता है। इस तरह घराऊ नीति भी बिगड़ती है और सामाजिक नीति तो वास्तव में लुप्त ही हुई रहती है। अगर एक यही अवस्था सार्वत्रिक और सम्भवित हो, तो कानून बनाने वाले या नीतिकार को अधिक से अधिक इतना ही

अभिलाष रखने को रहे कि जनता के बड़े भाग को घास ही घास निर्दोष भाव से चरने वाली भेड़ों का झुण्ड बना दे।

इन अनेक विचारों से स्पष्ट मालूम होता है कि सामाजिक अवस्था की सभी शर्त्तें पूर्ण रूप से कायम रखने वाला राज्यतंत्र वही है, जिसमें सब लोगों का भाग होता है। यह भाग चाहे कितनाह हो, सबसे छोटे सार्वजनिक कर्त्तव्य में भी उपयोगी है। यह भाग जनता के सुधार की साधारण स्थिति में यथा सम्भव बड़ा होना चाहिये और अंत को राज्य की सर्वोपरि सत्ता में सब को भाग देने में कोताही करना बुरा है। परन्तु एक नन्हे से शहर की अपेक्षा बड़ी जनता में सामाजिक कार्य्य की कुछ अधिक छोटी शाखाओं के सिवाय दूसरे में सब मनुष्य स्वयं भाग नहीं ले सकते। इस से परिणाम यह निकलता है कि वास्तव में परम सम्पूर्ण राज्यतंत्र प्रतिनिधि शासन होगा।

चौथा अध्याय।

किन किन सामाजिक दशाओं में प्रतिनिधि-शासन अयोग्य है?

हम ने देखा है कि वास्तव में परम सम्पूर्ण शासन पद्धति का आदर्श प्रतिनिधि-शासन है और इससे मनुष्य जाति का कोई भी विभाग, उसके लिये, अपने साधारण सुधार की स्थिति के अनुसार कमोवेश योग्य होता है। वे लोग उन्नति में जिस कदर पिछड़े रहते हैं, साधारण रीति पर कहिये तो यह शासन-पद्धति उनके लिये उसी कदर कम अनुकूल होती है। परन्तु यह बात सर्वथा सत्य नहीं है। क्योंकि प्रतिनिधि-शासन के लिये किसी जनता की योग्यता, जिस कदर उसके

कुछ खास गुणों के परिमाण के आधार पर है उस कदर, मनुष्य-जाति की साधारण श्रेणी में उसकी जो पदवी होती है, उसके आधार पर नहीं है। फिर ये गुण उसकी साधारण उन्नति की पदवी से ऐसा निकट सम्बन्ध रखते हैं कि उन दोनों में जो कुछ विरोध होता है, वह कुछ नियम के तौर पर नहीं; वरंच एक अपवाद के रूप में होता है। अब इस बात को जांचना चाहिये कि अवनत श्रेणी को किस अवस्था में प्रतिनिधि राज्य, या तो खास उसके अनुकूल न होने से अथवा दूसरी किसी पद्धति के अधिक अनुकूल होने से, बिलकुल अग्राह्य होता है।

प्रथम, जहां प्रतिनिधि राज्य दूसरे किसी राज्यतंत्र की तरह स्थायी भाव से नहीं टिक सकता अर्थात् जहां वह पहिले अध्याय में गिनायी हुई तीन शर्त्तें पूरी नहीं करता, वहां वह अनुकूल नहीं है। वे शर्त्तें ये हैं—(१) लोग उसे स्वीकार करने को राजी हों। (२) उसे स्थायी रखने के लिये जो जो कार्य आवश्यक हों, उन्हें करने को राजी और समर्थ हों। (३) उसके द्वारा जो जो कर्त्तव्य और कार्य्य अपने सिर पर आ पड़ें, उन्हें पालने और करने को वे राजी और समर्थ हों।

कोई सभ्य शासन-कर्त्ता या विदेशी जाति या जातियां, जो देशपर अधिकार रखती हैं, वे जब प्रतिनिधि-राज्य का वरदान देना चाहती हैं, तभी उसे स्वीकार करने में लोगों की मरजी का प्रश्न व्यवहारतः उठता है। पृथक् पृथक् सुधारकों के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न प्रायः असम्बद्ध है। क्योंकि अगर उनके प्रयत्न के सम्बन्ध में इससे बढ़कर कोई उज्र न किया जा सके कि जनता का मत अभी उसके पक्ष में नहीं है तो उनके पास इसका यह उचित उत्तर तय्यार है कि उनको उस पक्ष में लाने का ही उनका विचार है। जब लोकमत सचमुच

विरुद्ध होता है, तब भी उसका विरोध बहुत करके खास प्रतिनिधि-शासन के विषय में नहीं, वरंच फेर-बदल के विषय में होता है। यह बात नहीं है कि उससे उलटे प्रकार का दृष्टान्त न मिले; कभी कभी किसी खास वंश के राज्यकर्ताओं की सत्ता पर कुछ भी अंकुश डालने में धार्मिक विरोध होता है; परन्तु साधारणतः मौन अधीनता के मत का अर्थ इतना ही है कि, चाहे जैसी अमलदारी हो, निरंकुश राजा की या जनसम्मति की, हुक्म के अधीन रहना। जिस प्रसङ्ग में प्रतिनिधि-शासन जारी करने के प्रयत्न की कुछ सम्भावना होती है, वहाँ उसके मार्ग में जो बाधा पड़ने की आशा की जा सकती है, वह प्रत्यक्ष विरोध की नहीं, वरंच बे-परवाही की और उसकी क्रिया और कर्त्तव्य समझने की अशक्ति की है। फिर भी यह बाधा प्रत्यक्ष विरोध के बराबर ही हानिकारक है, और कभी कभी उसे दूर करना भी उतना ही कठिन हो जाता है। क्योंकि बहुधा, पहिली उदासीनता की अवस्था में नयी चंचलता की वृत्ति उत्पन्न करने की अपेक्षा चंचलता की वृत्ति को अपने दूसरे मार्ग से चलाने का काम अधिक सहज है। जब किसी जनता को प्रतिनिधि राज्यतंत्र के लिये उचित समझ या प्रीति नहीं होती, तब उसे जारी रखने की सम्भावना नहीं के बराबर है। प्रत्येक देश में राज्यतंत्र के कार्यकारी विभाग के हाथ में सीधी सत्ता होती है और उसके साथ जनता का भी सीधा सम्बन्ध होता है; पृथक् पृथक् मनुष्यों को जो आशा या भय होता है, वह मुख्य करके उसकी तरफ से होता है और राज्यतंत्र का लाभ तथा त्रास और धाक भी जनता को उसी के द्वारा दृश्यमान होता है। इससे जिन सत्ताओं को कार्यकारी विभाग पर अंकुश रखने का काम होता है, उनके साथ अगर देश में जन-मन और

जनवृत्ति की सबल सहानुभूति नहीं होती, तो उसकी परवा न करने और उलटे अपने वश रहने को लाचार करने के साधन कार्यकारी विभाग को सदा मिल जाते हैं और ऐसा करने में अच्छी मदद भी अवश्य मिल जायगी। प्रतिनिधि तंत्र की स्थायिता अवश्य करके यह जब जोखिम में आ पड़ता है, तब लोगों को उसके लिये लड़ने निकलने की तत्परता के आधार पर है। अगर लोगों को उसके लिये यहां तक अग्रसर होने की समझ न हो, तो वे बहुत कम ही पैर बढ़ाते हैं या बढ़ाते भी हैं तो राज्यतंत्र का मुखिया या किसी पक्ष का अगुआ, जो अन-सोचा हमला करने योग्य सैन्य संग्रह कर सकता है, ज्योंही मनमाने अधिकार की खातिर कुछ जोखिम सिर पर लेने को तैयार हो, त्यों ही उनके परास्त हो जाने की प्रायः सम्भावना है।

ये विचार प्रतिनिधि-राज्य की निष्फलता के पहिले दो कारणों को बताते हैं। प्रतिनिधि राज्यतंत्र में लोगों के भाग का जो काम है, उसे करने को जब उन की मरजी या शक्ति नहीं होती, तब तीसरा कारण उत्पन्न होता है। जब लोक-मत बनाने के लिये राज्य के साधारण कार्य-व्यवहार में जितना मन लगाने की जरूरत है, उतना किसी का मन नहीं लगता या किसी छोटे दल का ही लगता है, तब मतधारी अपने निज के या स्थानिक लाभ, अथवा जिससे उसके पक्षपाती या आश्रित का सम्बन्ध होता है, उसके लाभ के सिवाय दूसरा लाभ सम्हालने में अपने मत के हक से बहुत ही कम काम लेते हैं। सामाजिक वृत्ति की ऐसी स्थिति में जो छोटा दल प्रतिनिधि संस्था पर अधिकार रखता है, वह अपने अधिकार का अधिक अंश सिर्फ अपनी थैली भरने के साधन रूप से ही काम में लाता है। जब कार्यकारी विभाग

दुर्बल होता है, तब सिर्फ ओहदा पाने की लड़-झगड़ में देश अव्यवस्थित हुआ रहता है; और जब सबल होता है, तब उन प्रतिनिधियों को अथवा उनमें जो अड़ंगा डालने की सामर्थ्य रखते हैं उनको, लूट में भाग देने के सस्ते मूल्य से खरीद कर वह निरंकुश हो जाता है। सामाजिक प्रतिनिधितत्व से फल सिर्फ इतना ही निकलता है कि जनता के ऊपर, असल में राज्य चलाने वालों के सिवाय, एक सभा का बोझ भी आ पड़ता है और जिसमें सभा के किसी दल का स्वार्थ रहता है, उस किस्म का कोई कुप्रबन्ध दूर होना कभी सम्भव नहीं है। इतने पर भी जब हानि यहीं रुक जाती है, तब प्रकाशन और आन्दोलन के लिये जो किसी प्रकार के नाम के भी प्रतिनिधि तत्व का अचल नहीं तो स्वाभाविक साथी है, इतना त्याग करना मुनासिब है। दृष्टान्त के लिये ग्रीस * के अर्वाचीन राज्य की प्रतिनिधि सत्ता में मुख्य करके ओहदों के जो लालची भरे हैं, वे यद्यपि अच्छा राज्य-प्रबन्ध चलाने में सीधे तौर पर तो थोड़े ही मददगार हैं अथवा बिलकुल नहीं हैं और कार्यकारी विभाग के स्वाधीन अधिकार को बहुत अंकुश में भी नहीं रखते, तथापि वे लोकप्रिय अधिकार का विचार जागृत रखते हैं और उस देश में समाचार-पत्रों को जो असली स्वाधीनता है, उसके बहुत मददगार हैं। इस बात में बहुत ही कम शंका उठायी जा सकती है। इतने पर

---

* सन् १८६२ के हितकारी राज्य विप्लव से पहिले का लिखा हुआ। घूस के जरिये राज्य चलाने की पद्धति और राजनीतिक पुरुषों की दुष्टता से आजिज आने से जो फेर-बदल हुआ है, उसने इस तंग से सुधरने वाली जनता के लिये वास्तव में अंकुशित राज्य-पद्धति का नया और आशाजनक मार्ग खोला है। —ग्रंथकर्ता।

भी यह लाभ लोक-सभा युक्त वंश परम्परा के राजा के अस्तित्व के आधार पर है। अगर इन स्वार्थी और लालची टोली वालों को ,मुख्य राज्यकर्त्ता की कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करने के बदले स्वयं मुख्य मुख्य पद लेने की चेष्टा करना हो, तो ये लोग स्पेनिश अमेरिका की तरह देश को निरन्तर उथल पुथल और अन्तर्विग्रह की अवस्था में पहुंचाये बिना न रहें। साहसी राजपुरुष एक एक करके, कानून से नहीं, वरंच कानून के विरुद्ध बलात्कार से राज्य सत्ता हाथ में लेकर निरंकुश हुक्म चलावेंगे और प्रतिनिधि तत्व के नाम और रीति का परिणाम इतना ही होगा कि जिस स्थायिता और निर्भयता द्वारा निरंकुश राज्य का दूषण घट सकता है और उसका कुछ लाभ मिल सकता है, वह स्थायिता और निर्भयता सम्पादित नहीं हो सकेगी।

ऊपर जो प्रसङ्ग बताये हैं, उनमें प्रतिनिधि राज्य स्थायी रूप से नहीं टिक सकता। दूसरे कितने ही प्रसङ्ग हैं जिन में उसका रहना सम्भव होगा। परन्तु उसकी अपेक्षा दूसरी कोई राज्य पद्धति अधिक पसन्द करने के योग्य निकल आवेगी। लोगों को जब सुधार में आगे बढ़ने के लिए कुछ पाठ सीखना होता है, कुछ अभी तक न प्राप्त की हुई वृत्ति—जिसके प्राप्त करने में प्रतिनिधि राज्य से बाधा पड़ना सम्भव है उसे—प्राप्त करना होता है, तब मुख्य करके ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

इन प्रसङ्गों में हम पहिले जो लोगों को सुधार का पहिला पाठ अर्थात् अधीनता का पाठ सिखाने के प्रसङ्ग का विचार कर चुके हैं, वह सब से स्पष्ट है। जो जाति प्रकृति और अपने पड़ोसियों का सामना कर के उत्साह और पराक्रम में शिक्षित होती है, परन्तु जिसने अभी किसी साधारण ऊपरी अफसर की पक्की तावेदारी कबूल नहीं की है, उसका अपनी

जनता के सामाजिक राज्यतंत्र के अधीन रहने की आदत डालना कम सम्भव है। उसकी अपने में से चुनकर बनायी हुई प्रतिनिधि सभा में सिर्फ उसकी उपद्रवी स्वच्छन्दता प्रतिबिंबित होगी। यह सभा उसकी जंगली स्वतंत्रता पर कुछ भी हितकारी अंकुश डालनेवाले सभी कामों में अपनी सम्मति देने से इनकार करेगी। वे जातियां अगर सभ्य समाज की मूल शर्तों के साधारण तौर पर वश की जा सकती हैं, तो लड़ाई की जरूरतों के जरिये और लश्करी सरदारी में मौजूद जरूरी निरंकुश सत्ता द्वारा। अगर किसी अफ़सर के ताबे वे रह सकती हैं, तो सिर्फ फौजी अफसर के, सिवाय इसके कि ईश्वर के भेजे हुए समझे जानेवाले पैगम्बर या चमत्कारी शक्ति रखने में मशहूर जादूगर के कभी कभी वश हों। यह पैगम्बर (देव-दूत) या जादूगर तात्कालिक सत्ता चला सकते हैं सही, परन्तु यह सत्ता व्यक्तिगत होने से उनकी साधारण वृत्ति में कमही फेर-बदल करती है, बशर्त्त कि पैगम्बर महम्मद की तरह फौजी अफ़सर भी बन कर नया धर्म जारी करने के लिये हथियारबन्द हो आगे बढ़े या फ़ौजी अफसर उनकी सत्ता अपने पक्ष में करके उन्हें अपनी आज्ञा का आधार स्तम्भ न बनावे।

पीछे कहे हुए दूषण की अपेक्षा विरुद्ध दूषण से—अर्थात् अत्यन्त उदासीनता और निरंकुश सत्ता की तत्पर अधीनता से जनता प्रतिनिधि राज्य के लिये कम अयोग्य नहीं होती। ऐसी प्रकृति और स्थिति से निकम्मी बनी हुई जनता अगर प्रतिनिधि राज्य पायेगी, तो वह अवश्य कर के अपने पीड़कों को ही प्रतिनिधि चुनेगी और जिस योजना द्वारा हम पहिली नजर से उसका बोझ हलका होने की आशा रखते हैं, उसके विरुद्ध वह और भारी हो जायगा।

जिस चक्रवर्ती सत्ता ने अपनी स्थिति द्वारा प्रथम स्थानिक निरंकुश राजाओं के प्रतिद्वन्दी होकर अन्त में उन सब को अपने वश किया, जिसका सब से विशेष लक्षण यह था कि वह स्वयं निष्कण्टक थी, उस सत्ता की सहायता से कितनीही जातियां इस अवस्था से धीरे धीरे छूटी हैं। * ह्यू केमेटस्, रिशेल्यू † और चौदहवें लुई ‡ तक का फ्रांसीसी

* अंधकार के जमाने के नाम से परिचित समय के बाद युरोप में जो भिन्न भिन्न राज्य उत्पन्न हुए वे माण्डलिक गठन से जुड़े हुए थे। उसको अंगरेजी में फ्यूडल सिस्टम (Feudal System) कहते हैं और यह हाल को हिन्दुस्थान की व्यवस्था से कुछ मिलता था। यहां जैसे अंगरेजी सत्ता सर्वोपरि माध्यमिक अथवा चक्रवर्ती सत्ता है और रजवाड़े उसके माण्डलिक हैं, वैसे उस समय युरोप के प्रत्येक देश में एक एक चक्रवर्ती अथवा माध्यमिक राजा की सत्ता के अधीन दूसरे छोटे छोटे अमीर इत्यादि के जुदे जुदे नामों से परिचित राज्यकर्ता थे। इन छोटे राजाओं को अपने अपने प्रान्त में हर तरह की निरंकुश राजसत्ता थी। चक्रवर्ती राजा को वे सिर्फ अपना प्रधान मानते थे और लड़ाई के समय उसको अपनी सेना की सहायता देने को बाध्य रहते थे। चक्रवर्ती राजा का अमल सिर्फ अपने हाथ में रहे हुए प्रान्त में चलता था और बहुधा ऐसा भी होता कि चक्रवर्ती के असली राज्य का विस्तार अपने प्रत्येक माण्डलिक के इतना भी न होता। † फ्रान्स का राजा (९८७–९६) ‡ (१५८५–१६४२) फ्रांस का एक महान प्रधान। इसने राजा की सत्ता बहुत बढ़ा दी, साथही विद्या और कला कौशल को भी अच्छा उत्तेजन दिया।—फ्रांस का एक महान राजा (१६४३–

इतिहास इस क्रियाक्रम का एक अखण्ड दृष्टान्त है। चक्रवर्त्ती राजा जब अपने कितने ही मुख्य मुख्य माण्डलिक राजाओं के इतना भी मुश्किल से बलवान था, तब भी उस को सिर्फ एक होने से जो भारी लाभ था, उसे फ्रांसीसी इतिहास-कर्त्ताओं ने स्वीकार किया है। जो लोग माण्डलिक द्वारा पीड़ित होते, उन सब की दृष्टि उस की ओर जाती; वह सारे राज्य में आशा और विश्वास का स्थान था। प्रत्येक स्थानिक राजा कभी बेश नियमित सीमा में ही बलवान था। देश के प्रत्येक भाग से प्रत्यक्ष पीड़क के विरुद्ध उस के यहां एक एक बार के आश्रय और रक्षा की गुहार मचायी जाती थी। उस के प्रभाव की गति धीमी थी; परन्तु जो प्रसङ्ग उसे अकेले आ मिलता उस का उत्तरोत्तर लाभ लेने का यह परिणाम था। इस से यह प्रभाव स्थायी था; और जिस परिमाण में वह प्राप्त होता गया, उस परिमाण में जनता की पीड़ित श्रेणी में कष्ट सहने का अभ्यास घटता गया। दास * अपने

१७१५) इस ने १६३८ में जन्म लिया था और पांच वर्ष की उमर में गद्दी पर बैठा था। इस ने विद्या तथा कला को अच्छा उत्तेजन दिया था, जिस से इस का दीर्घ राज्य राजा भोज के ऐसा हो गया था। इस ने फ्रांस का राज्य बाहर बढ़ाने के लिये बहुत चेष्टा की थी, परन्तु वह चेष्टा व्यर्थ गयी। * उन माण्डलिक राज्यों के समय में जो दास श्रेणी कहलाती थी, उस की स्थिति बहुत बुरी और गुलाम जैसी थी। भेद इतना ही था गुलाम जैसे एक मालिक के हाथ से दूसरे मालिक के हाथ बेचे जा सकते थे, वैसे वे लोग न थे। वे किसी खास मिलकियत के शामिल समझे जाते और उसी के साथ दूसरे मालिक को बेचे जा सकते थे। वे जैसे उस मिलकियत से अलग नहीं किये जा सकते थे, वैसे आप से भी अलग

स्थानिक मालिक की तावेदारी से छुट कर राजा की बाला बाला तावेदारी में आकर रहने का जो अलग अलग प्रयत्न करते, उस में उत्तेजन देने में उसका स्वार्थ था। उस के आश्रय के नीचे बहुत सी जातियां बनी और वे अपने ऊपर राजा के सिवाय और किसी को नहीं जानती थीं। पड़ोस के किले के मालिक के अमल की तुलना से दूर के राजा की तावेदारी स्वतंत्रता रूप ही होती है; और खास राजा की स्थिति ऐसी थी कि उस ने जिन श्रेणियों के छुटकारे में मदद की थी, उन के ऊपर उस को मालिक के तौर पर नहीं, वरंच तरफदार के तौर पर अमल करने को लाचार होना पड़ता था। इस प्रकार राज्य अगर सचमुच प्रतिनिधि राज्य होता, तो सुधार में जो एक जरूरी कदम बढ़ाने में लोगों को रुकावट पड़ने की सम्भावन रहती, वह कदम उन से बढ़वाने में सिद्धान्त में निरंकुश, परन्तु व्यवहार में साधारणतः बहुत अंकुशित बनी हुई माध्यमिक सत्ता मुख्यतः साधनभूत हो गयी। रूसी साम्राज्य के दासों * का जो छुटकारा हुआ है, वह केवल निरंकुश राज्य या कतलेआम के सिवाय और किसी तरह नहीं हो सकता था।

सभ्यता की वृद्धि के मार्ग में रुकावट डालने वाली जिन अँड़चनों को और भारी करने की ओर प्रतिनिधि राज्य का रुख है, उन्हें एक दूसरी रीति से जो निरंकुश राज्य पार करते

नहीं हो सकते थे। उन के लिये दासत्व से छूटने का एक ही मार्ग था, वह यह कि अपने मालिक की कुछ असाधारण सेवा कर के या कृपा प्राप्त कर के या मूल्य देकर अपनी स्वतंत्रता मोल लें।

* रूस के सम्राट् दूसरे अलकजेण्डर ने रूस के सब दासों को दासत्व से सन् १८६१ ईस्वी में छुड़ाया।

हैं, उन के सबल दृष्टान्त इतिहास के इसी विभाग से मिलते हैं। जो प्रबल बाधा सुधार में कुछ आगे बढ़ी हुई स्थिति तक आड़े आती है, वह अलंघ्य स्थानिक भाव है। मनुष्य-जाति के जो विभाग और कई तरह से स्वतंत्रता के योग्य होते हैं, और उस के लिये तय्यार भी होते हैं, वे एक नन्हें से जन समाज में भी मिलकर रहने के अयोग्य होते हैं। ईर्ष्या और सहज वैर भाव के कारण वे एक दूसरे से अलग रहते हैं और उन के इस खुशी से ऐक्य होने की सारी सम्भावना रुकी रहती है। इतना ही नहीं; वरंच उन में नाम का भी ऐक्य हुआ समझें तो भी उन्हों ने शायद उस ऐक्य को यथार्थ करने वाली मनोवृत्ति या खासियत अभी तक नहीं पायी है। यह हो सकता है कि किसी प्राचीन जनता के नागरिकों की तरह अथवा एशिया के किसी ग्राम के ग्रामवासियों की तरह उन को नगर या गांव के लाभ पर अपनी बुद्धि आजमाने का बहुत अभ्यास हुआ हो और उन्हों ने उस नियमित विस्तार योग्य सबल जन सत्ताक राज्यतंत्र का भी सम्पादन किया हो, परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि किसी सीमा के बाहर के विषय पर उन का थोड़ा ही भाव हो और ऐसी कितनी ही जनताओं के साधारण लाभ की व्यवस्था करने की कुछ टेव या शक्ति भी न हो। मैं नहीं जानता कि इतिहास ऐसा कोई दृष्टान्त देगा जिस में सब के लिये सामान्य किसी माध्यमिक सत्ता के पहिले वश हुए बिना ऐसे राजनीतिक परमाणुओं या रजकण की किसी संख्या ने एक जनता में हिलमिल कर अपने को एक समान गिनना सीखा हो। * विस्तृत भूमि-प्रदेश के साधारण विशाल

* अपवाद रूप में सिर्फ इटली का दृष्टान्त दिया जा सकता है, वह सिर्फ उस के रूपान्तर की अन्तिम अवस्था के सम्बन्ध में है।

लाभ का विचार, जैसा कि हमने सोचा है, ऐसा कोई समाज अपने मन में जमा सकता है, तो ऐसी किसी माध्यमिक सत्ता की आज्ञा मानने, उसकी योजना में शामिल होने और उसके उद्देश्य के अधीन होने का अभ्यास पड़ने से ही। इसके विरुद्ध ऐसे लाभ का विचार माध्यमिक राज्यकर्त्ता के मन में अवश्य करके सर्वोपरि होता है और वह जो भिन्न भिन्न प्रदेशों से कमोवेश निकट सम्बन्ध उत्तरोत्तर लगाता जाता है, उस मार्ग से यह लाभ सामाजिक मन के लिये परिचित होता जाता है। सुधार में यह क़दम बढ़ाने को शक्तिमान् होने के लिये जो अवसर सब से अधिक अनुकूल है, वह यह है कि प्रतिनिधि राज्य की वास्तविक सत्ता रहित प्रतिनिधि तंत्र खड़ा करें अर्थात् जो माध्यमिक सत्ता के सहायक और साधन रूप से वर्ताव करें, परन्तु उसका विरोध करने या उसे अंकुश में रखने का प्रयत्न बहुत कम करें। इस किस्म की भिन्न भिन्न स्थानों से चुनी हुई एक या अनेक प्रतिनिधि संस्थाएं गठित करें। इस प्रकार लोगों का सर्वोपरि सत्ता में भाग न होने पर भी ऐसा जान पड़ने से कि उनकी सलाह ली जाती है, माध्यमिक सत्ता की तरफ़ से दी हुई राजनीतिक शिक्षा स्थानिक मुखियों और साधारण जनता के मन में अन्य रीति की अपेक्षा अधिक प्रबलता से जम जाती है और उसके साथ साधारण सम्मति से चलने वाले राज्य-प्रबन्ध का प्रचार भी बना रहता है अथवा कम से कम साधारण सम्मति रहित राज्य-प्रबन्ध के चलन की स्वीकृति नहीं होती। क्योंकि बे-सम्मति का ऐसा प्रबन्ध, चलने से प्रतिष्ठा पाकर, कितनी ही

फ्रांसेस, पीसा या मिलन के शहर समाजों से या लम्बार्डी के प्रान्तिक ऐक्य में जो पहिला कठिन रूपान्तर हुआ वह सदा की रीत्य-नुसार हुआ था। —ग्रन्थकर्त्ता

बार एक अच्छे आरम्भ का शुभ अंत दिखाने वाला और अनेक देशों में सुधार की उसकी बहुत पहिली अवस्था में रोक देने वाला शोकजनक दुर्दैव का एक सब से साधारण कारण हो गया है। और उसका कारण यह है कि एकाध ज़माने का काम इस रीति से किया गया होता है कि जिस से उसके पीछे के ज़मानों का आवश्यक काम रुक गया है। अब तो एक ऐसा राजनीतिक सिद्धान्त निर्धारित किया जा सकता है कि छोटे राजनीतिक परमाणुओं के समूह को एक शामिल करके परस्पर साधारण संसर्ग वृत्ति वाला, विदेशियों की जीत या चढ़ाई से अपनी रक्षा करने योग्य शक्ति रखने वाला और लोगों की सामाजिक और राजनीतिक कुशलता को शुभ काम में लगा कर उसके उचित परिमाण में चमकाने योग्य विविध और विस्तृत कार्य व्यवहार रखने वाला संयुक्त जन समाज अगर बन सकता है, तो प्रतिनिधि राज्य नहीं, वरंच बे-ज़िम्मेवारी का निरंकुश राज्य।

इन भिन्न भिन्न कारणों से प्रतिनिधि तंत्र की (पुष्टि में दृढ़ हो तो भी) सत्ता में स्वतंत्र निरंकुश राजसत्ता जनता की सब से आरम्भ की अवस्था के लिये सब से अनुकूल शासन-पद्धति है। और इसमें प्राचीन ग्रीस के नगर मण्डली जैसे का भी अपवाद नहीं होता। क्योंकि यहां भी इसी प्रकार लोकमत से कुछ वास्तविक, अंकुश वाले, परन्तु प्रत्यक्ष या कानून से बिना अंकुश के राजाओं का राज्य सब स्वतंत्र तंत्रों से पहिले अनजान और शायद लम्बी मुद्दत से चला आता था और उनके स्थान में बहुत मुद्दत तक कुछ कुटुम्बों के शिष्ट राज्य स्थापित हुए इसमें ये अन्त को लुप्त हो गये। यह इतिहास से सिद्ध है।

जनता में ऐसी सैकड़ों किस्म की कमज़ोरी या कचाई

दिखायी जा सकती है, परन्तु यद्यपि इस से जनता प्रतिनिधि राज्य का सब से अच्छा उपयोग करने में उसी कदर नालायक ठहरती है तथापि इस से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि एक या कुछ के राज्य में दोष मिटाने या घटाने का रुख होता है। किसी तरह का मजबूत वहम, पुरानी रस्म के बारे में दुराग्रही हठ, सामाजिक प्रकृति में प्रत्यक्ष दोष या केवल अज्ञान और मानसिक शिक्षा की त्रुटि, अगर लोगों में बनी रहेगी तो उनकी प्रतिनिधि संस्था में उसका बहुत कुछ प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रहेगा। परन्तु ऐसा हो कि जिन पुरुषों के हाथ में प्रबन्ध-व्यवस्था—राज काज का प्रत्यक्ष भार–हो, वे अपेक्षाकृत इन त्रुटियों से बचे-हों, तो भी जब उनको अपने पक्ष में ऐसी सभाओं की खुशी मन से अनुमति लेने का बन्धन नहीं होगा, तभी वे प्रायः अधिक भलाई कर सकेंगे। परन्तु हमारे परीक्षा किये हुए दूसरे प्रसङ्गों में जैसा होता है, वैसा इसमें नहीं होता—राज्यकर्त्ता होने से ही उनमें ऐसा गुण नहीं रहता कि जिस से उसको भलाई के मार्ग में झुकाने वाली दिलचस्पी और रुचि हो जाय। एक (राज्यकर्त्ता) और उसके सलाहकार या कुछ राज्यकर्त्ता कुछ अधिक श्रेष्ठ समाज के या आगे बढ़ी हुई स्थिति के विदेशी न होंगे, तो उनका अपनी जनता की या सुधार की अवस्था की साधारण त्रुटियों में से साधारणतः मुक्त होना सम्भव नहीं है। अगर राज्यकर्त्ता विदेशी होंगे तो वे जिन के ऊपर राज्य करते हों, उनसे चाहे जिस कदर श्रेष्ठ हों, कुछ चिन्ता नहीं। इस किस्म की विदेशी अमलदारी की ताबेदारी में दोष होने पर भी वह प्रजाजन को बहुधा सब से अधिक लाभदायक हो जाती है। क्योंकि वह उसे उन्नति की कितनी ही अवस्थाएं तेज़ी से पार कराती है और सुधार के मार्ग में अड़ने वाली जो बाधाएं, अधीन

प्रजा को किसी बाहरी मदद के बिना अपने ही रुख और प्रसङ्गों पर भरोसा रखने की सूरत में अनिश्चित काल तक पड़ा करती हैं, उनको वह पार कर देती है। जो देश विदेशी के अमल तले नहीं होता, उसमें ऐसा लाभ उपजाने के लिये जो एक मात्र साधन यथेष्ट है, वह किसी असाधारण विचक्षणता वाले निरंकुश राजा की विरल अकस्मात् उत्पत्ति है। इतिहास में कुछ ऐसे राजा हो गये हैं और मनुष्य-जाति के सौभाग्य से उन्हों ने इतनी लम्बी मुद्दत तक राज्य किया था कि वे कितने ही सुधारों को अपने शासन में पली हुई पीढ़ी को सौंप कर स्थायी बनाने में समर्थ हुए थे। एक दृष्टान्त शार्लमेन * का दिया जा सकता है और दूसरा महान पीटर का। फिर भी ऐसे दृष्टान्त इतने विरल हैं कि जिन शुभ अकस्मातों ने ईरानी चढ़ाई के समय थेमिस्टोकलिस ‡ के

* फ्रांक लोगों का राजा (७७४–८१४) और पश्चिम रोम के साम्राज्य का सम्राट् (८००–८१४) इसके राज्य का विस्तार जर्मनी, फ्रांस, इटली, स्पेन इत्यादि लगभग सारे पश्चिम युरोप में था। इसने खेती, कला, विद्या और धर्म को बड़ा उत्तेजन दिया; कानून बनाये और बहुत से सुधार किये। † रूस का सम्राट् (१६८२–१७२५) इसने रूस के बलवान् साम्राज्य की नीव डाली। राज्य को चारों तरफ बढ़ा कर उत्तर में श्वेत समुद्र में और पूर्व में बोथिनिया की खाड़ी तथा दक्षिण में कृष्ण समुद्र तक जल-सेना स्थापित की। इसने भिन्न भिन्न देशों में प्रवास कर स्वयं अनुभव प्राप्त कर देश में बहुत से राजनीतिक तथा अन्य सुधार किये। ‡ सन् ईस्वी से पूर्व ५१०–४७०–ईरान का एक बहुत विचक्षण राजनीतिक पुरुष। ईरान के जर्कसीज राजा की चढ़ाई के

और आरेंज के पहिले या तीसरे विलियम के अस्तित्व सरीखे प्रसङ्गों पर मनुष्य-जाति के कुछ नेता-दल द्वारा अनसोचा हमला हो कर आगे बढ़ना चाहिये या पीछे हटना चाहिये, इसका फैसला ऐन मौके पर किया है, उन अकस्मातों में इनकी गणना हो सकती है। ऐसी सम्भावना से लाभ उठाने की धारणा से ही नियम तन्त्र रचना वाहियात है। क्योंकि उपर्युक्त तीन पुरुषों ने जैसा साबित किया है, उसके अनुसार किसी यशस्वी पदवी पर रहने वाले ऐसी प्रकृति के मनुष्यों को प्रबल सत्ता चलाने को समर्थ होने के लिये निरंकुश अमलदारी की जरूरत नहीं पड़ती। जहां बस्ती का एक छोटा सा मुखिया दल भी भिन्न जाति, अधिक सुधरे मूल से उत्पत्ति या किसी दूसरे लाक्षणिक कारणों से बाकी बस्ती की अपेक्षा सुधार और साधारण प्रकृति में प्रत्यक्ष रूप से श्रेष्ठ होता है, वहां का प्रसङ्ग सब से अधिक विचारने योग्य है और वह बहुत

समय मुख्य करके इस महापुरुष की सलाह और कुशलता से ग्रीक लोगों को सेलमिस जलयुद्ध में सम्पूर्ण विजय हुई थी। इस प्रकार इसने ग्रीस को बचाया था। ‡ १५४४–८४ आरेंज के पहिले विलियम ने स्पेन के राजा दूसरे फिलिप के जुल्म से छुड़ाया था। यह लड़ाई सन् १५६८ में शुरू हुई। सन् १६०९ में उसका अन्त हुआ और डच संयुक्त राज्य की स्थापना हुई। इसको फिलिप ने १५८४ में मार डाला था। तीसरा विलियम (१६५०–१७०२) हालेण्ड का स्टेट होल्डर (राज्याध्यक्ष) (१६७२–१७०२) और इंग्लैंड का राजा (१६८९–१७०२) मुख्य करके इसके प्रयत्न से चौदहवें लुई का सारे युरोप के राज्य फैलाने का प्रयत्न रुक गया। इस ने अपनी सारी जिन्दगी इसी काम में बितायी थी।

असाधारण भी नहीं है। ऐसी दशाओं में जनता के प्रतिनि-
धियों का राज्य होगा, तो शिष्ट दल को अधिक सभ्यता से
मिल सकने वाले लाभ के बहुत कुछ रुक जाने की सम्भावना
रहती है। फिर इस दल के प्रतिनिधियों का राज्य होगा, तो
शायद ऐसा होगा कि जनता की अधमावस्था जड़ पकड़ेगी
और भविष्य की वृद्धि का एक सब से मूल्यवान तत्त्व दूर
किये बिना उसे अपने प्रति सभ्य बर्ताव की भी कुछ आशा
नहीं रहेगी। ऐसे मिश्रण वाली जनता के सुधार की सब
से अच्छी आशा, कानून से निरंकुश और अधिक नहीं तो
वस्तुतः सर्वोपरि सत्ता प्रधान, राज्यवर्ग के मुख्य राज्यकर्त्ता के
हाथ में होने पर है। वह अकेला अपनी स्थिति के कारण,
अपने साथियों पर ईर्ष्या होने से, उनमें बड़ा ऊँचा करने
के लिये, जनता से ईर्ष्या न होने के कारण उसकी उन्नति
और सुधार करने में लाभ समझता है। अगर, उसकी बगल
में शिष्ट सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों की सभा, अधिष्ठान रूप में
नहीं, वरंच अधीन के तौर पर रहने का शुभ अवसर आवे और
अगर वह सभा आपत्ति और प्रश्न उठा कर और समय समय
पर रोक प्रगट कर सामाजिक रुकावट की वृत्ति को जागृत रखे
और धीरे धीरे तथा उचित समय पर विस्तार पाकर वास्तविक
सामाजिक प्रतिनिधि-सभा हो, (अंगरेजी पार्लिमेन्ट का
इतिहास तत्त्वतः ऐसा है) तो ऐसी स्थिति और गठन वहाँ
जनता को सुधार की सब से अनुकूल आशा रखने का जो सब
से अच्छा प्रसङ्ग मिल सकता है, वह सब इस जनता को है।

जो रूप किसी जनता को प्रतिनिधि राज्य के लिये बिल-
कुल नालायक बनाये बिना उसका सम्पूर्ण लाभ लेने के
गहरे परिमाण में अटक करते हैं, उनमें से एक के ऊपर
विशेष ध्यान देना उचित है। इन रूपों की तत्त्वतः दो भिन्न

अवस्थाएँ हैं। परन्तु उन दोनों में कुछ समानता है; और इस से वे जिस मार्ग से पृथक् पृथक् मनुष्यों के और राष्ट्रों के प्रयत्नों को उभाड़ते हैं, उसमें वे अक्सर एक दूसरे से मिल जाते हैं। दूसरे पर अधिकार चलाने की इच्छा एक है; और अपने ऊपर अधिकार चलाने देने की मरजी दूसरी है। इन दों वृत्तियों के परस्पर प्रभाव के कारण मनुष्य-जाति के भिन्न भिन्न विभागों में जो भेद पड़ता है, वह उसके इतिहास में एक सब से आवश्यक तत्व है। ऐसे राज्य भी हैं जिनमें अपनी निज की स्वतंत्रता की इच्छा से दूसरे पर हुकूमत चलाने का जोश इतना प्रबल होता है कि वे दूसरे पर हुकूमत चलाने के लिये भी अपनी स्वतंत्रता त्यागने को तैयार जान पड़ते हैं। उनके समाज का प्रत्येक जन, सेना के साधारण सैनिक की तरह, अपना कार्य्य स्वातंत्र्य सेनापति के हाथ में सोंप देने को राजी होता है। वशर्ते कि वह सेना सफलीभूत और विजयी हो और वह यह गर्व कर सकता हो कि मैं स्वयं इस विजयी सेना का एक सैनिक हूं; यद्यपि विजित लोगों पर चलने वाली हुकूमत में अपना कुछ हिस्सा होने का विचार तो केवल धोखा ही है। ऐसे लोगों को यह नहीं रुचता कि सरकार अपने अधिकार और गुणधर्म में स्पष्ट रीति से नियमित कर दी जाय और सीमा से बाहर मगज न लड़ाने और स्वयं रक्षक या निर्देशक की पदवी धारण किये बिना बहुत बातें चलने देने का बंधन लगा दिया जाय। उनके विचार के अनुसार, अगर सत्ता के लिये चढ़ा-ऊपरी करने की सब को साधारण छूट हो, तो सत्ताधिकारी जितनी अपने सिर पर न ले उतनी ही कम है। उन में से एक साधारण मनुष्य भी, अपने और दूसरे के ऊपर कुछ निष्कारण सत्ता न चलाने का विश्वास कराने की अपेक्षा अपने नगर-बंधुओं पर कुछ

अंश में सत्ता चलाना—वह चाहे दूरस्थ और असम्भव ही क्यों न हो—अधिक पसन्द करता है। पद लोलुप लोगों में ऐसे तत्व होते हैं; उन में राज्यनीति का काम मुख्य कर के ओहदा लेने के ऊपर निर्धारित होता है। उन में स्वतंत्रता नहीं, सिर्फ समानता की परवा की जाती है। उनके राजनीतिक दलों में जो झगड़ा चलता है, वह सिर्फ यह निर्णय करने की चेष्टा से कि प्रत्येक विषय में हस्तक्षेप करने की सत्ता इस दल को मिले या दूसरे को। अथवा सिर्फ राजनीतिक पुरुषों की एक टोली को मिले या दूसरी को। उन में जन-सत्ताक राज्य का भाव सिर्फ इतना ही समझा जाता है कि ओहदे कुछ थोड़े आदमियों के बदले सब को चढ़ा ऊपरी के लिये छोड़ दिये जायं; उन में राज्यतंत्र जितना अधिक जन-सम्मत होता है, उतने ही अधिक ओहदे कायम किये जाते हैं और प्रत्येक पर सब और सब पर कार्यकारी विभाग बड़ाही राक्षसी शासन चलाता है* फ्रांसीसी जनता का यह यथार्थ चित्र है अथवा इस से कुछ मिलता जुलता है, यह कहना निष्ठुर और अनुचित भी समझा जायगा। इतने पर भी वे जिस कदर इस नमूने की प्रकृति रखते हैं, उस से उनके ऊपर स्थापित एक छोटे वर्ग की तरफ का प्रतिनिधि-राज्य बेहद घूस लेने से टूट गया है और सारी पुरुष संख्या की तरफ के प्रतिनिधि राज्य के लिये किये हुए प्रयत्न के अंत में

---

* सन् १८४८ के राज्य विप्लव से फ्रांस में जो फिर से जनसत्ताक राज्य स्थापित हुआ उस में ऐसी स्थिति थी। लूई-नेपोलियन ने जो राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया था, अंत को इतनी बड़ी निरंकुश सत्ता प्राप्त कर ली कि सन् १८५२ से फ्रांस का सम्राट् होकर निरंकुश राज्य स्थापित कर सका।

एक मनुष्य के हाथ में बाकी में से चाहे जितने मनुष्यों को बिना जांच किये लांबेसा या केयेन में देश निकाला करने की सत्ता सौंप दी गयी है; उसमें शर्त इतनी ही रही है कि वह उन सब को यह मानने दे कि वे उसकी कृपा में भाग पाने की सम्भावना से वंचित नहीं हैं। इस देश के लोगों की प्रकृति में जो तत्व उनको प्रतिनिधि शासन के लिये दूसरे सब तत्वों की अपेक्षा अधिक योग्य बनाता है, वह यह है कि प्रायः उन सब की उलटी खासियत है। वह ऐसी सत्ता को अपने ऊपर चलाने देने में बड़ी फटकार बताते हैं, जिसे लम्बे रिवाज और सत्यासत्य के विषय में उनकी स्वीकृति बिना जारी कराने का कुछ भी प्रयत्न हो। परन्तु वे साधारणतः दूसरों पर शासन करने की बहुत ही थोड़ी परवा रखते हैं। हुकूमत चलाने के दुर्विकार पर तनिक सहानुभूति न होने से और कैसे कैसे स्वार्थ साधने के उद्देश्य से अधिकार चाहा जाता है, यह बात अच्छी तरह जानी हुई होने से, वे यह इच्छा रखते हैं कि जिनको बिना माँगे अपनी सामाजिक स्थिति के हिसाब से अधिकार मिले, वे उसे चलावें तो अधिक अच्छा है। विदेशियों की समझ में यह बात आवे तो उनको अंगरेजों की राजनीतिक वृत्तियों में जो कुछ प्रत्यक्ष विरोध दिखाई देता है, उसका कारण समझ में आ जाय; जैसे ऊंचे दरजे को अपने ऊपर राज्य चलाने देने की बेधड़क तत्परता और इसके साथ उनके प्रति इतनी कम व्यक्तिगत अधीनता की वृत्ति कि जब सत्ता अपनी खास नियमित सीमा लांघती है, तब कोई जनता उन्हीं कीसी तत्परता से उसे रोकने को आगे नहीं बढ़ती अथवा उन्हीं के इतने दृढ़ निश्चय से अपने राज्य कर्त्ताओं को हमेशा याद नहीं कराती कि हमें स्वयं जो रीति सब से अच्छी लगेगी, उसी रीति से हमको

ऊपर हुकूमत चलाने देंगे। इस से अंगरेजों को अगर एक जाति की हैसियत से विचारें, तो वे पद के लोभ से प्रायः अनजान हैं। जिन थोड़े से कुटुम्बों या सम्बन्धियों के मार्ग में राज्याधिकार आकर अत्यन्त पड़ गया है, उनको छोड़ दें तो संसार में वृद्धि पाने के विषय में अंगरेजों का विचार दूसरे ही मार्गों से—वकालत, वैद्यक और शास्त्र सम्बन्धी ऊंचे रोजगार, व्यापार या शिष्टवृत्ति में सफलता के मार्गों से सम्बन्ध रखता है। राजनीतिक पक्ष या पुरुष केवल अधिकार के लिये कुछ भी युद्ध करें, तो इसके लिये उन्हें बड़ी भारी कवाहत है। और उनको सरकारी ओहदों की संख्या बढ़ाने के विषय की अपेक्षा दूसरे थोड़े ही विषयों पर अधिक नफरत है। इसके विरुद्ध अधिकारीवर्ग के पैरों तले कुचली जाती हुई युरोप-खंड की प्रजाओं में यह बात सदा लोकप्रिय है। क्योंकि वे अपने को या अपने सगे को कोई ओहदा मिलने का प्रसङ्ग, घटाने के बदले भारी कर देने को राजी होंगे और उनके खर्च घटाने की पुकार का मतलब यह कभी नहीं है कि ओहदे तोड़ दिये जायं, बरंच जो ओहदे इतने बड़े हों कि उन पर साधारण नागरिकों के नियत होने का कुछ भी मौका न हो उनका वेतन घटा दिया जाय।

पांचवां अध्याय।

प्रतिनिधि-सभाओं के खास कर्त्तव्य के विषय में।

प्रतिनिधि-शासन के विषय में विचार करते हुए (एक ओर) उसके भाव या तत्त्व और (दूसरी ओर) अचानक ऐतिहासिक योग या किसी खास समय प्रचार पाये हुए विचारों के कारण इस भाव के धारण किये हुए खास स्वरूप

के बीच का भेद ध्यान में रखने की सब से बड़ी आवश्यकता है।

प्रतिनिधि-शासन का यह अर्थ है कि प्रत्येक राज्यतंत्र में जो अंत की अंकुश सत्ता किसी स्थान में रहे, उसको सारी जनता या उसका कोई बड़ा भाग स्वयं समय समय पर पसन्द किये हुए प्रतिनिधियों द्वारा काम में लावे। यह अन्तिम अधिकार उसके हाथ में सब तरह से पूर्ण होना चाहिये। वह जब चाहे तब राज्यतंत्र की सारी क्रिया पर सर्वोपरि सत्ता चलाने को समर्थ हो। यह कोई जरूरी नहीं है कि यह सर्वोपरि सत्ता उसको राज्यतंत्र के कानून से ही मिलना चाहिये। ब्रिटिश राज्यतंत्र ऐसी सत्ता नहीं देता, परन्तु जो कुछ देता है, वह प्रयोग में उस दरजे तक पहुँचता है। अन्त की अंकुश सत्ता केवल राजसत्ताक या जनसत्ताक *राज्यतंत्र तथा मिश्र और समतोलित राज्यतंत्र* में वस्तुतः अविभक्त होती है। समतोलित राज्यतंत्र असम्भव है—प्राचीन प्रजाओं की इस राय में सत्य का जो अंश है, उसको हमारे समय में बड़े बड़े मातबर पुरुषों ने पीछे से ताज़ा किया है। समतोलन तो लगभग हमेशा होता है, परन्तु तराज़ू के पलड़े कभी एक समान नहीं रहते। उनमें किसका वजन अधिक है, यह राजनीतिक तंत्रों के बाहरी दृश्य से हमेशा स्पष्ट नहीं दिखाई देता। ब्रिटिश राज्यतंत्र में राज्यसत्ता की तीन समान पंक्तियों के अंगों में प्रत्येक को जो अधिकार दिया गया है, वह अगर पूरे तौर पर अमल में लाया जाय, तो राज्यतंत्र के सारे कल-पुरज़ों को बन्द करने में समर्थ हो। इस से प्रत्येक अंग को दूसरे का खण्डन या रुंधन करने के लिये नाम को समान अधिकार मिला है। और अगर इन तीनों में से कोई अंग इस अधिकार को काम में लाने से अपनी स्थिति सुधारने की आशा रख सके, तो मनुष्य-व्यवहार का साधारण क्रम हमें यह

वजन देते रहते हैं, तब तक वे नियम पाले जाते हैं और व्यवहार में जारी रहते हैं। इंग्लैण्ड में यही सत्ता सामाजिक सत्ता है। इससे अगर ब्रिटिश राज्यतंत्र के कायदे, कानून और उनके साथ भिन्न भिन्न राजनीतिक अधिकारियों के वर्ताव को वस्तुतः अंकुश में रखने वाले अलिखित नियम राज्यतंत्र के लोक-प्रिय तत्व को देश में, उसकी वास्तविक सत्ता के अनुसार वास्तविक सर्वोपरि वजन दें, तो राज्यतंत्र में स्थायिता का जो लक्षण है वह न रहे और कानून या अलिखित नियम—दो में से एक को जल्द बदलना पड़े। इस प्रकार ब्रिटिश राज्यतंत्र अपने असली अर्थ में प्रतिनिधि शासन है और जनता के सामने जो प्रत्यक्ष भाव से जवाबदेह नहीं है, उनके हाथ में जो अधिकार रहने देता है, उसको सिर्फ, राज्य करने वाली सत्ता अपनी भूलें रोकने के लिये जो चितौनी रखने को राजी होती है, वैसी ही चितौनी मान सकते हैं। ऐसी चितौनी सभी जनसत्ताक-राज्यों में विद्यमान होती है। एथिनियन राज्यतंत्र में ऐसी बहुत सी शर्तें थीं और संयुक्त राज्य में भी है।

परन्तु जब प्रतिनिधि-शासन राज्य की सर्वोपरि सत्ता का जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में रहना आवश्यक है, तब यह प्रश्न उठता है कि कौन सा प्रत्यक्ष कर्त्तव्य या राज्यतंत्र की यंत्र-सामग्री में कौन सा निर्दिष्ट भाग प्रतिनिधि-सभा सीधे तौर पर और स्वयं करे। इस विषय में अगर कर्त्तव्य ऐसे हों कि प्रत्येक विषय में अन्त की अंकुश सत्ता प्रतिनिधि-सभा के हाथ में रहे, तो प्रतिनिधि-राज्य के तत्व के कितने ही भेद अनुकूल आते हैं।

राज्य-कार्य्य पर अंकुश रखना और स्वयं उसे करना—इन दोनों में मूल तात्विक भेद है। एक ही मनुष्य या सभा हर एक काम पर अंकुश रख सकती है, परन्तु हर एक काम स्वयं

करना सम्भव नहीं है। और कितने ही विषयों में तो स्वयं काम करने का जितना ही कम प्रयत्न किया जाता है, उतना ही अधिक दृढ़ अंकुश प्रत्येक विषय पर रखा जा सकता है। किसी सेना का सेनापति अगर स्वयं सैनिकों की श्रेणी में लड़ने को खड़ा रहे या आक्रमण करने जाय, तो वह उसकी प्रभावशाली व्यूह व्यवस्था नहीं कर सकता। यही बात मनुष्यों की सभा के लिये है। कुछ काम सभाएं ही कर सकती हैं, पर दूसरे कामों को वे अच्छी तरह नहीं कर सकतीं इस लिये पहिला प्रश्न यह है कि लोक-सभा को किस पर अंकुश रखना चाहिये। और दूसरा प्रश्न यह है कि उसे स्वयं क्या करना चाहिये। हम पहिले जान चुके हैं कि उसको राज्य के सभी कामों पर अंकुश रखना चाहिये। परन्तु यह साधारण अंकुश किस साधन द्वारा चलाना सब से अधिक लाभदायक है और राज-काज का कौनसा भाग प्रतिनिधि-सभा को अपने हाथ में रखना चाहिये, इसका निर्णय करने के लिये हमें जिस विषय का विचार करना है, वह यह है कि किस प्रकार का काम एक बड़ी सभा योग्य रीति से कर सकती है। जो कुछ वह भली-भांति कर सकती है, वही उसे अपने हाथ में लेना चाहिये। बाकी काम के लिये, तो उसका उचित कर्त्तव्य यह है कि उसे स्वयं न करके दूसरों से अच्छी तरह कराने का उपाय करे।

दृष्टान्त के तौर पर जो कर्त्तव्य दूसरे कर्त्तव्यों की अपेक्षा विशेष तौर पर प्रतिनिधि-सभा का गिना जाता है, वह कर मंजूर करने का है। इतने पर भी किसी देश में प्रतिनिधि-सभा स्वयं या अपने नियत किये हुए अफसरों की मार्फत आय, व्यय का चिट्ठा तय्यार करने का काम अपने सिर पर नहीं लेती। यद्यपि आय तो सभा ही मंजूर कर सकती है और भिन्न भिन्न विषयों में आमदनी खर्च करने के लिये

भी उसी सभा की अनुमति आवश्यक है तथापि राज्यतंत्र का ऐसा नियम और साधारण रिवाज है कि राजा की दरखास्त पर ही धन दिया जा सकता है। इतना अलबत्ता मालूम हुआ है कि धन कार्य्यकारी विभाग के हाथ से खर्च होने के कारण जिन योजनाओं और हिसाब के आधार पर खर्च का अन्दाजा लगाया जाता है, उन के लिये कार्य्यकारी विभाग जवाबदेह रखा जाता है, तभी रकम के बारे में सीमा की ओर उसके उपयोग की विधि में विवेक और सम्हाल की आशा रखी जा सकती है। इस प्रकार कर लगाने या खर्च करने के विषय में पार्लामेण्ट की तरफ से स्वयं कुछ आरम्भ करने की आशा नहीं रखी जाती और उसको इजाजत भी नहीं है। है यही कि उसकी मंजूरी मांगी जाती है और उसको अधिकार है कि इनकार कर दे।

इस राजनीतिक सिद्धान्त में जो मूलतत्त्व सन्निविष्ट और स्वीकृत है, उसका यथासाध्य अनुसरण करें, तो वह प्रतिनिधि सभाओं के साधारण कर्त्तव्य की सीमा और परिभाषा बनाने का मार्ग दिखाता है। एक तो जिन देशों में प्रतिनिधि पद्धति अनुभव पूर्वक समझ में आयी है, उन सब में यह स्वीकार हुआ है कि बड़ी संख्या की प्रतिनिधि सभाएं प्रबन्ध का काम न करें। यह नियम सिर्फ अच्छे राज्यप्रबन्ध के सब से अंगीभूत तत्वों के नहीं, वरंच किसी तरह सफलीभूत हुए प्रबन्ध के मूलतत्वों के आधार पर भी है। मनुष्यों की कोई सभा अगर सुव्यवस्थित और हुकम में रह कर वर्ताव करनेवाली न हो, तो वह यथार्थ काम के लायक नहीं। कुछ और उनमें भी काम के खास जानकार चुने हुए मनुष्यों की बनी व्यवस्थापक सभा भी, उसी में से निकल आनेवाले एकाध पुरुष की अपेक्षा हमेशा घटिया काम करती है और अगर उस एक पुरुष को मुखिया बना कर बाकी सब को

उसकी मातहती में रक्खें, तो वह सभा योग्यता में उन्नति करेगी। जो काम पृथक् पृथक् मनुष्यों की अपेक्षा सभा अच्छी तरह करती हैं वह सलाह मशविरे का है। जब बहुत से परस्पर विरोधी विचारों को सुन कर उन पर विचार करना जरूरी या आवश्यक होता है, तब विचार-सभा की आवश्यकता है। इस से यद्यपि ऐसी सभाएं कितनी ही वार प्रवन्ध-कार्य्य के लिये भी उपयोगी होती हैं तथापि साधारण तौर पर तो सलाह देने के लिये ही। क्योंकि प्रवन्ध का काम तो एक की जिम्मेवारी पर ही नियम पूर्वक बहुत अच्छी तरह चलता है। किसी साझे के व्यवसाय में भी कयास में नहीं तो काम में भी एक प्रवन्धकर्तृ व्यवस्थापक होता है, उस व्यवसाय की अच्छी या बुरी व्यवस्था वास्तव में किसी एक ही मनुष्य की योग्यता पर निर्भर करती है और बाकी व्यवस्थापक अगर किसी काम के लायक होते हैं, तो उसको अपनी ओर से सलाह देकर या उनको जो उसके ऊपर निगरानी करने और उसकी कार्रवाई अनुचित जँचे उसे रोकने या हटाने का जो अधिकार है, उसके लिये व्यवस्था के काम में तो ये जाहिरा उसके समान हिस्सेदार हैं। मगर इसमें कुछ लाभ नहीं है, अलबत्ता ये कुछ भी भलाई करने में समर्थ हों, तो उसके विरुद्ध यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है। इस से यह होता है कि उसको जो अकेला और स्वयं जिम्मेवार रहना चाहिये, उस विषय की रुचि उसके अपने और दूसरों के मन में कमजोर हो जाती है।

परन्तु जन-सभा तो प्रवन्ध करने या जिनके हाथ में प्रवन्ध हो, उनको सविस्तार आज्ञा देने के लिये इस से भी कम योग्य है। ऐसा हस्तक्षेप शुद्ध भाव से होने पर भी प्रायः सदा हानिकारक होता है। राज्य-प्रवन्ध की प्रत्येक

शाखा की व्यवस्था प्रवीणता का काम है। और इसके लिये उसके खास अपने नियम और रिवाज की दफायें होती हैं. उनमें से अधिकांश तो, जिसने कभी काम चलाने में हिस्सा लिया हो, उसके सिवाय दूसरे किसी को ठीक तौर पर मालूम भी नहीं होतीं। जिसने उस विभाग में तजरबा नहीं हासिल किया है, उस मनुष्य के लिये, उनमें से किसी का भी उचित मूल्य जानना सम्भव नहीं है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि राज काज के प्रबन्ध में गूढ़ भेद हैं और वह सरकारी पुरुषों की समझ में ही आता है। अच्छी समझ वाले हर एक आदमी के लिये, जिसने अपने मन में प्रबन्ध की स्थिति और प्रसङ्ग का वास्तविक स्वरूप विचारा होगा, इसके सभी मूलतत्व सुगम होते हैं। परन्तु इसके लिये उसे उस स्थिति और प्रसङ्ग को जानना चाहिये, और यह ज्ञान अन्तःप्रेरणा से नहीं आता। (जैसा कि हर एक निज के रोजगार, धन्धे में होता है) राज-काज की प्रत्येक शाखा में बहुतेरे सब से आवश्यक नियम होते हैं और जो मनुष्य उस में नया प्रवेश करता है, वह उनका कारण नहीं जानता और कभी कभी उनका अस्तित्व भी नहीं समझता। क्योंकि जिन जोखिमों का सामना करने या अड़चनों को दूर करने के उद्देश्य से वे नियमादि बने होते हैं, वे उनके ख्याल में भी कभी न आये होंगे। मैं कितने ही राजनीतिक पुरुषों को, साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तिवाले मंत्रियों को जानता हूं, उन्हों ने राज-काज के किसी नये विभाग में प्रवेश करते समय कुछ बात—जिसके उस विषय पर नज़र डालने वाले प्रत्येक जन को शायद पहिला विचार आया होगा, परन्तु जिसने दूसरा विचार उठते ही छोड़ दिया होगा, इस ढङ्ग से मानों अभी तक किसी गिनती में नहीं थी और खास हमने उस पर

स्वार्थ का उद्देश्य बीच में नहीं आता तब तक ऐसा चलता है, परन्तु जब यह बीच में आता है, तब उसका परिणाम यह निकलता है कि प्रकाश वाले राज्यतंत्र के किसी सरकारी अधिकार में जो सत्यानाशी चाल चलाने की आशा रखी जा सकती है, उसकी अपेक्षा अधिक बेधड़क और बेशरम सौदा चलने लगता है। इस स्वार्थ वृत्ति का सभा के बड़े भाग तक पहुंचना जरूरी नहीं है। किसी खास प्रसङ्ग में उसकी संख्या के दो या तीन में वैसी वृत्ति हो, तो बहुधा यथेष्ट है। बाकी के किसी सभासद में सभा को ठीक रास्ते पर चलाने में जितनी रुचि होना सम्भव है, उसकी अपेक्षा इन दो तीन में उसे उलटे रास्ते ले जाने की रुचि अधिक होगी। सभा का बड़ा भाग स्वयं खड़ा रह सकता है, परन्तु जिस विषय में उसको कुछ ज्ञान नहीं है, उसमें अपना मन सावधान या *अपनी दृष्टि सूक्ष्म नहीं रख सकता और सुस्त मनुष्य की* तरह बड़ा पक्ष भी, जो मनुष्य उसके साथ अधिक श्रम करता है, उसके वश में आ जाता है। मंत्रियों के खराब काम या खराब नियुक्ति को पार्लामेण्ट रोक सकती है और अपना बचाव करने में मंत्रियों का और उन पर आक्रमण करने में प्रतिपक्षियों का स्वार्थ होने से किसी कदर समान चर्चा चलने का भरोसा रहता है। परन्तु सावधान को कौन सावधान करे? पार्लामेण्ट को कौन रोकेगा? मंत्री या विभाग का प्रधान अपने को कुछ जिम्मेवार समझता है। ऐसे प्रसङ्ग में कोई सभा अपने को कुछ जिम्मेवार नहीं समझती। क्योंकि पार्लामेण्ट के किसी सभासद ने सूक्ष्म प्रबन्ध के विषय में दिये हुए मत के लिये कब अपनी जगह खाली रखी है? मंत्री या विभाग के प्रधान के लिये यह जान रखना अधिक आवश्यक है कि उसके काम के बारे में तत्काल कैसा विचार होता है

और उस से कुछ समय बाद कैसा विचार होगा। परन्तु एक सभा, जब चाहे जैसी उतावली से मचायी हुई या चाहे जैसी कृत्रिम रीति से उसकायी हुई तात्कालिक पुकार उसके पक्ष में होती है, तो उसका चाहे जैसा सत्यानाशी परिणाम हो, तो भी वह अपने को सम्पूर्ण रीति से दोषमुक्त हुई समझती है और प्रत्येक जन भी ऐसा ही समझता है। फिर सभा अपनी खराब कारखाई की—जब तक वह सामाजिक अनर्थ का स्वरूप धारण नहीं करती तब तक उसकी—अड़चनों का अनुभव स्वयं नहीं करती। मंत्री और प्रबन्धकर्त्ता उसको आते देखते हैं और उन्हें उसे दूर करने का प्रयत्न करने के लिये सारी अड़चनें और मिहनत उठानी पड़ती है।

प्रबन्ध सम्बन्धी विषयों में प्रतिनिधि-सभा का यह खास कर्त्तव्य नहीं है कि वह उसके विषय में अपने मत से निर्णय करे; वरंच जिनके हाथ से उसका निर्णय होना है वे योग्य पुरुष हों, इसकी सम्हाल रखना उसका कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य भी वह स्वयं नियुक्ति द्वारा पालन करने जाय, तो इसमें लाभ नहीं होने का। अमलों को नियुक्त करने से बढ़कर दूसरा कोई ऐसा काम नहीं है जिसके करने में अधिक स्पष्ट भाव से व्यक्तिगत जिम्मेवारी की प्रबल रुचि की जरूरत हो। राज-काज में प्रवीण प्रत्येक पुरुष के अनुभव से यह बात साबित होती है कि ऐसा कोई दूसरा काम शायद ही होगा कि जिस के सम्बन्ध में साधारण मनुष्यों के मन को इससे कम खटका रहता हो और जिसमें मनुष्यों को भिन्न भिन्न पुरुषों की योग्यता का भेद किसी कदर न जानने से और किसी कदर परवा न होने से उसकी अपेक्षा कम विचारा जाता हो। जहां कोई मंत्री ऐसी नियुक्ति करता है, जिसको हम प्रामाणिक मानते हैं अर्थात् जब वह व्यक्तिगत या पक्षगत स्वार्थ के

लिये सौदा नहीं करता, यहां एक अनजान मनुष्य यह सोचेगा कि मैं सब से अधिक योग्य मनुष्य को यह पद देने का प्रयत्न करूंगा। यह कुछ बात नहीं है। एक साधारण मंत्री अगर एक योग्यता वाले पुरुष को या जिसे किसी कारण से जनता पर कुछ हक हो उस पुरुष को वह पद देगा, तो वह अपने को सद्गुण की मूर्त्ति समझेगा, चाहे वह हक़ या योग्यता जैसी चाहते हों, उस से उलटी ही क्यों न हो। "चाहता हो गणित-शास्त्री तब रखा जाय नाटकी" इस कहावत में फिगारो * के समय को अपेक्षा आज भी मुश्किल से ही अधिक अतिशयोक्ति है। और नियत किया हुआ मनुष्य अच्छा नचनिया हो, तो मंत्री बेशक अपने को निर्दोष ही नहीं, वरंच गुणवान् समझता है। इसके सिवाय खास काम के लिये खास मनुष्यों को योग्य बनाने वाले गुण तो, जो उन मनुष्यों को जानता है या जो उनके किये हुए काम से या जो लोग उनके विषय में तुलना करने की हैसियत रखते हों, उनकी गवाही से उनकी परीक्षा और तुलना करने का काम ले बैठता है, वही जान सकता है। जो बड़े राज्याधिकारी अपनी की हुई नियुक्ति के लिये जिम्मेवार बनाये जा सकते हैं, वे जब इस सात्विक-धर्म की इतनी कम परवा रखते हैं, तब जिनको जिम्मेवार नहीं बना सकते,

* बोमार्शे नाम के फ्रांसीसी नाटककार के "सेविल का हजाम" और "फिगारो का ब्याह" नाम के दो प्रहसनों का नाटक। मामूली हैसियत के आदमी ने—पहिले हजाम और पीछे अर्दली होकर-जिससे काम पड़ा उस पर अपने बुद्धि-बल से सफलता पायी थी। कहा जाता है कि उस पात्र के रूप में नाटककार का उद्देश्य यह दिखाने का था कि फ्रांसीसी राज्य-विप्लव से पहिले के फ्रांसीसी राज्य की आम सभा दूसरी अथवा शिष्ट सभा से श्रेष्ठ थी।

उन सभाओं की बात क्या कही जाय? अब भी जो नियुक्ति प्रतिनिधि-सभा में समर्थन पाने के लिये या विरुद्धता दूर करने के लिये की जाती है, वह सब से खराब होती है। वही नियुक्ति अगर स्वयं सभा करे, तो उससे कैसी आशा रखी जा सकती है? बड़ी सभाएं कभी खास योग्यता की कुछ परवा नहीं करतीं। अगर कोई मनुष्य फांसी की तिकटी के योग्य नहीं होगा, तो वह प्रायः जिन जगहों की उम्मेदवारी करने को बाहर निकलेगा, उन सब के लिये करीब करीब दूसरे मनुष्यों के बराबर ही योग्य समझा जायगा। जब आम सभा की हुई नियुक्ति का निर्णय, जैसा कि प्रायः सदा होता है, पक्षपात या अपना स्वार्थ साधन के कारण से नहीं होता, तब वह जो निर्णय करती है, उसका कारण या तो यह होता है कि नियुक्त मनुष्य साधारण बुद्धि में अनेक बार अनुचित प्रतिष्ठा पाये रहता है या वह स्वयं लोकप्रिय है। इसके सिवाय और कोई अच्छा कारण नहीं होता।

यह कभी उचित नहीं समझा गया कि मंत्रीसभा के सभासदों को भी पार्लामेण्ट स्वयं नियत करे। उसका इतना ही निर्णय कर देना काफी है कि प्रधानमंत्री कौन हो या वे दो, तीन पुरुष कौन हों, जिन में से प्रधानमंत्री चुना जाय। ऐसा करने में वह सिर्फ इतनी बात स्वीकार करती है कि जिस पक्ष की राज्यनीति हमारा (पार्लामेण्ट का) समर्थन करती है, उसका उम्मेदवार एक खास पुरुष है। वास्तव में पार्लामेण्ट जो निर्णय करती है, वह इतना ही कि दो या अधिक से अधिक तीन दलों या मनुष्य संस्थाओं में से कौन राज्य-प्रबन्ध चलावे। उनमें से कौन प्रमुख स्थान पर रखने योग्य है, इसका निर्णय तो उस दल की राय ही करती है। ब्रिटिश-राज्यतंत्र की वर्तमान चाल के अनुसार ऐसा जान पड़ता है कि यह

विषय जैसा चाहिये, वैसे ही अच्छे पाये पर है। किसी मंत्री को पार्लीमेण्ट स्वयं नहीं नियुक्त करती, वरंच राजा पार्लीमेण्ट की प्रगट की हुई साधारण इच्छा और वृत्तियों के अनुसार राज्यतंत्र के प्रधान को नियुक्त करता है और प्रधान मंत्री की सलाह से दूसरे मंत्रियों को नियुक्त करता है। फिर राज्य-प्रबन्ध के दूसरे अस्थायी ओहदों पर योग्यपुरुष नियुक्त करने का अखण्ड धर्मभार प्रत्येक मंत्री के सिर पर है। जनसत्ताक राज्य में कुछ और इंतज़ाम की ज़रूरत होगी; परन्तु वह इंगलैण्ड में मुद्दत से प्रचलित चाल से जितनाही मिलता जायगा उतनाही उसका अच्छी तरह से चलना सम्भव है। या तो, जैसा कि अमेरिका के जनसत्ताक राज्य में है; प्रतिनिधि-सभा से कोई बिलकुल स्वतंत्र सत्ता राज्यप्रबन्ध के मुखिया को चुने अथवा प्रतिनिधि-सभा प्रधान मंत्री को नियुक्त कर सन्तुष्ट रहे और प्रधान मंत्री को उसके साथियों और मातहत मनुष्यों की पसन्दगी के लिये जिम्मेवार बनावे। भविष्य में इन सब विचारों के सामान्य रूप से स्वीकृत होने की मैं पूरी आशा रखता हूं। परन्तु व्यवहार में तो जिसके हाथ में सब से प्रबल सत्ता होती है, वह उसका बेहद उपयोग करने को अधिक ललचता है। इस साधारण नियम के कारण प्रतिनिधि-सभा को राज्य प्रबन्ध के सूक्ष्म विषयों में अधिक मगज़ मारने का बहुत चाव होता है और प्रतिनिधि राज्य के भविष्य अस्तित्व के जिस व्यवहारी जोखिम का जो भय रहता है, उस में से एक यह है।

परन्तु एक बड़ी संख्या की सभा प्रत्यक्ष व्यवहार की तरह प्रत्यक्ष कानून बनाने के लिये भी कम ही योग्य है। यह बात यद्यपि सिर्फ थोड़े समय से और धीरे धीरे स्वीकार की जाने लगी है तथापि यह बिलकुल सच है। कानून बनाने

का काम अनुभवी और अभ्यासी ही नहीं, वरंच लम्बे और कठिन अध्ययन से शिक्षा पाये हुए मन के मनुष्यों द्वारा होने की जितनी जरूरत है, उतनी और किसी तरह के मानसिक काम के लिये शायद ही जरूरत होगी। बहुत थोड़े मनुष्यों की सभा बिना, अच्छा कानून नहीं बन सकता। इसके लिये दूसरा कोई कारण न हो, तो इतनाही काफी है। कानून की हर एक दफा का दूसरी दफाओं पर जो असर होता है, उसको खूब बारीकी और दूरन्देशी से जांचकर बनाना उचित है। और कानून के बन जाने पर भी उस में ऐसी शक्ति होनी चाहिये कि वह पहिले के जारी कानूनों के मुआफिक आवे। यह कुछ कम निर्णायक कारण नहीं है। जब किस्म किस्म के मनुष्यों वाली सभा में कानून दफावार मंजूर किया जाय, तब इन शर्तों का किसी अंश में भी पूरा पड़ना असम्भव है। हमारे कानून, स्वरूप और रचना, दोनों अब तक ऐसी खिचड़ी हो रहे हैं कि उनके ढंग में कुछ परिवर्द्धन होने से उसकी अव्यवस्था और विरुद्धता में बढ़ने वाला हृदय असम्भव है। ऐसा अगर न होता तो कानून बनाने की ऐसी पद्धति की अयोग्यता की तरफ सब का मन खिंचे बिना न रहता। फिर भी, हमारी कानून बनाने वाली यंत्र सामग्री की अपने काम के लिये पूरी नालायकी हर वर्ष अधिक अधिक अनुभव में आने लगी है। कानून के मसविदे को यथा-विधि पार उतारने में लगे हुए एक समय के कारण ही पार्लामेण्ट छूटे छटके और सूक्ष्म विषयों के सिवाय दूसरी बातों पर कानून बनाने को अधिक अशक्त होती जाती है। जब कोई ऐसा मसविदा तय्यार होता है, जिसमें किसी समूचे विषय से सम्बन्ध लगाने का प्रयत्न हुआ हो (और समूचा विषय दृष्टि के सामने रखे बिना उसके किसी

भाग पर उचित कानून बनाना असम्भव है) तो उसका फैसला करने योग्य समय न मिल सकने से वह बारम्बार मुल्तवी हुआ करता है। उस मसविदे को, सब से योग्य गिने जाते हुए प्रतिष्ठित पुरुषों ने सभी साधनों और साहित्य की भी सहायता लेकर और उस विषय में अपनी प्रवीणता के लिये प्रसिद्धि पायी हुई शिष्ट सभाओं ने उस पर चर्चा चलाकर, सुगठित करने में वर्षों बिताया और विचारपूर्वक उसे रचा हो, तो भी कुछ बात नहीं। आम सभा अपने अनाड़ी हाथ से उस में नुक्ताचीनी करने का अपना अनमोल हक़ छोड़ेगी नहीं, इससे वह मंजूर नहीं हो सकता। कुछ दिनों से कुछ कुछ यह रिवाज जारी हुआ है कि दूसरी पेशी में मसविदे का मूलतत्त्व प्रगट हो जाने पर वह पूर्णरूप से विचारने के लिये एक खास समिति को दिया जाता है; परन्तु इस रिवाज से कुछ, पीछे से समूची सभा की कमेटी (कार्य्यकारिणी-सभा) में मंजूर कराने में कम समय लगता नहीं जान पड़ा है; जो राय या तरंग ज्ञान के सामने नहीं टिकने पाती, वह अज्ञान की अदालत में फिर ज़ोर लगाने का सदा आग्रह करती है। यह खास समिति का रिवाज भी अवश्यही मुख्य करके अमीर सभा ने स्वीकार किया है। क्योंकि उसके सभासद प्रतिनिधि-सभा के सभासदों की अपेक्षा मगज लड़ाने में कम आग्रही और तत्पर हैं और व्यक्तिगत मत की कम परवा रखते हैं। और जब बहुत दफाएं वाला मसविदा सविस्तार आलोचित होने में सफलता पाता है, तब वह किस स्थिति में कमेटी से बाहर निकलता है, इसका वर्णन करना असम्भव है। जो दफाएं दूसरी दफाओं के अमल में लाये जाने के लिये आवश्यक हैं, वे ही निकल गयीं, कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ की या मसविदा को सड़ाते रहने की

धमकी देनेवाले किसी तरंगी सभासद का समाधान करने के लिये कुछ बेमेल दफायें जुड़ गयीं। उस विषय को सिर्फ एक नाक से सूँघे हुए किसी अर्द्धदग्ध की दरख़ास्त पर दरख़ास्त करने वाले या उसका समर्थन करने वाले सभासदों को तत्काल न सूझी हुई और उनकी डाली हुई गड़बड़ सुधारने के लिये दूसरी ही बैठक में तरमीम की दफा पेश करनी पड़ी। इस विषय की व्यवस्था करने की हाल की पद्धति का एक दोष यह है कि जिनके मन से यह मसविदा और उसकी भिन्न भिन्न धारायें निकली होती हैं, उनको सम्भवतः सभा में स्थान न मिलने से वे अपना समर्थन और बचाव करने का काम मुश्किल से ही कर सकते हैं। जिस मंत्री या पार्लीमेण्ट के सभासद पर उसके समर्थन का भार होता है, उसने उसको बनाया नहीं, उसे साफ दिखाई देने वाली दलीलों के सिवाय दूसरी बातों के लिये ज़बानदराज़ी पर भरोसा रखना पड़ता है, वह अपने विषय का सम्पूर्ण बल और उसके समर्थनकारी सब से श्रेष्ठ कारणों को नहीं जानता और अनसोचे उज्रों का जवाब देने में बिलकुल असमर्थ होता है। सरकारी मसविदे के सम्बन्ध में तो इस दोष का उपाय होना सम्भव है और कितने ही प्रतिनिधि राज्यतंत्रों में सरकार के विश्वास के मनुष्यों को दोनों सभाओं में उपस्थित होने की अनुमति और मत देने का नहीं, तो बोलने का हक़ देकर इसका उपाय किया गया है।

आम सभा (House of commons) का जो अब भी बड़ा भाग कभी तरमीम कराना या व्याख्यान देना नहीं चाहता, वह अगर अब से यह सोचे कि काम की सारी व्यवस्था जो लोग अपने हाथ में रखना चाहते हैं उनके हाथ में न रहने दें; वह अगर अपने मन में यह विचारे कि कानून बनाने के लिये वाचाल जिह्वा

और मत-समिति से चुनने की शक्ति की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ गुण विद्यमान है और ढूँढ़ने से मिल सकता है; तो शीघ्रही यह स्वीकार हो कि प्रबन्ध तथा कानून के विषय में भी प्रतिनिधि-सभा को, जो एक ही काम के लिये योग्य हो सकती है, स्वयं काम नहीं करना है, वरंच कराना है; किसको और कैसे मनुष्यों को वह काम-सौंपे, यह निश्चय करना है और तैयार होने पर राष्ट्रीय सम्मति देना या मौकूफ रखना है। एक ऊंचे दरजे की सभ्यता के योग्य राज्य-तंत्र को तो अपने एक मूल अंग के तौर पर कानून बनाने के नियमित अधिकार वाली कानून सभा के रूप में एक छोटी और अधिक से अधिक मंत्री सभा के बराबर सभासदवाली समिति रखनी चाहिये। इस देश के कानूनों का पुनरवलोकन कर के शृङ्खलाबद्ध स्वरूप में रखें और ऐसा अवश्य शीघ्र ही होगा तो यह काम करने वाली कानून सभा उस पर निगाह रखने के लिये, उसमें दोष घुसने से रोकने के लिये, और जब जब जरूरतें मालूम हों तब अधिक सुधार करने के लिये, एक स्थायी विभाग के तौर पर रहनी चाहिये। यह तो कोई चाहेगा नहीं कि इस सभा को अपनी मरजी से कोई कानून बनाने का अधिकार रहे; कानून सभा सिर्फ उसके गठन में कुशलता के तत्व का समावेश करेगी; संकल्प का तत्व तो पार्लीमेंएट में ही रहेगा। पार्लीमेंएट की साफ मंजूरी बिना कोई भी मसविदा कानून नहीं हो सकेगा और पार्लीमेंएट या प्रत्येक सभा को मसविदा रद करने की ही नहीं, वरंच पुनरवलोकन या सुधार के लिये उसे कानून सभा में वापस भेजने की सत्ता रहेगी। फिर प्रत्येक सभा अपनी आरम्भिक सत्ता के रू से कोई विषय कानून सभा के सामने पेश कर उसका कानून बनाने की

सलाह दे सकेगी। अलबत्ता देश जो कानून मांगे, उस में हाथ लगाने से इनकार करने का अख्तियार कानून सभा को नहीं रहेगा। कोई खास उद्देश्य साधने के लिये मसविदा बनाने के विषय में, दोनों सभाओं के स्वीकार किये हुए परामर्श कानून सभा को मानने पड़ेंगे। नहीं तो वह अपने पद से इस्तेफा दाखिल करे। इतना होने पर भी जब मसविदा एक चार तय्यार हो जाय, तब पार्लामेण्ट को उसमें फेर-बदल करने की नहीं, वरंच उसे सिर्फ मंजूर या रद्द करने की सत्ता होनी चाहिये। अथवा जो भाग नापसन्द हो उसे फिर से विचारने के लिये कानून सभा के पास वापस लौटाने की सत्ता होनी चाहिये। कानून सभा के सभासदों को राजा नियुक्त करे, परन्तु उनका अधिकार किसी खास मुद्दत तक हो, जैसे पांच वर्ष। फिर भी (जैसा कि न्यायाधीशों के विषय में है) उनकी ओर से अनुचित व्यवहार हो या वे पार्लामेण्ट की आज्ञा के अधीन होकर मसविदा बनाने से इन्कार करें और इस कारण से पार्लामेण्ट की दोनों सभाओं की ओर से विनती की जाय, तो उनको हटा सकें। जो अपना कर्त्तव्य पालने के योग्य न साबित हुआ हो, उससे छुटकारा पाने और सभा में नया और जवानी का जोश भरने का सुगम मार्ग पाने के लिये पांच वर्ष पूरा होने पर जो सभासद फिर से न चुना जाय, उसका अधिकार बन्द होना चाहिये।

एथिनियन जनसत्ताक राज्य में भी कुछ इस से मिलती जुलती धारा की जरूरत जान पड़ी थी। क्योंकि उसके सम्पूर्ण प्रभाव के समय में एकलीशिया या लोक-सभा सेफिज्य (बहुत करके राज्य-नीति के विषय में फुटकर बातों पर प्रस्ताव) मंजूर करती। परन्तु वास्तव में कानून तो प्रतिवर्ष बार बार नियुक्त होने वाली नोमोथीरी नाम की अलग और कम संख्या

की सभा ही बना या बदल सकती थी और समूचे कानून का पुनरवलोकन करने और उसका परस्पर सम्बन्ध बनाये रखने का काम भी उसी का था। स्वरूप और तत्व दोनों में नया, ऐसा कोई प्रबन्ध अंगरेजी राज्य-तंत्र में दाखिल करना बहुत मुश्किल होता है। परन्तु चलते रीति रिवाजों का रूप पलट कर नया उद्देश्य साधने में अपेक्षाकृत कम विरोध होता है। मुझे ऐसा लगता है कि राज्यतंत्र की सम्पति में इस बड़े सुधार के बढ़ाने का उपाय अमीर सभा (House of Lords) की यंत्र सामग्री द्वारा हो सकेगा। मसविदा तैयार करने वाली (कानून) सभा कुछ स्वयं निराश्रित कानून के प्रबन्ध की व्यवस्थापक सभा या बोर्ड (Board) व्यवस्थापक सभा की अपेक्षा राज्यतंत्र में नया प्रचार करने वाली नहीं मालूम होगी। अगर इस काम की भारी आवश्यकता और महत्ता पर ध्यान रख कर ऐसा नियम बनाया जाय कि कानून-सभा में नियुक्त किया हुआ प्रत्येक सभासद् जब तक पार्लामेण्ट की प्रार्थना द्वारा अधिकार से अलग न किया जाय, तब तक वह जिन्दगी भर अमीर (Lord) गिना जाय, तो सम्भव है कि अमीर सभा जिस अच्छी समझ और योग्यता से काम लेकर, अपना न्याय सम्बन्धी कर्त्तव्य खासकरके कानून जानने वाले अमीरों के हवाले कर देती है, उसे वह राजनीतिक मूल तत्व और लाभ सम्बन्धी प्रश्नों के सिवाय कानून बनाने का काम व्यवहार कुशल कानून बनाने वालों के हवाले करने में लगा देगी। ऊपर वाली (अमीर) सभा में छिड़ने वाले सभी मसविदे उनके हाथ से बनेंगे; सरकार अपने सारे मसविदे बनाने का काम उन्हें सौंपेगी और आम सभा (House of Commons) के गैर सरकारी सभासदों को भी धीरे धीरे यह मालूम पड़ेगा कि वे भी अगर अपना मसविदा तैयार कर सीधे सभा

के सामने पेश करने के बदले, कानून सभा के पास राय के लिये भेजने की परवानगी हासिल करेंगे, तो सुबीता होगा और उनकी दरखास्त आसानी से मंजूर होने की सम्भावना रहेगी। क्योंकि सभा को अपनी तरफ से सिर्फ कोई विषय नहीं, वरंच जब कोई सभासद यह सोचे कि वह स्वयं कोई खास दरख्वास्त या सविस्तर कानून का मसविदा तैयार करने को शक्तिमान है, तब वह दरख्वास्त या मसविदा भी उस सभा के पास विचारार्थ भेजने की अवश्य ही छूट रहेगी; और जैसे कोई विषय कानून सभा के हाथ से निकल-ने पर किसी सभासद द्वारा उसके ऊपर लिखावट में पेश की हुई कोई तरमीम या उज्र होगा, तो वह सभा उसे कानून सभा के पास भेजेगी, वैसे ही वह इस तरह का हर एक मसविदा भी सिर्फ साहित्य की सामग्री के तौर पर और उस में समाये हुए लाभ की खातिर ही होगा, तो भी उसके पास अवश्य भेजेगी। सारी सभा की कार्य-समिति के हाथ से होने वाला मसविदे का फेर-बदल कानून न रद होने से नहीं, वरंच निरुपयोग से बंद हो जायगा। और यह हक मारा नहीं जायगा, वरंच राजनिषेध आय रोकने का हक और राजनीतिक युद्ध की ऐसी ऐसी दूसरी सामग्री, जिसका उपयोग होना कोई देखना नहीं चाहता, परन्तु क्या जाने किस मौके पर उसकी जरूरत पड़े, इस ख्याल से उसे कोई भी नहीं देना चाहता; उसके साथ एक ही आयुधशाला में ऊंचे पड़ा रहेगा। इसके ऐसे इन्तजाम से कानून बनाने का काम कुशल उद्योग और खास अभ्यास तथा अनुभव के काम की अपने योग्य पदवी धारण करेगा और जन समाज की सबसे आवश्यक स्वतंत्रता, अर्थात् अपनी पसंद के प्रतिनिधियों के मंजूर किये हुए कानून के अनुसार ही अपने ऊपर हुकूमत

चलने देने की स्वतंत्रता, पूर्णतया बनी रहेगी और इस समय इसमें जो अज्ञान और बेढङ्गा कानून बनाने की रीति के रूप में गम्भीर, परन्तु निवार्य विघ्न हैं, उनसे छुटकारा पा जाने पर अधिक कीमती होंगे।

चूंकि प्रतिनिधि सभा राज्य-प्रबन्ध चलाने के काम के लिये जड़ से ही अयोग्य है, इस लिये उसका कर्त्तव्य यह है कि वह राज्य प्रबन्ध पर निगरानी और अंकुश रखे, उसकी कारवाइयों को प्रकाशित करावे; उनमें से जिस कारवाई पर कोई मनुष्य सन्देह करे, उसके विषय में खुलासा तौर पर कारण दिखाने को लाचार करे। अगर वह निन्दा योग्य ठहरे तो उसके लिये उलहना दे और अगर राज्यतंत्र के अधिकारी अपने अधिकार का अनुचित उपयोग करें या उससे इस तरह काम लें कि वह जनता के दृढ़ संकल्प के विरुद्ध जाय, तो उनको अधिकार से अलग करे और उनके स्थान में स्वयं प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से नयी नियुक्ति करे। यह बेशक पुष्कल सत्ता है और इससे जनता की स्वतंत्रता की रक्षा यथेष्ट रीति से होती है। इसके सिवाय पार्लीमेण्ट को जो एक दूसरा अधिकार है, उसकी आवश्यकता इससे भी घट कर नहीं है; और वह है जनता की कष्ट निवारिणी मण्डली और अभिप्राय समाज होना। इसकी रंगभूमि पर जनता का साधारण अभिप्राय ही नहीं, वरंच उसकी प्रत्येक श्रेणी का यथासाध्य अपने में विद्यमान प्रत्येक नामी पुरुष का अभिप्राय भी सम्पूर्ण प्रकाश में आ कर विचार के लिये आह्वान करा सकता है; यहां देश का प्रत्येक मनुष्य अपने मन का विचार स्वयं जिस खूबसूरती के साथ प्रगट कर सकता है, उसी खूबसूरती से या उससे भी अच्छी रीति से मित्रों और पक्षपातियों के सामने ही नहीं; वरंच विरुद्धवाद की कसौटी

पर कसे जाने के लिये प्रतिपक्षियों के सामने भी प्रगट करने योग्य कोई पुरुष मिल जाने का भरोसा किया जा सकता है; वहां जिसकी राय मंजूर नहीं होती, उसको भी यह जान कर संतोष होता है कि वह सुनी गयी है और मनमानी चाल से नहीं, बल्कि जनता के बड़े भाग के प्रतिनिधि द्वारा बहुत श्रेष्ठ माने हुए तथा इससे पसन्द किये हुए कारणों से वह नामंजूर की गयी है; वहां देश का प्रत्येक पक्ष या अभिप्राय अपना बल संग्रह कर सकता है और अपने पक्षपातियों की संख्या या शक्ति के विषय में अपना भ्रम दूर कर सकता है; वहां यह प्रगट होता है कि देश में प्रचलित अभिप्राय स्वयं प्रवर्तमान है और सरकार के सामने अपनी सेना व्यूह-बद्ध कर के खड़ा करता है और इस प्रकार अपना बल वास्तव में न बरत कर सिर्फ उसे दिखा कर उसे (सरकार को) पीछे पीछे हटने का मौका देता है और लाचार करता है; वहां राजनीतिक पुरुष अन्य किसी चिन्ह की अपेक्षा निश्चय पूर्वक विश्वास कर सकते हैं कि अभिप्राय और सत्ता के कौन कौन तत्व बढ़ते और कौन कौन लय होते जाते हैं और इस से वर्तमान आवश्यकताओं से ही नहीं, वरंच बढ़ते कर्मों पर भी कुछ ध्यान देकर आगे कदम बढ़ाने को समर्थ होते हैं। प्रतिनिधि-सभा के शत्रु अकसर यह शिकायत करते हैं कि वह सिर्फ बातचीत करने और शोर गुल मचाने की जगह है। इस से बढ़कर भूल भरी हंसी की बात शायद ही कोई होगी। जब बातचीत का विषय देश के लिये बड़ा भारी राजनीतिक लाभ है और उसका प्रत्येक वाक्य राष्ट्र की किसी जरूरी सभा का या ऐसी किसी सभा के विश्वास पात्र पुरुष का अभिप्राय प्रगट करता है, तब मैं नहीं जानता कि प्रतिनिधि

सभा बातचीत में लगे रहने से बढ़कर और अच्छा काम क्या कर सकती है। जिस स्थान में देश के प्रत्येक लाभ और अभिप्राय के सम्मुख रहकर जोश के साथ भी विचार कर सकते हैं और उसको सुनने और मंजूर करने या नामंजूर करने का कारण स्पष्ट रीति से बताने को लाचार कर सकते हैं, वह स्थान और कोई उद्देश्य न साधता हो तो भी वह चाहे जहां हो, एक सब से आवश्यक राजनीतिक तंत्र है और स्वतंत्र-राज्यतंत्र का सब से मुख्य लाभ है। अगर 'क्रिया' ही न बन्द करदी जाय तो ऐसी बातचीत कभी घृणा की दृष्टि से नहीं देखी जायगी; और क्रिया कभी बन्द नहीं होगी बशर्ते कि सभाएं जानें और स्वीकार करें कि उनका खास काम बातचीत और चर्चा करना है। परन्तु चर्चा का परिणाम जो क्रिया है, वह खिचड़ी बनी हुई सभा का नहीं, वरंच उसमें ख़ास तौर पर शिक्षा पाये हुए पुरुषों का काम है और। सभा का उचित कर्त्तव्य यह है कि वह इस बात का ख्याल रखे कि वे पुरुष ईमानदारी और प्रवीणता से पसन्द किये जायँ और निरंकुश छूट से सलाह देने और टीका-टिप्पणी करने तथा उस पर राष्ट्रीय अनुमति की अन्तिम मुहर लगाने या उसे रोकने के सिवाय उनके काम में अधिक हस्तक्षेप न करें। लोक सभाएं स्वयं जो काम अच्छी तरह नहीं कर सकतीं उसे करने का—शासन करने और कानून बनाने का—जो प्रयत्न करती हैं और बातचीत में खर्च होने वाला हर एक घंटा असली काम में से खारिज होते रहने पर भी, अपने बहुतेरे कामों के लिये अपने सिवाय और कोई यंत्र सामग्री संग्रह नहीं करतीं, वह इस वास्तविक अंकुश के न रखने से ही। परन्तु जिस कारण से ऐसी सभाएं कानून बनाने वाली सभा के अयोग्य ठहरती हैं, उसी कारण से वे दूसरे

कामों के लिये अधिक योग्य ठहरती हैं। जैसे, वे देश के सब से श्रेष्ठ मन का समूह नहीं हैं कि उनके अभिप्राय से राष्ट्र के अभिप्राय के सम्बन्ध में कुछ निश्चित अनुमान लगाया जा सके; परन्तु जब उनका योग्य रीति से ग्रान हुआ रहता है, तब वे राज-काज में मत का कुछ भी अधिकार रखने वाली जनता की प्रत्येक श्रेणी की बुद्धि का अच्छा नमूना दिखाती हैं। उनका कर्त्तव्य यह है कि अभाव प्रगट करें, लोगों की जरूरतों का डंका बजावें और छोटे बड़े सब राजनीतिक विषयों में सब प्रकार के अभिप्रायों के लिये विरुद्ध चर्चा का स्थान बनें और उसके साथ नुक्ताचीनी करके और अन्त में अपनी सहानुभूति रोक कर जो बड़े अधिकारी स्वयं प्रबन्ध करते हों या प्रबन्ध करने वाले को नियुक्त करते हों उनको अंकुश में रखें। प्रतिनिधि सभाओं के कर्त्तव्यों की यह स्वाभाविक सीमा घटाये बिना सामाजिक अंकुश का लाभ (जिस कदर मनुष्य कार्य्य व्यवहार की पंक्ति में चढ़ता जाता है और उलझन में फंसता जाता है, उसी कदर आवश्यकता में निरंतर बढ़ते हुए) चालाक कानून की रचना और राज्य-प्रबन्ध के इतने ही आवश्यक तत्वों के समागम में नहीं भोगा जा सकेगा। यह लाभ एकत्र पाने का एक ही उपाय है, वह यह है कि जो एक लाभ की ज़मानत देता है उस कर्त्तव्य को, जिसमें दूसरे की अवश्य जरूरत है उससे अलग करे, अर्थात् अंकुश और टीका टिप्पणी का काम प्रत्यत्त कार्य्य-व्यवहार से अलग करे और पहिला काम बहुतों के (जनसमूह) के प्रतिनिधियों के सिर रखे तथा दूसरे के लिये खास तौर पर शिक्षा और अनुभव पाये हुए कुछ लोगों का निपुण ज्ञान और व्यवहार कौशल प्राप्त करके उन्हें राष्ट्र की कड़ी जवाबदेही के तले रखे।

जो कर्त्तव्य जनता की सर्वोपरि प्रतिनिधि-सभा के सिर पड़ने चाहियें उनके विषय में उपर्युक्त विवेचन करने के बाद स्थानिक उद्देश्यों के लिये जो छोटी छोटी प्रतिनिधि-सभाएँ होनी चाहियें उनको खास तौर पर सौंपने योग्य कर्त्तव्यों की जांच-पड़ताल करने की ज़रूरत जान पड़ेगी। और यह जांच-पड़ताल इस ग्रन्थ का एक आवश्यक भाग है। परन्तु कई कारणों से, कानून बनाने और जन-समाज के साधारण कार्य्य-प्रबन्ध के ऊपर सर्वोपरि सत्ता के तौर पर अंकुश रखने को नियुक्त इस महान् प्रतिनिधि सभा के सब से योग्य गठन के विषय में जब तक विचार करते हैं, तब तक के लिये इस जांच-पड़ताल को मुलतवी रखना जरूरी है।

छठवां अध्याय।

प्रतिनिधि शासन के सिर का दोष और भय।

शासन पद्धति की त्रुटियां अकारण या सकारण होती हैं। जब वह राज्य प्रबन्ध के आवश्यक कर्त्तव्य पालने के लिये अधिकारियों के हाथ में यथेष्ट सत्ता नहीं देती या पृथक् पृथक् नागरिकों की उत्साही शक्तियों और सामाजिक वृत्तियों को अभ्यास द्वारा खिलने नहीं देती, तब उसमें अकारणत्रुटि है। परन्तु हमारी जांच-पड़ताल की वर्त्तमान स्थिति में इन दो में से किसी विषय पर बहुत कहने की जरूत नहीं है।

जनता में नियम जारी रखने के लिये और उन्नति-मार्ग खुला रखने के लिये यथेष्ट सत्ता सरकार के हाथ में न होने की सम्भावना किसी खास पद्धति के राजनीतिक गठन में नहीं, वरंच साधारणतः जंगली और जड़स्थिति की जनता

में होती है। लोगों को जब जंगली स्वतंत्रता पर इतना अधिक प्रेम होता है कि उनको अपने हित की खातिर जितनी सत्ता के वश रहने की जरूरत है, उतनी वे बरदाश्त नहीं कर सकते, तब (जैसा कि हम कह चुके हैं) सामाजिक स्थिति अभी तक प्रतिनिधि-शासन के लिये तय्यार नहीं। जब इस राज्य-तंत्र के लिये समय आया होता है, तब सब जरूरी कामों के लिये सर्वोपरि सत्ता के हाथ में यथेष्ट अधिकार आये बिना नहीं रहता; और शासन विभाग को जो काफी सत्ता नहीं सौंपी जाती उस का कारण सिर्फ उस के प्रति सभा की ईर्ष्या-वृत्ति ही हो सकती है। और यह वृत्ति भी, जहां शासन-विभाग को अधिकार से हटाने की सभा की सत्ता अभी प्रतिष्ठित नहीं हुई है, वहीं होती है। इस के सिवाय उस का अस्तित्व कभी सम्भव नहीं है। जहां जहां यह राजनीतिक सत्ता तत्वतः स्वीकृत होती है और व्यवहार में सम्पूर्ण प्रभाव शाली होती है, वहां इस बात का भय नहीं रहता कि सभा अपने मंत्रियों को वास्तविक अभीष्ट सत्ता चाहे जिस कदर सौंपने में नाराज होगी; भय उलटे यह है कि यह सत्ता वह कभी बेहद खुशी से बेहद सीमा में न दे दे। क्योंकि मंत्री की सत्ता उसे मंत्री बनाने वाली और बहाल रखने वाली सभा की सत्ता है। इतने पर भी बहुधा यह सम्भावना रहती है कि अंकुश रखने वाली सभा पहिले सत्ता देने में उदारता दिखावेगी और पीछे से उस का अमल होते समय हस्तक्षेप करेगी; इकट्ठी सत्ता सौंप देगी और प्रबन्ध के काम में बार बार टांग अड़ा कर टुकड़े टुकड़े कर के लौटा लेगी। परन्तु यह उस के लिये एक जोखिम है। राज्य-प्रबन्ध चलाने वाले पर टीका-टिप्पणी करने और अंकुश रखने के बदले राज्य प्रबन्ध का असली काम साधारण करने से होने वाले अनर्थों

के विषय में पिछले अध्याय में पूरी आलोचना की गयी है। इस अनुचित हस्तक्षेप की हानिकारक प्रकृति का, सभा के मन में दृढ़ सामान्य निश्चय होने के सिवाय, इस से बचने का दूसरा कोई उपाय करना स्वाभाविक रीति पर असम्भव है।

जनता के पृथक् पृथक् मनुष्यों की सात्विक और उत्साही शक्तियों को यथेष्ट अभ्यास न करने देने का जो दूसरा अकारण दोष राज्यतंत्र में हो सकता है, उसे निरंकुश राज्य के लाक्षणिक दोषों का विवेचन करते हुए साधारण रीति पर दिखाया है। चूंकि जन-सम्मत राज्य की भिन्न भिन्न पद्धतियों में भेद होता है, इस लिये जिस में इस विषय में लाभ है वह पद्धति यह है—जो पद्धति एक ओर सब से कम मनुष्यों को मत देने के हक से वंचित कर के और दूसरी ओर गैर-सरकारी नागरिकों की सब श्रेणियों के लिये न्याय और शासन के काम में, जहां तक कि दूसरे उतने ही आवश्यक उद्देश्यों में रुकावट न पड़े, सब से विशाल भाग लेने का मार्ग खुला छोड़ कर—जैसे जूरी (पंचायती) न्याय जारी कर, शहर सुधार के ओहदों पर नियत कर और सब से बढ़ कर यथाशक्ति समाचार-प्रचार और विचार की स्वतंत्रता देकर राज-काज का प्रबन्ध सब से अधिक विस्तार में फैलाती है कि जिस से क्रम से थोड़े ही मनुष्य नहीं, वरंच किसी अंश में सारी जनता राज्य-शासन में हिस्सेदार हो और उस से मिलने वाली शिक्षा और मानसिक अभ्यास की भोक्ता बने, वह पद्धति इस विषय में लाभकारी है। इन लाभों का और जिस सीमा में रह कर उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये उस का, अधिक स्पष्टीकरण, हम जब तक शासन की सूक्ष्म बातों पर न आवें तब तक, मुलतवी रखना ही अच्छा है।

प्रतिनिधि-पद्धति और प्रत्येक पद्धति के सकारण दोष और

भय को दो भागों में बांट सकते हैं। पहिला अंकुश रखने वाली संस्था में साधारण अज्ञान और अशक्ति या अधिक नरमी से कहें, तो अपूर्ण मानसिक गुण, दूसरा जनता के साधारण हित के साथ एक रूप न होने वाले लाभों के उस के वश हो जाने का भय।

इनमें से पहिले, अर्थात् ऊँचे मानसिक गुणों में अपूर्णता के दोष के लिये, साधारण तौर पर यह सोचा जाता है कि प्रतिनिधि राज्य में दूसरे किसी की अपेक्षा उसकी सम्भावना अधिक है। एक योग्य जनसत्ताक राज्य की भी अदृढ़ता और अदूरदर्शिता से तुलना करने में निरंकुश राजा का उत्साह और शिष्टवर्ग की दृढ़ता और दूरदर्शिता बहुत बढ़ चढ़ कर समझी जाती है। फिर भी, वे सिद्धान्त, जैसा कि पहिली दृष्टि से दिखाई देते हैं वैसी अच्छी नींव पर किसी तरह से नहीं हैं।

शुद्ध निरंकुश—स्वेच्छाचारी राज्य की तुलना में प्रतिनिधि राज्य इन दो विषयों में कुछ घटिया नहीं है। जंगली जमाने के सिवाय, जब वंश परम्परा की राजसत्ता वास्तव में राजसत्ता ही होती है, कुछ वेषधारी शिष्टसत्ता नहीं होती, तब यह जनसत्ताक राज्य के लक्षणों में गिनी जाने वाली सब तरह की नालायकी में जनसत्ताक राज्य से बहुत बढ़ जाती है। मैं जो 'जंगली जमाने के सिवाय' कहता हूं इसका कारण यह है कि जनता की असली जंगली अवस्था में, राजा में मानसिक और उत्साही शक्ति होने का बहुत भरोसा रहता है। उस की प्रजा और प्रजा के प्रबल पुरुषों के हठ द्वारा उस के निज के संकल्प में बार बार बाधाएं पड़ती हैं। जनता की स्थिति ऐसी नहीं होती कि राजा को मौज शौक करने का बहुत अवसर मिले; मानसिक और शारीरिक उत्साह, विशेष कर

राजनीतिक और सैनिक उत्साह उस की मुख्य प्रवृत्ति है; उपद्रवी सरदारों तथा स्वच्छन्दी सहचरों के बीच उस को थोड़ी ही सत्ता होती है और उस में अगर निज का साहस, चंचलता और उत्साह अधिक न हो, तो उस की राजगद्दी भी मुश्किल से ही बहुत समय तक निरापद रहती है। हमारे इतिहास के हेनरियों * एडवर्डों †और दूसरे रिचार्ड‡के दुःखान्त परिणाम में और जोन ' और उस के निकम्मे उत्तराधिकारी * * के राज्यों की घराऊ लड़ाई और उपद्रव में यह बात दिखाई देगी। धर्म-विप्लव † † के अव्यवस्थित समय में भी कुछ उत्कृष्ट राज्यकर्त्ता ‡ ‡ एलिजाबेथ, चौथा हेनरी और गस्टेवस

---

* हेनरी पहिला (११००-११३५) दूसरा (११५४-८९), चौथा (१३९९-१४१३) पांचवा (१४१३-२२), सातवां (१४८५-१५०९) यह बड़ा बहादुर और होशियार राजा था। † एडवर्ड पहिला (१४८५-१५०९) तीसरा (१३२७-७७) चौथा (१४६१-८३) यह भी बड़ा बहादुर और चतुर राजा था ‡ (१३०७-२७) इसको इसके लड़के ने गद्दी से उतार कर कैदखाने में डाल दिया था और वहीं मार डाला था। ' (११९९-१२१६) लोगों ने इसका सामना करके इससे महान् लेख (अंगरेजी स्वतंत्रता के आधार रूप राज-लेख) लिखा लिया था। * * उसके बाद गद्दी पर बैठनेवाला हेनरी तीसरा। (१२१६-७२) इसके समय में भी राज्य में बखेड़ा हुआ करता था, जब इसका लड़का एडवर्ड (पहिला) बालिग होकर इसका मददगार हुआ, तब उपद्रव रुका। † † धर्म सम्बन्धी उथल-पुथल अर्थात् कृस्तानी धर्म में से प्रोटेस्टैंट मत का निकलना। ‡ ‡ एलिजाबेथ इंगलैण्ड की रानी (१५५८-१६०३) इसने इंगलैण्ड को धर्म की लड़ाई से अलग रखा, और स्पेन के राज्य

एडोल्फस हो गये; परन्तु वे बहुत कर के विपत्ति में पले थे और निकटस्थ उत्तराधिकारियों के अनसोचे अभाव से गद्दी पर बैठे थे, अथवा उन को अपने राज्य के आरम्भ में भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। युरोपियन जीवन ने जब से सुव्यवस्थित रूप धारण किया है, तब से वंश परम्परा के राजाओं में मध्यम से अधिक शक्ति अतिशय विरल हो गयी है और बुद्धि और उत्साही प्रकृति के विषय में साधारण औसत मध्यम से भी घट कर है। असल में निरंकुश राजसत्ता तो अब (किसी चंचल प्रकृति के जबरदस्त राजा के हाथ में कुछ दिन रहने के सिवाय) केवल स्थायी अधिकारीवर्ग के मानसिक गुणों द्वारा ही टिक सकती है। रूसी और आस्ट्रियन राज्यतंत्र और अपनी वास्तविक स्थिति में फ्रांसीसी राज्यतंत्र भी अधिकारियों के शिष्टराज्य * हैं और राज्य का प्रधान तो मुखियों को पसन्द करने के सिवाय बहुत थोड़ाही करता है। मैं उनके राज्यप्रबन्ध के नियमित क्रम के विषय में कहता हूं। क्योंकि उनके कितने ही खास कामों का निर्णय अलबत्ता स्वामी की इच्छा ही करती है।

इतिहास में जो राज्यतंत्र कार्य्य-व्यवहार में अचल मान-

की बड़ी समुद्री चढ़ाई से बचाया—चौथा हेनरी फ्रांस का राजा (१५८९-१६१०) यह बड़ा पराक्रमी और सुधारक राजा था। *गस्टेवस एडोल्फस, स्वीडन का राजा* (१६११-३२) स्वीडन में सुधार किया, प्रोटेस्टेंट की तरफ से जर्मनी में लड़ने गया था और दो लड़ाइयों में बड़ी बहादुरी दिखा कर विजय पायी थी।

* अमीर जैसे ऊंचे दरजे के लोगों का राज्य—रोम का जनसत्ताक अथवा शिष्टराज्य (ईसवी सन् से पूर्व ५१०-२७) वेनिस का *शिष्ट राज्य* (६९७-११०१)

सिक शक्ति और उत्साह के लिये प्रख्यात हुए हैं, वे शिष्टराज्य थे। परन्तु वे विना किसी अपवाद के सार्वजनिक अधिकारियों के शिष्टराज्य थे। शासन-सभा ऐसी छोटी थी कि उसका प्रत्येक मनुष्य और अधिक नहीं तो प्रत्येक दल वाला मनुष्य राज-काज को एक असली धन्दा और अपनी जिन्दगी का मुख्य धन्दा बना लेने को समर्थ था और ऐसा ही करता था। जिन शिष्ट अभिजात राज्यों ने बहुत समय तक ऊंचे दरजे का राज्य चलाने की शक्ति प्रगट की है और राज्यनीति के अचल नियमों के अनुसार वर्ताव किया है, वे रोम और वेनिस के थे। वेनिस में यद्यपि हकदार दल की संख्या अधिक थी तथापि राज्यकार्य्य का वास्तविक प्रबन्ध तो शिष्टवर्ग में से छोटे से शिष्ट दल के हाथ में बिलकुल सिकुड़ा हुआ था और वे लोग अपनी सारी जिन्दगी राज्यकार्य्य के अभ्यास और प्रबन्ध में अर्पण करते थे। रोम के राज्यतन्त्र में हमारे जैसे खुले * शिष्टराज्य का अधिक गुण था। परन्तु असल में राज्य करनेवाली सभा सिनेट * * (वृद्धसभा) तो उन्हीं मनुष्यों की बनी हुई थी जो अशक्ति और निष्फलता के अन्त में अपने सिर पर भारी जिम्मेवारी उठाने का जोखिम रखकर राज-काज किये रहते और राज्य का ऊँचा अधिकार भोगे रहते या भोगने की आशा रखते थे।

* अर्थात् जिसमें दाखिल होने में किसी के लिये मी शर्त न हो, सब अपनी योग्यता से दाखिल हो सकें। * * रोम में दो राज्य सभाएं थीं। एक साधारण काम के लिये सब रोमनों की लोक-सभा और दूसरी राज्य का प्रबन्ध चलानेवाली, अनुभवी और कुशल पुरुषों की बनी हुई सभा इसमें मुख्य करके बूढ़े मनुष्य दाखिल होते थे, इससे वह सिनेट अर्थात् वृद्ध-सभा कहलाती थी।

जहां एक बार वृद्ध-सभा के सभासद हुए कि उनकी जिन्दगी राज काज के प्रबन्ध के लिये अर्पण हो चुकी; उन्हें किसी राज-काज के सिवाय बाहर जाने के सिवाय इटली छोड़ने की भी अनुमति न थी। और अगर उनकी प्रतिष्ठा में दाग लगाने वाले किसी लक्षण या बर्ताव के लिये मेम्बर उनको वृद्ध-सभा से पहिले ही निकाल न देते, तो उन की सत्ता और जिम्मेवारी जिन्दगी के अन्त तक रहती। ऐसे गठन वाली शिष्टसभा का प्रत्येक सभासद, जो उन सत्ताक राज्य का स्वयं प्रबन्ध करता, उस के मान और प्रतिष्ठा में और उस के सलाहित में जो भाग लेने को समर्थ होता, उस में अपना व्यक्तिगत महत्व पूर्णरूप से बंधा हुआ समझता। यह मान और प्रतिष्ठा नागरिकों की साधारण सभा की उन्नति और सुख सम्पत्ति से बिलकुल भिन्न वस्तु थी और बहुधा उस से विरुद्ध ही होती थी। परन्तु उस से राज्य की बाहरी विजय और विस्तार का निकट सम्बन्ध था; और इस से इतिहास ने रोम और वेनिस के शिष्टराज्यों को विवेक-संयुक्त राज्यनीति और राज्यप्रबन्ध के लिये व्यक्तिगत महान् शक्ति का जो उचित मान दिया है, वह उन्हों ने प्रायः यही उपदेश सिद्ध करने में दिखाया था।

इस प्रकार मालूम होता है कि प्रतिनिधि राज्य के सिवाय राजसत्ता या शिष्टसत्ता के स्वरूप के जिन राज्यतंत्रों में ऊंची राजनैतिक कुशलता और शक्ति अपवाद रूप नहीं वरंच साधारण थी, वे सब वास्तव में अधिकारी तंत्र थे। राज्य-प्रबन्ध का काम राज्य प्रबन्ध के रोजगार वालों के हाथ में था और यह अधिकारी तंत्र का मूल तत्व और भाव है। वे उस काम में शिक्षित हैं, इस से उस काम को करते हैं अथवा यह काम उन को करना है, इस से वे उस की शिक्षा

ग्रहण करते हैं। इस से बहुत विषयों में स्थूल भेद पड़ता है, परन्तु राज्यतंत्र के तात्विक लक्षण में कुछ भी नहीं। इस के विरुद्ध, इंगलैण्ड जैसे शिष्ट राज्य में, जहां जिस दल के हाथ में सत्ता आती, वह उसे उस में खास शिक्षा लिये रहने के कारण या उस में अपना सारा समय पूर्णरूप से लगाये रहने के कारण नहीं, वरंच सिर्फ अपनी सामाजिक पदवी के कारण मिलती थी (और इस से जहां वे उस सत्ता को स्वयं नहीं वरंच शिष्टसभा के आधार से बने हुए प्रतिनिधि-तंत्र की मार्फत अमल में लाते थे) वे मानसिक गुणों के विषय में जन सत्ताक राज्य के ढंग पर थे; अर्थात् उन्हों ने जो ये गुण कुछ भी अधिक दिखाये हैं, तो उस समय जब किसी मनुष्य ने शिष्ट-पदवी के साथ महान् और लोकप्रिय बुद्धि-बल द्वारा तात्कालिक सत्ता सम्पादन की थी। थेमिस्टोक्लिस* और पेरिक्लिस,

* थेमिस्टोक्लिस (ईस्वी सन् से पूर्व ५३०-४७) जर्कसिस की बड़ी ईरानी चढ़ाई से अपनी असाधारण बुद्धि के बल से ग्रीस को बचाने वाला और एथेन्स का किला बनाने वाला। पेरिक्लिस ग्रीस में एथेन्स को सब से बड़ा बनाने वाला और पीछे से स्पार्टा इत्यादि की चढ़ाई में उस की रक्षा करने वाला। यह एक बड़ा भारी वक्ता और राजनीति-कुशल पुरुष था और एथेन्स में इस के प्रबन्ध काल में विद्या और कला पराकाष्ठा को पहुंची थी। ईस्वी सन् से ४२९ वर्ष पहिले मरा। वाशिंगटन (१७३२-९९) युनाइटेड स्टेटस को स्वतंत्र कर उस में जनसत्ताक राज्य स्थापन करने वाला मुख्य सेनापति और १७९६ ईस्वी तक राष्ट्र-पति। जेफर्सन (१७४३-१८२५) अमेरिकन स्वतंत्रता की घोषणा रचने वाला। पेरिस में एलची, वाशिंगटन के अधीन राज्यमंत्री और १८०१ से १८०८ तक

वाशिंगटन और जेफर्सन अपने अपने जन सत्ताक राज्यों में ग्रेटब्रिटन के शिष्टसत्ताक प्रतिनिधि राज्य चेथम और पील से अथवा फ्रांस की शिष्ट सत्ताक राज-सत्ता के सली और कोल-बर्ट से भी कुछ अधिक उत्कृष्ट अपवाद थे। अर्वाचीन युरोप के शिष्ट राज्यों में एक महान् मंत्री प्रायः एक महान् राज्य के इतना ही विरल चमत्कार है।

इस से राज्यतन्त्र के मानसिक गुणों के विषय में जो तुलना करना है, वह जनसत्ताक प्रतिनिधि-राज्य और अधिकारी राज्य के बीच में। दूसरे राज्यतंत्रों का विचार छोड़ सकते हैं। यहां हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि कितने ही आवश्यक विषयों में अधिकारी राज्य बहुत बढ़ा चढ़ा है। यह राज्यतन्त्र अनुभव का संचय करता है, अच्छी तरह परीक्षित और विवेचित रिवाजी नियमों का सम्पादन करना है और जिसके हाथ में वस्तुतः कार्य्य प्रबन्ध है उस में उचित व्यवहारी ज्ञान संग्रह करता है। परन्तु पृथक् पृथक् मनुष्य के मानसिक उत्साह के लिये यह एक समान अनुकूल नहीं है। अधिकारी राज्य को जो रोग सताता है और बहुधा उस का अन्त करता है, वह रिवाज का रोग है। वह अपने

राष्ट्रपति। चेथम (१७०८–७८) इंगलैण्ड का एक महान् वक्ता और चतुर मंत्री। इस के मंत्रित्व में इंगलैण्ड की सर्वत्र विजय हुई थी और फ्रांस का अमेरिकन टापू जीत लिया गया था। पील (१७८८–१८५०) इंगलैण्ड संरक्षक पक्ष का नेता होकर भी इसने बहुत सुधार किये थे और अन्न की आमद के ऊपर का भारी कर उठा दिया था। सली (१५५९–१६४१) फ्रांस के चौथे हेनरी का कोषाध्यक्ष। इस ने देश में कर आदि के सम्बन्ध में बहुत सुधार किये और राजा और राज्य का बहुत अच्छी तरह सेवा की थी।

रिवाजी नियमों की निश्चलता से नष्ट होता है और विशेष कर के इस सार्वत्रिक नियम के अनुसार कि जो जो चीजें रिवाजी बन जाती हैं, वे सब अपना जीवन-सत्व खो देती हैं, और अपने अन्दर आप फड़कता हुआ चैतन्य न होने से यंत्र की तरह घूमती रहती हैं। तथापि उनका उद्देश्य जो काम करना है वह बिना किये पड़ा रहता है। अधिकारी राज्य हमेशा आडम्बरी राज्य हो जाने का रुख रखता है। जब वास्तव में राज्य अधिकारी मण्डल का होता है तब (जैसा जेस्विटो में था) मण्डल के प्रभाव से उसके विशिष्ट सभासदों की विचक्षणता दब जाती है। दूसरे धन्दों की तरह राज्यप्रबन्ध के धन्दे में भी अधिक श्रेणी का इतनाही विचार होता है कि जो सीखा हो वह करे; और उस में अपूर्व बुद्धि विचक्षणता वाले मनुष्य के विचारों को शिक्षित मध्यम पुरुषों के रोधक प्रभाव पर विजय पाने को समर्थ करने के लिये जनसम्मत राज्यतंत्र की जरूरत है। (किसी महा विचक्षण निरंकुश राजा के अचानक प्रसङ्ग को न गिनें तो) जन-सम्मत राज्य तंत्र में ही सर रोलेण्ड हिल * डाक विभाग पर विजय पा सके। उनको डाक विभाग में नियुक्त करनेवाला और इस मनुष्य में जिस उत्साह और अपूर्व बुद्धि विचक्षणता के साथ खास ज्ञान था, उस से प्रेरी हुई गति के अधीन होने के लिये सारी संस्था को अपनी मरजी के बाहर लाचार करने वाला प्रतिनिधि राज्य ही था। यह स्पष्ट है कि अधिकारी राज्य

* (१७८८–१८५०) इन्हों ने १८४० में डाक विभाग में चिट्ठी के लिये एक पेनी का टिकट जारी कराया। इस से पहिले की दर बहुत ज्यादा होने से बहुत कम आमदनी होती थी। आज कल तो इसका भी आधा लगता है।

की इस लाक्षणिक उपाधि में जो रोमन शिष्ट राज्य बचा सो उसकी जन-सम्मति के तत्व से। सभी खास अधिकार-युक्त सभा (सीनेट) में बैठने का हक देनेवाले सभी खास अधिकार और वृद्धसभा के सभासद जिसे पाना चाहते थे, वे अधिकार भी लोकनिर्वाचन से दिये जाते थे। रूसी राज्यतंत्र अधिकारी राज्य के अच्छे और बुरे दोनों पहलुओं का लाक्षणिक दृष्टान्त है। युग युग की अचल दृढ़ता से अनुसरण की हुई एकही ढंग की धारणाएं साधने के रोमन सदृश आग्रह से अमल में लाये हुए उसके निर्द्धारित नियम; उन धारणाओं के पीछे साधारण तौर पर लगे रहने की जानने योग्य कुशलता; सारी सभा की अचल विरुद्धता एक मनुष्य द्वारा चालित उत्साह पर अन्त की विजय पाने के कारण; किसी संकल्पशील सम्राट् की निरंकुश सत्ता से भी कठिनाई से दबने योग्य या कभी न दबने योग्य भीतर से सड़ा और सुधार के लिये बाहर से होनेवाले प्रयत्न के प्रतिस्थायी और सुगठित विरोध। चीनी राज्यतन्त्र जो मांडरिनों * का अधिकारी राज्य है, यह जहां तक मालूम है, उसके अनुसार इन्हीं गुणों और दोषों का दूसरा प्रत्यक्ष दृष्टान्त है।

सभी मनुष्य व्यवहार में परस्पर विरोधी सत्ताएँ अपने अपने खास उद्देश्यों के लिये भी एक दूसरे को जागृत और कार्य्य-समर्थ रखने के लिये आवश्यक है, और एक दूसरे के आनुषंगिक दो अच्छे उद्देश्यों में से अगर एक के लिये दूसरे को अलग और स्वतंत्र करें, तो उसका परिणाम ऐसा नहीं निकलता कि एक की बेहद वृद्धि और दूसरे की हानि हो, परंच जिस की इस प्रकार स्वतंत्र सम्हाल की जाती है, उसका भी लय

* चीन के फौजी और मुल्की हाकिम।

और नाश होता है। देश के लिये जो कुछ काम स्वतंत्र राज्य-तंत्र कर सकता है, वह शिक्षित अधिकारियों का राज्यतंत्र नहीं कर सकता। शायद यह सोचा जाय कि जो कई काम स्वतंत्र राज्यतंत्र स्वयं नहीं कर सकता, उन्हें करने को वह समर्थ होगा, तो ऐसा होने पर भी हम देखते हैं कि उन लोगों को अपना काम प्रभावशाली या स्थायी बनाने को शक्तिमान होने के लिये स्वतंत्रता के बाहरी तत्व की जरूरत है। फिर स्वतंत्रता के साथ शिक्षित और कुशल प्रबन्ध सम्मिलित करने का उपाय न किया जाय तो स्वतंत्रता अपना राय से अच्छा परिणाम नहीं दिखा सकती और कितनी ही बार नष्ट हो जाती है। प्रतिनिधि राज्य के लिये किसी कदर तैयार जनता में प्रतिनिधि राज्य और सब तरह से पूर्ण समझने योग्य अधिकारी राज्य के बीच में एक क्षण का भी विचार नहीं किया जा सकता। किन्तु राजनीतिक नियमों का एक सब से आवश्यक उद्देश्य यह है कि पहिले के अनुकूल आने योग्य दूसरे का गुण उनमें प्राप्त किया जाय, अर्थात् सारी जनता के प्रतिनिधियों की सभाओं के हाथ में दी हुई और उनके द्वारा यथार्थ रीति से अमल में आती हुई साधारण अंकुश-सत्ता की सहायता में एक दूसरे के जहां तक अनुकूल आये वहां तक एक, मानसिक धन्दे के तौर पर शिक्षा पाये निपुण पुरुषों के कार्य्य-प्रबन्ध से खूब लाभ उठाया जाय। यथार्थ रीति से कहलाने वाला राज्य-प्रबन्ध का काम जो उसमें खास तौर पर शिक्षा पाने से ही अच्छी तरह किया जा सकता है, और राज्य-प्रबन्ध करने वालों को चुनने, निगरानी करने और जरूरत पड़ने पर अंकुश लगाने का काम, जो योग्य रीति पर इस मामले में तथा दूसरे मामलों में भी काम करते हैं, उनके हाथ में नहीं, वरंच जिनके लाभ के लिये

यह होना चाहिये, उनके हाथ में रहना चाहिये। इन दो कामों के बीच में पिछले अध्याय में आलोचित भेद की रेखा स्वीकार करने से, यह उद्देश्य बहुत अंश में पूरा पड़ेगा। जिस काम में कुशलता दरकार है, वह काम जब तक कुशल पुरुषों द्वारा कराने को जनसत्ताक राज्य राजी नहीं होगा, तब तक कुशल जनसत्ताक राज्य प्राप्त करने की ओर डग नहीं बढ़ाया जा सकता। अपने खास काम के लिये—अर्थात् निगरानी और अंकुश रखने के काम के लिये उचित परिमाण में मानसिक योग्यता प्राप्त करना जनसत्ताक राज्य के लिये कुछ थोड़ी बात नहीं है।

इतनी योग्यता किस तरह प्राप्त और स्थायी की जाय, यह प्रतिनिधि सभा के लिये अपने गठन का निर्णय करने में एक विचारणीय प्रश्न है। उसका गठन इतनी योग्यता प्राप्त करने में जिस कदर निष्फल होगा, उसी कदर यह सभा अपने पृथक् पृथक् कृत्यों द्वारा शासन-विभाग के अधिकार में हाथ डालेगी, यह अच्छे मंत्री दल को दूर करेगी अथवा बुरे मंत्री-दल को अधिकार देकर कायम रखेगी; उसके अधिकार का दुरुपयोग करने की ओर दृष्टि नहीं डालेगी या लापरवाही दिखा देगी, उसके भुलावे में पड़ जायगी अथवा जो लोग शुद्ध बुद्धि से अपने अधिकार का उपयोग करने की चेष्टा करेंगे उनकी ओर से अपनी सहानुभूति हटा लेगी; विदेश या स्वदेश—दोनों के सम्बन्ध में स्वार्थ, स्वच्छन्दी और उद्धत, अदूरदर्शी, अज्ञान तथा पक्षपातपूर्ण राजनीति को उत्तेजन देगी या रखेगी; अच्छे कानून रद्द करेगी या बुरे बनायेगी, नये दोष पैदा करेगी या पुराने दोषों को दुराग्रह से पकड़े रहेगी और जहां साधारण न्याय लोक-वृत्ति के अनुकूल नहीं होगा, वहां-पर शायद अपनी ओर के या अपने चुनने वालों के क्षणिक या स्थायी

जोश में कानून को ताक पर रखने वाले कामों को मंजूर करेगी या उनकी ओर ध्यान नहीं देगी। प्रतिनिधि तत्व के जिस गठन से प्रतिनिधि-सभा में वांछित ज्ञान और बुद्धि नहीं प्राप्त हो सकती, उस में प्रतिनिधि राज्य पर ऐसे ऐसे जोखिम आ पड़ते हैं।

अब हम (बेन्थम के जारी किये हुए उपयोगी शब्द में कहें तो) कूट स्वार्थ के कारण अर्थात् जनता के साधारण हित के कमो बेश प्रतिकूल स्वार्थ के कारण प्रतिनिधि सभा में प्रेरित क्रिया-पद्धतियों के प्रचार से उत्पन्न दोषों की ओर आते हैं।

यह बात सब लोग स्वीकार कर चुके हैं कि निरंकुश राजा के और शिष्ट वर्ग के राज्यतंत्रों में विद्यमान दोषों का बड़ा भाग इस कारण से पैदा होता है। राज्य का स्वार्थ या शिष्ट वर्ग का संयुक्त या व्यक्तिगत स्वार्थ जनता के साधारण स्वार्थ के लिये जैसा बर्ताव चाहिये, उसके विरुद्ध बर्तने से सधता है; अथवा वे स्वयं ऐसा ही सोचते हैं। दृष्टान्त के तौर पर अधिक कर लगाने में सरकार का स्वार्थ है और अच्छे राज्य प्रबन्ध के लिये जरूरी खर्च चलाने योग्य कम कर लगाने में जनता का स्वार्थ है; लोगों पर निरंकुश सत्ता रखने और चलाने में, उन्हें राज्य-कर्त्ताओं की इच्छा और रुचि के पूर्ण रूप से अधीन होने को लाचार करने में राजा का या राज्य करने वाले शिष्टवर्ग का स्वार्थ है और लोगों का स्वार्थ इसमें है कि राज्यसत्ता उनके ऊपर कम चले जो प्रत्येक विषय में राज्य तंत्र की वास्तविक धारणा सम्पादन करने में प्रतिकूल न हो। राजा या शिष्टवर्ग का स्वार्थ इसमें है या दिखाई देता है या वे मानते हैं कि वे अपने ऊपर ऐसी टीका टिप्पणी कभी न होने दें जिसको वे अपनी सत्ता के लिये भयदायक या अपनी मनमानी में बाधक समझें, और प्रजा का स्वार्थ इसमें है कि

प्रत्येक राज्याधिकारी पर और हर एक सरकारी काम और योजना पर टीका-टिप्पणी करने की पूरी स्वाधीनता रहे। शिष्ट (शिष्ट पुरुषों की प्रधानता में चलने वाले) राज्य या शिष्टसत्ताक साम्राज्य (ऐसे राजा का राज्य जिस की हुकूमत शिष्ट पुरुषों द्वारा चलती हो) में कितनी ही बार प्रजा के रुपये से अपनी जेब भरने वाले और कितनी बार अपने को दूसरे से ऊंचे ओहदे पर चढ़ाने की तरफ अथवा यही बात दूसरे शब्दों में कहिये तो दूसरे को अपने ओहदे से नीचे उतारने की तरफ मन रखने वाले अनेक प्रकार के गैरवाजिब हक़ रखने में शासक-दल का स्वार्थ है। जो लोग असन्तुष्ट होते हैं, और ऐसे शासन में असन्तुष्ट होने की बहुत सम्भावना है, उनको—जैसा कि कार्डिनल रिशेल्यू * ने अपने प्रख्यात लेख " राजनीतिक मरण " में लिखा है,—बुद्धि और शिक्षा में नीचे के दरजे पर रखने में, उनमें परस्पर फूट बढ़ाने और 'माता होकर लाटी न मारे' इसके लिये पेटभर सुखी होने से रोकने में भी राजा या शिष्टवर्ग का स्वार्थ है। अगर गदर मचने के भय से प्रबल प्रतिकार्य न उत्पन्न हो, तो सिर्फ मतलब की दृष्टि से देखने में इन सब विषयों में राजा या शिष्टवर्ग का स्वार्थ है। जहां राजा और शिष्टवर्ग की इतनी बड़ी सत्ता थी, वाकी जनता की राय की परवा न रखी जाती, वहां फूट स्वार्थ से ये सब दोष उत्पन्न किये हैं और अब भी उनमें से कितने ही दोष उत्पन्न किये जाते हैं। ऐसी अवस्था के परिणाम में दूसरे किसी बर्ताव की आशा रखना विवेक-विरुद्ध है।

राज-सत्ता या शिष्टराज्य के प्रसङ्ग में तो ये विषय बहुत

---

* फ्रांस का एक बड़ा ही प्रवीण और राजा की सत्ता बढ़ाने वाला मंत्री ।

प्रत्यक्ष हैं; परन्तु कितनी ही बार बिना विचारे यह मान लिया जाता है कि इसी तरह के हानिकारक परिणाम जनसत्ताक राज्य में नहीं होते। जनसत्ताक राज्य को, जैसा कि साधारण रीति पर समझा जाता है, बहुमत का शासन मानें, तो बेशक ऐसा भी सम्भव है कि राज्य-सत्ता कभी कभी ऐसे पक्ष-स्वार्थ या वर्ग-स्वार्थ के हाथ में आ जाय कि वह सब के लाभ की निष्पक्ष भाव से रक्षा करने का दिखाई देता हुआ मार्ग छोड़कर उसके विरुद्ध बर्ताव की ओर झुके। मान लो कि बड़ा भाग गोरों का और छोटा भाग हबशियों का है अथवा इसका उलटा है। इस दशा में क्या यह सम्भव है कि बड़ा भाग छोटे भाग के साथ एक समान न्याय करेगा? मान लो कि बड़ा भाग केथलिकों का और छोटा भाग प्रोटेस्टेंटों का है; क्या यहाँ वही भय नहीं है? अथवा बड़ा भाग अंगरेजों का और छोटा भाग आइरिशों का है या इस का उलटा है; क्या वहाँ ऐसे अनर्थ की भारी सम्भावना नहीं है? सब देशों में अधिक संख्या गरीबों की होती है और छोटी संख्या उनकी होती है जिनको उनका उलटा, अमीर कहते हैं। अनेक प्रश्नों में इन दो पक्षों में स्पष्ट स्वार्थ की प्रत्यक्ष विरुद्धता होती है। हम यह सोचेंगे कि बड़ा दल इतना समझने को बुद्धिमान है कि जायदाद की सलामती कमज़ोर करना उसके लिये लाभदायक नहीं है और पंचायती लूट के काम से वह कमज़ोर होती है। तो भी क्या इस बात का भारी डर नहीं रहता कि वे लोग जिसको स्थावर-सम्पत्ति कहते हैं, उसके मालिकों पर और बहुत ज्यादा आमदनी वालों पर कर के बोझ का अनुचित भाग डालेंगे या सारा बोझ ही डालने में भी न चूकेंगे और फिर ऐसा करने के बाद बिना हिचके उसे बढ़ावेंगे और उसकी आय इस ढंग से खर्च करेंगे कि उससे मजदूर श्रेणी

को लाभ पहुंचे? फिर चतुर कारीगरों की छोटी संख्या और अनाड़ी कारीगरों की बड़ी संख्या को लो; कितने ही रोजगारियों की पंचायतों के—अगर उनकी बहुत झूठी निन्दा न की गयी हो तो-अनुभव से देखा भय रखना ठीक जान पड़ता है कि एक समान रोज या माहवारी मुशाहरा लाजिमी कर दिया जायगा और फुटकर काम का, घंटेवार तलब का और श्रेष्ठ शिल्प या बुद्धि का बढ़िया इनाम पाने को समर्थ करने वाली सारी रीतियां बन्द कर दी जायँगी। हाथ से मेहनत करने वाले कारीगरों की राज्य चलाने वाली बड़ी संख्या में विद्यमान पक्ष-स्वार्थ की वृत्ति का बहुत स्वाभाविक (मैं यह कहने की हिम्मत नहीं करता कि सम्भवित) परिणाम यह होगा कि रोज बढ़ाने के, धन्दे में चढ़ा ऊपरी की हद बांधने के, और कलों पर तथा किसी तरह के विद्यमान धन्दे को बन्द करने के रुख वाले सब तरह के सुधारों पर कर या शर्त्त लगाने के—शायद विदेशी उद्योग की चढ़ा ऊपरी से देशी कारीगरों की रक्षा करने के भी कानून के रूप से प्रयत्न होंगे।

यह कहा जायगा कि इनमें से किसी विषय में सब से बड़े दल का असली स्वार्थ नहीं है: परन्तु इसका उत्तर मैं यह देता हूं कि मनुष्य-जाति का जिसमें असली स्वार्थ समाया हो उसके सिवाय दूसरे किसी विचार से अगर इसका बर्ताव नियमित न होता हो तो राजसत्ता, शिष्टराज्य इस समय जैसे खराब होते हैं वैसे खराब राज्य-तंत्र हो ही नहीं; क्योंकि यह दिखाने को बहुत मजबूत सबूत पेश किये जा सकते हैं और कितनी ही बार किये भी गये हैं कि राजा या राज्य करने वाली शिष्ट-सभा जब चंचला, धनवान, सुधरी हुई और मनस्वी प्रजा पर न्याय और सावधानता पूर्वक शासन करती है, तब उसकी अवस्था बहुत अंश में ज्यादा दिलपसन्द हो जाती है।

अपने स्वार्थ का ऐसा ऊँचा विचार कभी कभी किसी राजा ने ही किया है। शिष्ट वर्ग के ऐसा करने का कोई दृष्टान्त जानने में नहीं आया है; तब इस मजदूर दल की ओर से अधिक ऊँची विचार पद्धति की क्या आशा रख सकते हैं? उन लोगों के वर्ताव के सम्बन्ध में जो आवश्यक प्रश्न है वह यह नहीं कि उनका स्वार्थ क्या है परन्तु वे किस को अपना स्वार्थ समझते हैं; और जो काम दूसरा कोई सत्ताधिकारी अपवाद रूप प्रसङ्ग के सिवा नहीं करता और जिसकी उसकी तरफ से कभी आशा नहीं रखी जाती उसे साधारणतः बहुमत करेगा अर्थात् वह तात्कालिक और स्पष्ट स्वार्थ के विरोध में अपने असली स्वार्थ के अनुसार वर्ताव करेगा–ऐसा पक्ष धारण करनेवाले किसी भी राज्यनीतिवाद के विरुद्ध यह दलील निस्सन्देह है। इस विषय में अवश्य ही कोई सन्देह नहीं कर सकता कि ऊपर गिनाये हुओं में से बहुत से हानिकारक कृत्य और उनके सिवा दूसरे बहुत से उतने ही खराब कृत्य अनाड़ी कारीगरों के साधारण समूह को तात्कालिक लाभ दायक हो जायंगे। यह बहुत सम्भव है कि इससे उस श्रेणी की सारी वर्त्तमान पीढ़ी का अपस्वार्थ सधे। उसका अवश्यम्भावी परिणाम जो उद्योग और उत्साह की शिथिलता और संचय करने के लिये घटा हुआ उत्तेजन है, वह अनाड़ी कारीगर श्रेणी को एक ही जिन्दगी में समझा देना शायद कम ही सम्भव है। मनुष्य व्यवहार में कितने ही सबसे सत्यानाशी परिवर्तनों के अधिक स्पष्ट तात्कालिक परिणाम लाभदायक हुए हैं। सीजर * के निरंकुश

---

* रोम के जनसत्ताक राज्य के अन्त में जो साम्राज्य स्थापित हुआ उसका पहला सम्राट सीजर कहलाता है।

राज्य की स्थापना से उस समय की पीढ़ी को बड़ा लाभ हुआ था। उसने घराऊ झगड़े बन्द किये; प्रीटर और प्रोकन्सलों का जुल्म और लूट बहुत कुछ बन्द कर दी; जीवन की बहुत कुछ शोभाओं को और राज्यनीति के सिवा दूसरे सब विषयों में बुद्धि विकसाने में सहारा दिया। उसने इतिहास के स्थूलदर्शी पाठकों की कल्पना को चौंकाने वाली अपूर्व साहित्यशक्ति के कीर्तिस्तम्भ खड़े किये हैं; क्योंकि वे पाठक यह नहीं विचारते कि जो पुरुष आगस्टस के (तथा लोरेंजो डिमेडिसाई और चौदहवें लुई के) निरंकुश राज्य के कृतज्ञ हैं वे सब अगले जमाने में गठित हुए थे। सैकड़ों वर्षों की स्वतंत्रता द्वारा प्राप्त किये हुए धन संचय और मानसिक उत्साह तथा कार्य-परता ने गुलामों की पहली पीढ़ी को लाभ पहुँचाया। फिर यहाँ से जिस शासन का आरम्भ हुआ उसका क्रमशः प्रभाव प्राप्त किए हुए सब सुधार परोक्ष रीति से यहाँ तक लय हो गये कि अन्त को जिस साम्राज्य ने दुनिया को जीत कर अपने अधीन किया था उसका सैनिक बल भी पूर्णतः इस प्रकार टूट गया कि जिन आक्रमणकारियों को मार भगाने के लिये पहले तीन चार दस्ते काफी थे वे उसके प्रायः सारे विशाल राज्य पर टूट पड़े और उसे अधीन करने को समर्थ हुए। क्रस्तान धर्म द्वारा प्रेरित नयी जागृति ने ऐन मौके पर पहुँच कर कला और विद्या को नष्ट होने से और मनुष्य जाति को शायद अनन्त अन्धकार में डूबने से बचाया।

जब हम मनुष्य कृत्य के निर्णायक तत्व के तौर पर उसके किसी समूह अथवा पृथक २ मनुष्य के भी स्वार्थ के विषय में कहते हैं तब यह प्रश्न समूचे विषय का एक सब से कम आवश्यक भाग है कि एक निष्पक्ष दर्शक उसके स्वार्थ को क्या कहेगा। जैसा कि कोलेरिज कहता है, उद्देश्य

का मूल मनुष्य है, मनुष्य का मूल उद्देश्य नहीं है (अर्थात् जैसी प्रकृति का मनुष्य होगा वैसे उद्देश्य का अनुसरण करेगा कुछ उद्देश्य से उसकी अच्छी बुरी प्रकृति बदलने की नहीं) क्या करने में या किससे दूर रहने में मनुष्य का स्वार्थ है यह जिस कदर मनुष्य की प्रकृति के आधार पर है उस कदर किसी बाहरी विषय पर नहीं है। अगर तुम किसी मनुष्य का प्रत्यक्ष स्वार्थ क्या है यह जानना चाहते हो तो तुम्हें उसकी सदा की वृत्ति और विचारों का रुख जानना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य का स्वार्थ दो तरह का होता है। एक तो वह जिसकी वह परवा रखता है और दूसरा वह जिसकी परवा नहीं रखता। प्रत्येक जनका मतलब का और बेमतलब का स्वार्थ होता है। जो प्रत्यक्ष स्वार्थ की परवा रखता है और दूर के स्वार्थ की परवा नहीं रखता वह अविचारी मनुष्य है। जब उस का मन अपने विचारों और इच्छाओं को सिर्फ पहले की ओर ढकेलता है तब किसी तरह दूसरा लाभ बहुत बड़ा ही हो तो क्या? जो मनुष्य अपनी स्त्री को मारता है और लड़कों को हैरान करता है उसको यह समझाना व्यर्थ होगा कि तुम उनके साथ प्रीति और माया से बर्ताव करने पर अधिक सुखी होगे। वह इस किस्मका मनुष्य होता कि ऐसा बर्ताव कर सकता तो अधिक सुखी होता; परन्तु वह इस किस्म का मनुष्य नहीं है और सम्भवतः अब उसके ऐसा होने का समय चला गया है। किन्तु वह जो कुछ है उससे अपने ऊपर भरोसा रखने वालों के आनन्द और प्रीति में जितना लाभ पाने को समर्थ होता उसकी अपेक्षा उनके ऊपर अपनी हुकूमत चलाने का शौक पूरा करने और अपने झक्की स्वभाव को स्वाधीनता देने में अधिक लाभ मानता है। उसको उनके आनन्द में आनन्द नहीं है और वह उनकी प्रीति की परवा नहीं रखता।

उसका पड़ोसी, जो इसकी परवा रखता है वह शायद इससे अधिक सुखी है: अगर यह बात उसे समझायी जाय तो उससे उलटे उसका केवल द्वेष और क्रोध अधिक बढ़ना सम्भव है। साधारणतः जो दूसरे मनुष्य के लिये, अपने देश के लिये परवा रखता है वह उससे जो परवा नहीं रखता, अधिक सुखी मनुष्य है: परन्तु जो मनुष्य अपने आराम या अपनी कमाई के सिवा दूसरे किसी की परवा नहीं रखता उसको इस सिद्धान्त का उपदेश देने से क्या फायदा है? वह दूसरे मनुष्यों की परवा रखना चाहे तो भी नहीं रख सकता। यह वैसा ही है जैसा धरती पर रेंगनेवाले कीड़े को उपदेश दिया जाय कि तू गरुड़ होता तो क्या ही अच्छा होता।

अब यह एक सार्वत्रिक अनुभव की बात है कि दो आलोच्य दुष्ट वृत्तियां अर्थात् मनुष्य का दूसरे लोगों के साथ जो साधारण स्वार्थ होता है उसकी अपेक्षा अपना निजका स्वार्थ और परोक्ष तथा दूर के स्वार्थ को अपेक्षा प्रत्यक्ष और तात्कालिक स्वार्थ अधिक पसन्द करने की वृत्तियां सत्ता के उपयोग से विशेष कर उकसती और पलती रहने वाली खासियतें हैं। मनुष्य या मनुष्य वर्ग जिस घड़ी अपने हाथ में सत्ता आयी देखता है उसी घड़ी से उस मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ और उस वर्ग का वर्गीय स्वार्थ उसकी दृष्टि में नये ढंग का जरूर बन जाता है। ये लोग अपने को दूसरों द्वारा पूजित होते देख कर स्वयं भी अपने को पूजने लगते हैं और दूसरों की अपेक्षा अपना सौगुना मूल्य रखने का हक मिला हुआ समझते हैं। फिर उनको परिणाम की परवा न रख कर मनमानी करना सहज हो जाता है। इससे मनुष्यों की अपने से सम्बन्ध रखने वाले परिणामों पर भी गहरी दृष्टि रखने की टेव परोक्ष रीति से नष्ट होती जाती है। सत्ता से मनुष्य

के बिगड़ने की जो सार्वत्रिक लोकोक्ति सार्वजनिक अनुभव से बनी है उसका यह अर्थ है। प्रत्येक जन जानता है कि कोई मनुष्य अपनी स्वतंत्र स्थिति में रहने पर जैसा होता है और जैसा बर्ताव करता है उसको देख कर यह अनुमान करना कि, वह सिंहासन पर निरंकुश राजा बन कर भी बराबर वैसा ही रहेगा और वैसा ही बर्ताव करेगा, कैसी बेहूदगी है। क्योंकि उसके जीवन के प्रत्येक प्रसंग से और आस पास के प्रत्येक मनुष्य से उसकी मानुषी प्रकृति के दुष्ट तत्व अंकुश में और वश में रहने के बदले सभी मनुष्यों द्वारा पूजे जाते हैं और सभी अवसरों पर पलते हैं। जनसमूह या दूसरे किसी मनुष्य दल के सम्बन्ध में भी ऐसी आशा रखना ठीक उतनी ही बेहूदगी समझी जायगी। उसके ऊपर जब बहुत प्रबल सत्ता होती है तब वह चाहे जितने नियम से और विवेक के वश रहता हो परन्तु जब वह स्वयं सब से प्रबल सत्ता रखता है तब इस विषय में उसका सम्पूर्ण परिवर्तन हो जाने की आशा रखनी चाहिये।

जैसे मनुष्य हों या शीघ्रता से जैसे हो सकते हों उसके अनुसार राज्यतंत्र का गठन होना चाहिये और मनुष्य स्वयं या उसका कोई दल जो सुधार अब तक प्राप्त कर सकता है उसकी किसी अवस्था में जब वह सिर्फ अपस्वार्थ का विचार करता होगा तब उसको जो स्वार्थ झुकावेगा वह प्रायः पहली दृष्टि से ही प्रत्यक्ष और उसकी वर्त्तमान स्थिति पर ही असर करनेवाला होगा। मनुष्यवर्ग या संस्थाओं के मन और उद्देश्यों को जो वस्तु कभी दूर के या परोक्ष स्वार्थ की ओर प्रेरित करती है वह तो सिर्फ दूसरों के लिये और खास कर के उनका अनुसरण करनेवालों के लिये अर्थात् भविष्य पीढ़ी, स्वदेश या मनुष्य जाति में से किसी के भाव के लिये अनु-

कंपा या धर्मवृत्ति के आधार से बंधा हुआ प्रेम ही है। अगर कोई शासनपद्धति एक ऐसी शर्त चाहे कि साधारण मनुष्यों को अपने बर्ताव में, सर्वोपरि प्रेरक उद्देश्य के तौर पर यह उच्च क्रिया का नियम ही स्वीकार करना चाहिये तो उसका विवेक पूर्वक प्रतिपादन करना अशक्य होजाय। प्रतिनिधि-शासन के लिये प्रस्तुत किसी जनता के नागरिकों में किसी कदर शुद्धि बुद्ध और निस्पृह सार्वजनिक उत्साह का भरोसा रखना ठीक है परन्तु इस गुण की और साथ साथ मानसिक विवेक की इतनी बड़ी आशा रखना हंसी कराने योग्य है कि कुछ सत्य का आभास देनेवाली परन्तु असल में झूटी दलील उनके अपने दल के स्वार्थ के विषय को पलट कर ऐसे स्वरूप में दिखावे मानो वह न्याय और साधारण हित की आज्ञा है तो उसके सामने भी वे गुण टिक सकेंगे। हम सब जानते हैं कि अब जो जो कृत्य जनसमूह के कल्पित लाभ के नाम पर सामने रक्खे गये हैं परन्तु दर असल अन्याय के कृत्य हैं उन में से प्रत्येक के समर्थन में कैसी कैसी सत्य का आभास कराने-वाली-झूठी दलीलें पेश की जा सकती हैं। हम जानते हैं कि कितने अधिक मनुष्यों ने, जो दूसरे ढङ्ग से मूर्ख या दुष्ट नहीं हैं, राज्य ऋण रद करने की बात को उचित समझा है। हम जानते हैं कि कितने अधिक मनुष्य स्वयं बुद्धि और विशेष प्रभाव न रखने पर भी, यह सोचते हैं कि स्थावर सम्पत्ति के नाम से परिचित संचित धन के ऊपर कर का सारा बोझ पटक देना और जिनके बाप दादों ने तथा जिन्होंने स्वयं जो कुछ कमाया वह सब खर्च कर डाला उनको उनके इस विलक्षण व्यवहार के बदले में कर से बरी रखना वाजिब है। हम जानते हैं कि सब तरह की वसीयतों के विरुद्ध, वसीयत करने के इख्तियार के विरुद्ध और एक मनुष्य की दूसरे पर

जो श्रेष्ठता दिखाई देती है उसके विरुद्ध कैसी मजबूत दलीलें और उन में सत्य का अंश होने से बहुत नाज़ुक दलीलें पेश की जा सकती हैं। हम जानते हैं कि ज्ञान की प्रायः प्रत्येक शाखा की निरुपयोगिता कैसी आसानी से, इस रीति से कि जिस से जिन में ज्ञान नहीं है वे पूरा सन्तोष पावें, सिद्ध की जा सकती है। कितने आदमी, जो केवल जड़ नहीं हैं, यह सोचते हैं कि भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन निरुपयोगी है, प्राचीन साहित्य निरुपयोगी है, सारा पाण्डित्य निरुपयोगी है, कविता और कलाएँ निरर्थक और निर्जीव हैं और अर्थशास्त्र केवल अनर्थकारी है। समर्थ पुरुषों ने इतिहास को भी निरुपयोगी और अनर्थकारी कहा है। जिन्दगी के लिये जरूरी या इन्द्रियों के अनुकूल पदार्थों की उत्पत्ति करने के लिये बाहरी सृष्टि का अनुभव सिद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से उपयोगी है, उसके सिवा दूसरे किसी विषय की उपयोगिता न मानने को सहज भी उत्तेजन मिले तो लोग उस विषय को स्वीकार न करें। क्या यह सोचना उचित है कि जनसमूह के मन को जिस कदर शिक्षित समझ सकते हैं उस से भी कहीं बढ़ कर शिक्षित मन वाले मनुष्यों में भी ऐसी शुद्ध सूक्ष्म बुद्धि और अपने प्रत्यक्ष स्वार्थ से विरुद्ध विषय की ऐसी न्यायी गुणज्ञता होगी कि वे अपने हाथ में सत्ता आते ही अगर यह और दूसरी बहुत सी झूठी दलीलें उन पर दूसरी सब श्रेणियों और भविष्य पीढ़ी की हानि कराके, अपनी स्वार्थी वृत्तियों और सङ्कीर्ण विचारों को न्याय के विरुद्ध चलने को ललचाने के लिये सब तरफ से दबाव डालेंगी तो इन सब का त्याग करेंगे?

इसलिये दूसरी सब शासनपद्धतियों का तथा जनसत्ताक राज्य का एक सबसे बड़ा जोखिम सत्ताधारियों का

कूट स्वार्थ है। यह जोखिम वर्गीय लाभ का कानून बनाने का, प्रबल वर्ग के लाभ (असल में असर करे चाहे नहीं तो भी। के लिये कल्पित और सारी जनता की सारी हानि करने वाले राज्य प्रबन्ध का है। प्रतिनिधि शासन के सबसे श्रेष्ठ गठन के निर्णय में विचारने योग्य एक सबसे जरूरी प्रश्न यह है कि इस दोष से बचने का अचूक उपाय किस तरह किया जाय।

राजनीतिक विचार से, जिनका एक ही कूट स्वार्थ हो अर्थात् जिनका सीधा और स्पष्ट स्वार्थ एक ही प्रकार के बुरे कार्यों की तरफ ढलना हो उन पुरुषों की किसी भी संख्या को अगर हम वर्ग या श्रेणी मानें तो किसी भी वर्ग को अथवा जिनमें मेल होना सम्भव है उन वर्गों के किसी एक गुट को राज्यतंत्र में अधिक प्रभाव जमाने को समर्थ न होने देना वांछित उद्देश्य माना जायगा। जिस अर्वाचीन जनता में जाति, भाषा या राष्ट्र-वैर के कारण अपने ही अन्दर विभाग न हुआ हो उसके मुख्य दो विभाग कर सकते हैं और वे अपने अन्दर आंशिक भेद होने पर भी एक प्रकार प्रत्यक्ष स्वार्थ के दो भिन्न कर्मों का अनुसरण करते हैं। हम इनमें (साधारण संक्षिप्त शब्द में) एक पक्ष को मजदूर और दूसरे पक्ष को मजदूरी करानेवाला कहेंगे। मजदूरी करानेवालों की श्रेणी में सिर्फ धंधे से अलग हुए धनाढ्यों और खान्दानी मिलकियतों के मालिकों का नहीं वरंच सब तरह की बड़ी आमदनी वाले रोजगारियों का-(जैसे कि शिल्पवृत्ति वाले) जो अपनी शिक्षा और व्यवहार के विषय में धनवान सरीखे हैं और जो उस श्रेणी में चढ़ने की आशा और आकांक्षा रखते हैं उनका—भी समावेश होता है। इसके विरुद्ध जो हलके दर्जे की मजदूरी कराने वाले अपने स्वार्थ और शिक्षा के बन्धन

से स्वभाव शौक और उद्देश्य में, मजदूर दल सरीखे हैं वे और उनके साथ छोटे दुकानदारों का बड़ा भाग मजदूरों की श्रेणी में आ जाते हैं। ऐसे गठनवाली सामाजिक स्थिति में प्रतिनिधि शासन के वास्तव में सम्पूर्ण हो सकने और स्थायी रहने की सम्भावना सिर्फ तभी है जब उसकी रचना ऐसी हो कि ये दोनों पक्ष—एक ओर अपने हाथ से मजदूरी करने वाले तथा उनके साथी और दूसरी ओर मजदूरी कराने वाले तथा उनके साथी—प्रतिनिधि तंत्र की व्यवस्था में बराबर समतूल आवें और प्रत्येक की अपनी सत्ता में पार्लीमेण्ट के मत का समान संख्या रहे; क्योंकि उनमें कुछ मतभेद पड़ने पर प्रत्येक पक्ष का बहुमत मुख्य करके अपने पक्षस्वार्थ से चलेगा तो भी प्रत्येक में एक छोटा दल होगा जो विवेक, न्याय और सबके हित के विचार से पक्षस्वार्थ के विचार को घटिया समझेगा और प्रत्येक पक्ष का यह छोटा दल विरुद्ध पक्ष के समूह से मिल जाकर अपने पक्ष की जो जो फरमाइशें पूरी होने योग्य नहीं जचेंगी उनको पूरी नहीं होने देगा। कुछ भी अच्छी रीति से व्यवस्थित जनता में सत्य और न्याय तथा साधारण हित की जो जय होती है उसका कारण यह है कि मनुष्य जाति के अलग और व्यक्तिगत स्वार्थ प्रायः हमेशा विभिन्न होते हैं; कितनों का खानगी स्वार्थ अन्यायपूर्ण होता है और कितनों का न्याय मार्ग में होता है। इससे जो बहुत ऊंचे उद्देश्य से चलते हैं वे स्वयं यद्यपि इतने थोड़े और कमजोर होते हैं कि बाकी के अधिक संख्यक के सामने कभी सफल नहीं हो सकते तथापि पूर्ण विवेचन और आन्दोलन करने के बाद जो खानगी स्वार्थ वाला दल उनके विचार में सहमत होता है उसके पक्ष का तराजू भारी करने को बहुधा अच्छी तरह समर्थ होते हैं।

प्रतिनिधि तंत्र की रचना ऐसी होनी चाहिये कि इसमें ऐसी व्यवस्था कायम रहे। भिन्न भिन्न पक्ष स्वार्थों में से एक को ऐसा प्रबल होजाने का मार्ग न रहना चाहिये कि वह सत्य और न्याय तथा विरुद्ध के पक्ष स्वार्थ पर बाजी मार ले। खानगी (प्राइवेट) स्वार्थों में हमेशा ऐसा सामञ्जस्य बना रहना चाहिये कि जिससे उनमें किसी के लिये ऐसी सम्भावना न रहे कि वह, जो लोग अधिक ऊंचे उद्देश्य और अधिक दूरदर्शिता से चलते हों उनके बड़े भाग को बिना अपने पक्ष में लिये सफलता प्राप्त कर ले।

सातवां अध्याय।

सच्चा और झूठा जनसत्ताक राज्य—सबकी प्रतिनिधि सभा और केवल बहुमत की प्रतिनिधि सभा।

हम ने देख लिया है कि जनसत्ताक राज्य में दो तरह के भय हैं—प्रतिनिधि सभा में और उसके ऊपर अंकुश रखने वाले लोकमत में घटिया दरजे की बुद्धि होने का भय और एक ही वर्ग के मनुष्यों के बने बहुमत की तरफ से वर्ग-लाभ का कानून बनाने का भय। अब हम को यह विचारना है कि ऐसे जनसत्ताक राज्य की रचना करना कहाँ तक सम्भव है कि जिसमें जनसम्मत राज्यतंत्र के लाक्षणिक लाभों को वास्तव में बाधा डाले बिना यथा साध्य पूर्णरूप से ये दो भारी दोष दूर हों अथवा कम तो अवश्य हों।

यह उद्देश्य साधने की साधारण रीति यह है कि मत देने के हक पर कमोबेश अंकुश डालकर प्रतिनिधि सभा के लोकमत सम्बन्धी तत्व की सीमा बांध दें। परन्तु जो एक दूसरा विचार

पहले से करना है उसको अगर हमेशा ध्यान में रखें तो जिन अवस्थाओं के लिये ऐसी शर्त लगाना आवश्यक समझा जाता है वे बहुत बदल जांयगी। जिस जनता में एक ही वर्ग की बड़ी संख्या होती है उसमें पूर्ण रूप से समान जनसत्ताक राज्य कुछ खास दोषों से नहीं बच सकता। परन्तु इस समय जो जनसत्ताक राज्य विद्यमान हैं वे समान नहीं हैं वरंच नियम पूर्वक सत्ताधारी वर्ग के पक्ष में रहनेवाले असमान हैं, और इस से दोषों में बहुत वृद्धि होती है + दो भिन्न भिन्न भावनाएं बहुत करके जनसत्ताक राज्य के नाम पर बदनाम होती हैं। जनसत्ताक राज्य की व्याख्या के अनुसार उसका शुद्ध भाव है समस्त जनता पर समस्त जनता द्वारा समानता से चुने हुए प्रतिनिधियों का राज्य। साधारण तौर पर जैसा समझा जाता है और अब तक व्यवहार में आता है उसके अनुसार जनसत्ताक राज्य तो समस्त जनता पर सिर्फ उसकी अधिक संख्या द्वारा अपने में से ही चुने हुए प्रतिनिधियों का राज्य है। इनमें से पहला सब नागरिकों की समानता का अनुकरण करता है परन्तु दूसरा जिस विलक्षण रीति से उसके नाम पर चलता है वह तो जिस अधिक संख्या को राज्य में वस्तुतः मत देने का कुछ भी हक हैं उसके लाभ का हक सम्बन्धी राज्य है। इस समय जिस रीति से मत लिया जाता है उसका यह अनिवार्य परिणाम है और इससे अनेक वर्गों के मत के हक का पूर्ण रूप से लोप होता है।

इस विषय में विचार की उलझन भारी है, परन्तु यह ऐसी आसानी से सुलझायी जा सकती है कि हर कोई समझेगा कि यह विषय महज मामूली सूचना के साथ किसी भी साधारण बुद्धि के मनुष्य के सामने असली रूप में रखा जा सकता है। ऐसा हो सकता है परन्तु स्वभाव के प्रभाव से नहीं

होने पाता; क्योंकि इस प्रभाव के कारण जो मामूली से मामूली विचार होगा उसको भी दिल में विठाने में, बहुत उलझन के विचार के समान ही, कठिनाई पड़ेगी। छोटे पक्ष का बड़े पक्ष के और छोटी संख्या का बड़ी संख्या के अधीन होना परिचित विचार है और इससे मनुष्य यह सोचते हैं कि हमें अपनी बुद्धि से कुछ विशेष काम लेने की जरूरत नहीं है। उनको ऐसा नहीं लगता कि छोटी संख्या को बड़ी संख्या के इतना प्रबल होने देने तथा छोटी संख्या को बिलकुल निकाल डालने के बीच में भी कोई, बिचला, रास्ता है। असली परामर्श में लगी हुई प्रतिनिधि सभा में तो अलबत्ता छोटे पक्षकी हार होगी और समान जनसत्ताक राज्य में (जब मतधारी आग्रह करते हैं तब उनके अभिप्राय से प्रतिनिधि संस्था का अभिप्राय बनता है इससे) जनता का बड़ा पक्ष अपने प्रतिनिधियों के द्वारा छोटे पक्ष और उसके प्रतिनिधियों से मत में बढ़कर उन पर विजय पावेगा परन्तु इससे क्या यह मतलब निकालना होगा कि छोटे पक्ष को प्रतिनिधि बिलकुल चाहिये ही नहीं ? बड़े पक्ष को छोटे पक्ष पर विजय पाना है इसलिये क्या बड़े पक्ष को सभी मत मिलना चाहिये और छोटे पक्ष को एक भी नहीं ? क्या यह आवश्यक है कि छोटे पक्ष की बात भी न सुनी जाय ? इस अकारण अन्याय के विषय में अगर किसी विचारशील मनुष्य के मतका समाधान हो सकता है तो सिर्फ अभ्यास और पूर्व संसर्ग से; और किसी तरह नहीं। असली समान जनसत्ताक राज्य में प्रत्येक या किसी वर्ग के असमान नहीं समान परिमाण में प्रतिनिधि होंगे। मतधारियों के छोटे पक्ष के प्रतिनिधियों की संख्या भी हमेशा छोटी होती है; उनको बड़े पक्ष के बराबर ही यथेष्ठ परिमाण में प्रतिनिधि मिलने चाहियें। नहीं तो वह समान

राज्य नहीं, असमान हक का राज्य है। जनता का एक भाग बाकी भाग पर हुकूमत चलाता है; सभी न्यायी राज्यनीति के विरुद्ध और सबसे बढ़कर समानता को अपना मूल और आधार मानने वाले जनसत्ताक राज्य के मूलतत्त्व के विरुद्ध, उसमें जो एक वर्ग है उसको प्रतिनिधि तत्त्व में उसका उचित और समान भाग नहीं दिया जाता।

इस अन्याय और मूल तत्त्व के विच्छेद से हानि उठाने वाला वर्ग छोटा है इससे यह कम दोष का पात्र नहीं है; क्योंकि जहाँ जनता का प्रत्येक मनुष्य दूसरे किसी मनुष्य के बराबर नहीं गिना जाता वहां समान मत-हक नहीं है। परन्तु नुकसान अकेले छोटे वर्ग का नहीं होता। ऐसे गठन वाला जनसत्ताक राज्य जिन सब विषयों में राज्यसत्ता बहुमत को देने का विचार रखता है वे भी उससे पूरे नहीं होते। वह इससे बहुत कुछ भिन्न ही करता है। वह इस सत्ता को अपने पक्ष में से बहुमत को देता है और यह अन्तिम बहुमत समस्त जनता में छोटी सख्या भी हो सकती है और अक्सर होती है। सब मूल तत्त्वों की अन्तिम प्रसङ्गों में प्रभावशाली परीक्षा की जाती है। तो अब मान लो कि देश में समान और सार्वत्रिक मत से राज्य प्रबन्ध चलता है और प्रत्येक मतसमिति में चढ़ा ऊपरी से चुनाव होता है तथा प्रत्येक चुनाव में कुछ अधिक बहुमत विजय पाता है। इस प्रकार चुनी हुई पार्लीमेंएट की प्रतिनिधि सभा मामूली से विशेष अधिक बहुमत द्वारा मनोनीत नहीं है। यह पार्लीमेंएट कानून बनाना शुरू करती है और कुछ ही अधिक बहुमत से जरूरी काम करती है। इसका क्या सबूत है, कि यह काम जनता के बहुमत की इच्छानुसार है? प्रायः आधे मतधारी चुनाव के स्थानमें हारे हुए होते हैं इससे निर्णय.

पर उन का कुछ अधिकार नहीं चलता। और जिन प्रतिनिधियों ने इस काम को मंजूर किया है उन के विरुद्ध मत देने से वे सभी इस काम के विरुद्ध हो सकते हैं और उन के बड़े भाग, का विरुद्ध होना ही सम्भव है। बाकी मतधारियों में से लगभग आधे ने प्रतिनिधि चुने हैं जिन्होंने कल्पनानुसार इस काम के विरुद्ध मत दिया है। इस से जो राय सफलता पा चुकी है वह यद्यपि देश के नियमों ने जनता के जिस विभाग को शासनकारी दल बनाया है उसके बड़े वर्ग की है तथापि वह समस्त जनता के छोटे वर्ग के ही अनुकूल हो सकती है और यह असम्भव नहीं है। अगर जन सत्ताक राज्य का यह अर्थ हो कि बहुमत का बेधड़क प्राबल्य रखा जाय तो कुल पर प्रत्येक फुटकर अंक एक समान हिसाब में लिये बिना यह अर्थ सिद्ध नहीं होने का। अगर कोई भी छोटा वर्ग जान बूझ कर या यन्त्र के चलाने में छूट जाय तो उस से बड़ा वर्ग नहीं बरंच तराजू के दूसरे किसी भाग में मौजूद छोटा वर्ग प्रबल हो जाता है।

इस दलील का जो एक मात्र उत्तर किया जा सकता है वह यह है कि भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न अभिप्राय प्रबल होने से जो अभिप्राय कितने ही स्थानों में छोटे वर्ग का होता है वह दूसरे स्थानों में बड़े वर्ग का होता है और मतसमितियों में जो जो अभिप्राय विद्यमान होते हैं उन सब को प्रतिनिधि सभा में मत की उचित संख्या मिलती है और मतसमितियों की वर्त्तमान स्थिति में यह बात एक प्रकार सच है। ऐसा न हो तो देश के साधारण विचार से सभा की विरुद्धता शीघ्र स्पष्ट मालूम हो जाय। अगर हाल की मत समिति के विस्तार में विशेष वृद्धि की जाय तो फिर यह बात सच न रहे। और अगर यहां तक वृद्धि की जाय कि उस में

सारी बस्ती का समावेश हो तो उस से भी बहुत कम सम्भव है; क्योंकि उस दशा में हर जगह अपने हाथ से मजदूरी करने वालों का बड़ा पक्ष हो जायगा और ऐसा कोई प्रश्न छिड़ा हो जिस में इस वर्ग का बाकी जनता से विवाद हो तो दूसरा कोई वर्ग किसी स्थान में प्रतिनिधि पाने में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। क्या इस समय भी यह शिकायत नहीं है कि हर एक पार्लीमेंएट में मतधारियों का जो बहुत बड़ा भाग प्रतिनिधि पाने को इच्छुक और आतुर है उसका एक भी ऐसा सभासद सभा में नहीं है जिस के लिये स्वयं उस ने मत दिया हो? यह क्या उचित है कि मेरिलीबोन् * के प्रत्येक मत धारी को पेरिश के व्यवस्थापकों के मनोनीत किये हुए और फिन्सबरी या लेबेथ † के प्रत्येक मतधारी को (जैसा कि साधारणतः समझा जाता है) धर्मालयों के दो दो प्रतिनिधि स्वीकार करने को लाचार होना पड़े? जिन † मतसमियों में देश के बहुत कुछ ऊँची शिक्षा वाले और उत्साही पुरुष आ जाते हैं वे अर्थात् बड़े शहरों की मत समितियाँ इस समय भी बिना प्रतिनिधि के या झूठे प्रतिनिधि वाली हैं। जो मतधारी पक्ष राज्यनीति के विषय में स्थानिक बड़े विभाग से भिन्न और होते हैं उन के प्रतिनिधि नहीं होते। जो उसी पक्ष में होते हैं उन के बड़े भाग के झूठे प्रतिनिधि होते हैं; क्योंकि किसी मनुष्य का अभिप्राय उन से दूसरे सब विषयों में भिन्न रहता हो तो भी उस अभिप्राय को उस पक्ष की सब से बड़ी संख्या द्वारा समर्थित

---

* लंडन के विभाग † सन् १८६७ और १८८४ के सुधार के कानून से पार्लीमेण्ट के गठन में इस का और दूसरे विषयों का सुधार हुआ है।

होने के कारण, उन लोगों को स्वीकार करने के लिए लाचार होना पड़ता है। कई तरह से छोटे वर्ग को बिलकुल मत देने न दिया जाय तो उस की अपेक्षा भी बहुत बुरा परिणाम होता है; क्योंकि उस दशा में इतना तो होगा ही कि जो मनुष्य उत्तमतया बड़े वर्ग का विचार रखता होगा उसी को बड़ा वर्ग अपना सभासद बनावेगा। परन्तु इस समय तो, ऐसा न हो कि प्रतिपक्षी घुस जाय इस डर से अपने पक्ष में विभाग न करने की जरूरत होने से, जो मनुष्य उस का पट्टा बांध कर पहले ही सामने आता है अथवा जिस को उस के स्थानिक नेता आगे रखते हैं उस की ओर मत देने को सभी ललचते हैं। और ये नेता जिस प्रतिष्ठा के शायद ही योग्य होते हैं वह उन को दें अर्थात् यह सोचें कि उन की पसंद उन के निज के स्वार्थ से कुंठित नहीं हुई है तो भी उन को अपना समग्र बल एकत्र करने में सफल होने के लिये, जिस उमेदवार के विषय में पक्ष का कोई भी मनुष्य भारी उज्र न उठावे अर्थात् जिस का अपने पक्ष की संज्ञा के सिवा और कुछ लाक्षणिक गुण या खास अभिप्राय जानने में न आया हो—उस मनुष्य को आगे रखने को लाचार होना पड़ता है। संयुक्त राज्य, अमेरिका में इस बात का विचित्र दृष्टान्त मिलता है क्योंकि वहां राष्ट्रपति (प्रेसीडेण्ट) के चुनाव के अवसर पर सब से प्रबल पक्ष कभी अपने में से सब से समर्थ पुरुष को सामने लाने की हिम्मत नहीं करता। इसका कारण यह है कि ऐसा पुरुष मुद्दत से लोगों की नजर पर चढ़ा रहता है इस कारण अपने पक्ष के एक या दूसरे विभाग के उज्र उठाने योग्य बन गया रहता है। इस से जिस पुरुष के विषय में उमेदवार के तौर पर खड़ा होने से पहले, लोगों ने कुछ भी न सुना हो उस के बराबर उस सब से समर्थ पुरुष को सब का मत

अपनी ओर खींचने का भरोसा नहीं रहता। इस प्रकार सब से प्रबल पक्ष का पसन्द किया हुआ पुरुष भी शायद, जिस कुछ ही अधिक बहुमत से वह पक्ष सामने के पक्ष पर विजय पाता है उसी की इच्छाओं का वास्तव में प्रतिनिधि होता है। सफलता के लिये जिस विभाग के समर्थन की आवश्यकता होती है उस के हाथ में उमेदवार को रोकने की सत्ता है। जो विभाग अपनी बात पर दूसरे विभागों की अपेक्षा अधिक हठ से अड़ा रहता है वह दूसरों को अपनी पसन्द का मनुष्य स्वीकार करने को लाचार कर सकता है और दुर्भाग्य से जो लोग जनता के स्वार्थ के बदले अपने स्वार्थ के लिये ही अपने विचार पर अड़े रहते हैं उन में ऐसा हठ अधिक दिखाई देना सम्भव है। इस से बड़े पक्ष में जो विभाग, सब से डरपोक, संकीर्ण हृदय और वहमी या केवल वर्ग स्वार्थ को ही सब से अधिक आग्रह से पकड़े रहने वाला होता है उसी के मतानुसार उस पक्ष की पसन्द का निर्णय होना विशेष सम्भव है। ऐसी स्थिति में छोटे पक्ष का चुनाव का हक जिस उद्देश्य से मत दिया जाता है उस के लिये निरुपयोगी होता है; इसके सिवा केवल बड़े पक्ष को अपने सब से निर्बल या खराब विभाग के उमेदवार को स्वीकार करना पड़ता है।

बहुत आदमी इन दोषों की बात स्वीकार करते हुए भी इन्हें स्वतंत्र राज्यतंत्र के लिये अनिवार्य भोग मानें तो कुछ आश्चर्य नहीं है। हाल तक स्वतंत्रता के सब मित्रों की यह राय थी; परन्तु इन दोषों को निरुपाय समझ लेने की चाल ने ऐसी जड़ पकड़ ली है कि बहुत आदमी तो यह ख्याल रखकर उसकी ओर दृष्टि करने की शक्ति ही खोये हुए जान पड़ते हैं कि अगर हम से उपाय हो सके तो खुशी से करें।

उपाय की निराशा उत्पन्न होने पर रोग से ही इनकार करने के लिये अकसर एक ही कदम आगे बढ़ाने को रहता है और इसके बाद जो कोई कुछ भी उपाय बताता है उससे ऐसा जी ऊबता है मानों वह अनर्थ का उपाय बताने के बदले नया अनर्थ ही सुझाता है। लोगों को दोषों का ऐसा बट्टा पड़ जाता है कि वे समझते हैं कि उनकी शिकायत करना खराब नहीं तो अनुचित है। इतने पर भी वह निवार्य हो चाहे अनिवार्य जिसके मन पर उनका वजन नहीं पड़ता और वे दूर किये जा सकेंगे यह जान कर जो खुश नहीं होता वह स्वतंत्रता का अन्ध भक्त है। अब इस बात में कुछ सन्देह नहीं है कि छोटे पक्ष को वस्तुतः खारिज कर देना स्वतंत्रता का आवश्यक या साधारण परिणाम नहीं है। इस बात से जनसत्ताक राज्य का कुछ भी सम्बन्ध होने के बदले यह जनसत्ताक राज्य के प्रथम मूल तत्व से, अर्थात् संख्या के परिमाण में प्रतिनिधि के तत्व से बिलकुल विरुद्ध है। जनसत्ताक राज्य का एक अंगीभूत तत्व यह है कि छोटे वर्गों को भी यथेष्ट प्रतिनिधि मिले। इसके बिना असली जनसत्ताक राज्य सम्भव नहीं है, जनसत्ताक राज्य के झूठे दृश्य के सिवा और कुछ सम्भव नहीं है।

जिन्हों ने किसी अंश में इन दलीलों की सबलता देखी है और उसका अनुभव किया है उन्हों ने इन दोषों को थोड़ा बहुत दूर करने वाली भिन्न भिन्न युक्तियां बतायी हैं। लार्ड जान रसल * ने अपने एक सुधार के मसविदे में ऐसी धारा रखी थी कि कुछ मतसमितियां तीन प्रतिनिधि चुनें परन्तु उनका प्रत्येक

* सुधारक दल के एक राजनीतिक नेता और दो बार इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री (१८४६-५२ और १८६५-६६) इन्हीं का कहा हुआ सुधार का कानून १८३१ ईस्वी में बना था।

मतधारी केवल दो के लिये मत देने पावे। परन्तु कुछ दिन पहले मि० डिसरायली* ने एक बहस में यह बात याद कराके उनको इसके लिये उलहना दिया था; उनका अभिप्राय शायद यह था कि संरक्षक (कंसर्वेटिव) राजनीतिज्ञ केवल साधनों का विचार रखें और जिस पुरुष ने एक बार भी साध्य का विचार रखने की भूल की हो उसके साथ कुछ भी बन्धुत्व रखने से घृणा सहित इनकार करना ही उचित है† दूसरों ने यह

* संरक्षक दल का अगुआ और इंगलेण्ड का प्रधान मन्त्री (१८६७-६८) और (१८७४-८०) पीछे से यह अर्ल आफ बीकन्सफील्ड के नाम से लार्ड बनाए गये थे। १८५२ में संरक्षक मंत्रीदल में आयेनिवेशिक मंत्री थे।

† मि० डिसरायली की यह भूल (जिससे बचने के लिये सर जन प्रेकिंगटन इसके बाद तुरत ही अलग हो गये और यह उनके लिये प्रतिष्ठा जनक था।) एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिखलाती है कि संरक्षक नेता संरक्षक पक्ष के मूल तत्त्वों को भी कितना कम समझते हैं। राजनीतिक पक्षों को अपने प्रतिद्वन्दी के मूलतत्त्वों को समझना और उनसे काम लेने का योग्य समय जानना चाहिये अगर इतना सद्गुण और विवेक उनमें धारने की हिम्मत न करें तो भी इतना तो कह सकते हैं कि प्रत्येक पक्ष अपने ही मूलतत्त्वों को समझे और उन पर चले तो भी बहुत सुधार हो। संरक्षक प्रत्येक संरक्षक-विषय के पक्ष में और सुधारक प्रत्येक सुधारक-विषय के पक्ष में मत दिया करें तो इंगलेण्ड को वास्तविक लाभ हो। ऐसा हो तो प्रस्तुत और दूसरे बहुत से बड़े प्रश्नों की तरह जो विषय परमार्थतः एक या दूसरे दोनों पक्षों से सम्बन्ध रखते हैं उनके लिये में मुद्दत तक इन्तजारी न करना पड़े। संरक्षक अपने वर्तमान नियमों के अनुसार ही सब से जड़ पक्ष जान पड़ते हैं, इससे इस प्रकार के

सलाह दी है कि प्रत्येक मतधारी सिर्फ एक के लिये मत देने पावे। इन दो में से चाहे जिस योजना से मत-समिति के एक तृतीयांश के बराबर का अथवा उससे अधिक संख्यावाला छोटा पक्ष कुछ विशेष प्रयत्न न करे तो भी तीन में से एक सभासद चुन लेने को शक्तिमान होगा। जैसा कि मि० जेम्स गार्थ मार्शल ने एक प्रभावशाली पुस्तिका में बताया है, अगर मतधारी के तीन मत होने पर भी सब एक ही उमेदवार को देने की छूट हो तो वही परिणाम और अच्छे ढंग से आवे। यद्यपि ये युक्तियां कुछ नहीं से कहीं अच्छी हैं, तो भी ये सिर्फ काम चलाऊ उपाय हैं और अपने विचार को बहुत अधूरे ढंग से पूरा करती हैं। क्योंकि अगर स्थानिक छोटे वर्ग और भिन्न भिन्न मतसमितियों के छोटे वर्ग एक तिहाई से कम होंगे तो सब मिलकर चाहे जितने बड़े हों तथापि बिना प्रतिनिधि के रहेंगे। इतने पर भी बड़े खेद की बात है कि इनमें से एक भी योजना काम में नहीं लायी गयी; क्योंकि किसी एक से काम लेने पर सत्य तत्व का स्वीकार हुआ होता और उसके पूर्ण प्रयोग के लिये मार्ग खुला होता। परन्तु जब तक एक मतसमिति की साधारण संख्या के बराबर मतधारी देश के चाहे जिस विभाग में बिखरे हुए हों, मगर उनके समूचे दल को जमा होकर अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार न

सब से बड़े दोषों के लिये वे जवाबदेह होते हैं। और यह एक शोक-जनक सत्य बात है कि जो विषय भाव में और दूरदर्शिता से भी संरक्षक होता है उसके सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव उठता है और उसके पक्ष में सुधारक भी मत देने को तय्यार होते हैं तो उस समय ऐसा होता है कि संरक्षक पक्ष का बड़ा समूह भेड़िया धसान की तरह उस प्रस्ताव को स्वीकृत होने से रोक देता है। ग्रन्थकार।

मिले तब तक प्रतिनिधि तत्व की वास्तविक समानता नहीं कही जायगी। जब तक उक्त विशाल और साधारण विचार के लिये तथा सूक्ष्म व्यवहार सम्बन्धी विषयों की योजना के लिये एकसमान योग्य महा बुद्धिमान पुरुष मि० टामस हेयर ने प्रतिनिधि तत्व में इस दरजे तक सम्पूर्णता लाने के लिये पार्लमिएट के कानून के मसविदे के रूप में एक योजना नहीं रची और इतनी सम्पूर्णता की शक्यता सिद्ध नहीं कर दी तब तक यह बात असाध्य लगती थी। इस योजना में जैसे सोचे हुए उद्देश्य के सम्बन्ध में, राज्यनीति का एक महान् तत्व, सम्पूर्णता की पराकाष्ठा को पहुंचे इस रीति से साधन को लगभग दो आदर्श खूबियां है वैसे उसके साथ कुछ ही कम आवश्यक उद्देश्य भी प्रसंग वश पूरे होते हैं।

इस योजना के अनुसार प्रतिनिधि तत्व का अंक, अर्थात् अपनी तरफ का एक सभासद पाने के हकदार मतधारियों की संख्या औसत लगाने की साधारण रीति पर यानी समग्र मतधारियों की संख्या को सभा की बैठक की संख्या से भाग देकर ठीक करना चाहिये और जब उमेदवार को उतनी संख्या मिले तो वह संख्या चाहे जितनी भिन्न भिन्न मत समितियों से जमा हुई हो तो भी वह उमेदवार चुना हुआ गिना जायगा। आजकल की तरह मत तो स्थान के हिसाब से दिया जाय परन्तु चुननेवाले को देश के किसी भाग से निकल आने वाले चाहे जिस उमेदवार के लिये मत देने की स्वाधीनता रहे। इसलिये जो मतधारी किसी स्थानिक उमेदवार को प्रतिनिधि चुनने की इच्छा न रखते हों वे जिन्हों ने समूचे देश से चुने जाने की इच्छा प्रगट की हो उन में से जो उन्हें अधिक पसन्द आवे उसके चुनाव में अपने मत की मदद देने को समर्थ हो सकेंगे। इस प्रकार जो 'छोटा वर्ग

वर्त्तमान पद्धति से वास्तव में मत के हक से वंचित होगया है उसको वास्तविक चुनाव का हक मिलेगा। परन्तु आवश्यक बात यह है कि जो लोग किसी स्थानिक उमेदवार के लिये मत देने से इनकार करते हों वे ही नहीं वरंच जो उन में से एक के लिये मत देते हैं और वह मत निष्फल जाता है वे भी अपने जिले में प्रतिनिधि चुनने में सफलता न पाने पर दूसरे स्थान में चुनने में समर्थ हों। इसके लिये एक ऐसी धारा रखी है कि कोई मतधारी मतपत्र देते समय उस में अपनी पहली पसंद के पुरुष के साथ दूसरे का नाम भी लिख सके। उसका मत एक ही उमेदवार के लिये गिना जाय। अगर उसकी पहली पसंद का मनुष्य मत की उचित संख्या न मिलने से चुनाव में सफलीभूत न हो तो शायद उसकी दूसरी पसन्द अधिक भाग्यशाली निकले। वह अपनी पसन्द की क्रमवाली सूची में नामों की संख्या अधिक बढ़ा सकता है कि जिस से, सूची के सिर पर रखा हुआ नाम उचित संख्या न पा सके अथवा पाने में उस के मत की जरूरत न रहे और उसका मत दूसरे किसी के चुनाव में मददगार हो सकता हो तो उसके पक्ष में गिने जाने की छूट रहे। बहुत लोकप्रिय उमेदवारों के पक्ष में प्रायः सभी मतों का अभाव होने से रोकने के लिये तथा सभा की पूर्त्ति करने के निमित्त सभासदों की पूरी संख्या प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि किसी उम्मेदवार को चाहे जितने मत मिलें उसके चुनाव के लिये यथेष्ट से अधिक मत हिसाब में न लिये जायं। जिन्होंने उस के लिये मत दिये हों उन में से बाकी बचे हुओं के मत उनकी सूचियों में दिये हुए पीछेके नाम को वांछित हों और उस मदद से उस की उचित संख्या पूरी हो सकती हो तो वे मत उस के पक्ष में गिने जायं। उमेदवार के पक्ष में दिये हुए कितने मत

उसके चुनाव के लिये रखे जायं और कितने मत बाकी उमेदवार के लिये छोड़ दिये जायं इसका निर्णय करने के लिये कुछ युक्तियां बतायी गयी है परन्तु हम यहां उन बातों में नहीं पड़ेंगे। जिनको और तरह से प्रतिनिधि न मिलता हो उन सब का मत तो उमेदवार को रहे और बाकी के मत के लिये कोई बढ़िया रास्ता न मिलने पर चिट्ठी (लाटरी) डालने का ढँग उचित समझा जाय। सब मतपत्र एक सदर स्थान में ले जाकर गिनें, वहां हर एक उमेदवार के लिये पहला, दूसरा तीसरा आदि मत स्थिर करें और जब तक सभा की संख्या पूरी न हो तब तक जिनकी मत संख्या पूरी हो सकती हो उन की पूरी करें और उन में पहला दसरे से, दूसरा तीसरे से इत्यादि अनुक्रम से मत पसन्द करें। मत पत्र और सब हिसाब किताब प्रकाश्य भण्डार में रखें और जिनका जिनका सम्बन्ध हो उन सब को वहां जाने दें। अगर कोई उमेदवार यथेष्ट मत पाने पर भी नियम पूर्वक निर्वाचित न माना गया होगा तो यह बात सहज में साबित करना उस के हाथ में रहेगा।

इस योजना की ये दो मुख्य धारायें हैं। इसकी बहुत सादी यंत्र-सामग्री के अधिक सूक्ष्म ज्ञान के लिये मुझे मि० हेयर की (सन् १८५९ में प्रकाशित) "प्रतिनिधि निर्वाचन के विषय में निबंध" * और (इस समय केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के अध्यापक) मि० हेनरी फोसेट †

* हाल में छपी हुई दूसरी आवृत्ति में मि० हेयर ने कुछ उप-धाराओं में आवश्यक सुधार किया है।

† पार्लमिण्ट का एक प्रसिद्ध सभासद। यह अंधा था तो भी १८८० में सुधारक मंत्री दल में डाक विभाग का मंत्री बनाया गया था। इसका मुख्य ग्रंथ "अर्थशास्त्र का मूलतत्व" है। यह हिन्दुस्थान के पक्ष में अक्सर बोलता था।

लिखित "मि० हेयर के सुधार सम्बन्धी मसविदे का स्पष्टीकरण और विवेचन" नामक पुस्तकों का हवाला देना चाहिये। दूसरी पुस्तक में इस योजना का बहुत स्पष्ट और संक्षिप्त विवेचन है, और इसमें मि० हेयर की जो कई धाराएं स्वयं लाभदायक होने पर भी इस योजना की व्यवहारी उपयोगिता में वृद्धि करने की अपेक्षा उसकी सुगमता में अधिक खलल पहुँचाने वाली समझी जाती थीं उन्हें बाद देकर इस योजना को अपने सब से सादे स्वरूप में दिखाया है। इस ग्रंथ का जितना ही अधिक मनन होगा उतना ही अधिक इस योजना की सम्पूर्ण सुगमता और परम उत्कृष्ट लाभ का विचार प्रबल होता जायगा; यह भविष्य वाणी कहने की मैं हिम्मत करता हूँ। इसके लाभ ऐसे और इतने बड़े हैं कि मेरा दृढ़ निश्चय है कि, मि० हेयर की योजना राज्यनीति के सिद्धान्त और व्यवहार में अब तक के सुधारों में बहुत बड़ी गिनी जाती है।

पहले तो यह योजना मत समिति के प्रत्येक विभाग को संख्या के परिमाण में प्रतिनिधि दे देती है और सिर्फ बड़े पक्षों को तथा उनके साथ शायद कुछ खास स्थानों के बड़ी संख्या वाले छोटे पक्षों को ही नहीं, वरंच समस्त राष्ट्र में बिखरे हुए जो छोटे वर्ग समान न्याय के नियम से इतनी बड़ी संख्या में हों कि प्रतिनिधि पाने का हक रख सकें उनमें से प्रत्येक को भी। दूसरे, जैसा कि आज कल होता है, किसी मतधारी को स्वयं पसन्द न किये हुए नाम के प्रतिनिधि से सन्तुष्ट रहना नहीं पड़ेगा। सभा का प्रत्येक सभासद समस्त मत समिति के मत का प्रतिनिधि होगा। यह निर्द्धारित संख्या के अनुसार एक हजार या दो हजार या पांच हजार या दस हजार मत धारियों का प्रतिनिधि होगा और उनमें से प्रत्येक ने उसको केवल मत नहीं दिया होगा वरंच मतधारियों ने अपने

स्थानिक बाजार में पसन्द के लिये मुंह के सामने रक्खी हुई सिर्फ दो तीन और शायद सड़ी हुई नारंगियों में से चुनने के बदले उनको समूचे देश में से पसन्द किया होगा। इस से मतधारी और प्रतिनिधि के बीच में जो सम्बन्ध जुड़ेगा उसके बल और गुण का कुछ भी अनुभव हमें इस समय नहीं है। प्रत्येक मतधारी का अपने प्रतिनिधि से और प्रतिनिधि का अपने चुनने वाले से परस्पर ऐक्य भाव बना रहेगा। प्रत्येक मतधारी ने किसी प्रतिनिधि को जो मत दिया होगा उसका कारण मानो यह होगा कि पार्लामेण्ट के जिन उमेदवारों के बारे में मतधारियों की कुछ संख्या का अच्छा विचार होगा उन सब में वह प्रतिनिधि मतधारी का विचार सब से अच्छी तरह प्रगट करता होगा अथवा उसकी चतुराई और प्रतिष्ठा के लिये मतधारी के जी में सब से अधिक इज्जत होगी और उसको अपनी तरफ से विचार करने का काम सौंपने को बहुत राजी होगा। इन दो में से कोई एक कारण होगा जो सभासद प्रतिनिधि होगा वह सिर्फ बाहर के ईंट पत्थरों का नहीं, वरंच मनुष्यों का-केवल पेरिश के थोड़े से व्यवस्थापकों या शिष्ट पुरुषों का नहीं वरंच सभी मतधारियों का प्रतिनिधि होगा। इतने पर भी स्थानिक प्रतिनिधि तत्त्व में जो कुछ साबित रखने योग्य होगा वह साबित रहेगा। यद्यपि राष्ट्रीय पार्लामेण्ट का केवल स्थानिक कार्यों से जहां तक हो कम सम्बन्ध रहना चाहिये तथापि जहां तक कुछ भी सम्बन्ध रहे वहां तक प्रत्येक आवश्यक स्थानिक लाभ पर नजर रखने के लिये खास सभासद नियुक्त होने चाहियें और होंगे ही। जो स्थान अपनी उचित संख्या अपने में से ही पूरी कर सकेगा, उसका बड़ा पक्ष साधारणतः अपने में से एक को, स्थानिक उमेदवारों में जो स्थानिक ज्ञान वाला और उसी स्थान में रहने वाला मिल:

जायगा और इसके साथ दूसरे तौर पर प्रतिनिधि होने के अधिक योग्य होगा उसको अपने प्रतिनिधि के तौर पर चुनना पसन्द करेगा। मुख्य करके जो छोटा वर्ग होगा वह स्थानिक प्रतिनिधि चुनने में अशक्त होने से जिसको अपने सिवा दूसरा मत मिलना सम्भव होगा उस उमेदवार के लिये दूसरी जगह तजवीज करेगा।

जिन जिन पद्धतियों से राष्ट्रीय प्रतिनिधि तत्व का गठन करना सम्भव है उन सब में इस एक के अन्दर प्रतिनिधि में वांछित मानसिक गुणों की सबसे अच्छी जमानत मिल जाती है। इस समय, मत-हक में सब की दाखिल करने से, जिसमें केवल बुद्धि और गुण होते हैं वैसे किसी पुरुष का आम सभा में प्रविष्ट होना दिन दिन कठिन होता जाता है। उन्हीं मनुष्यों का चुना जाना सम्भव है जिनकी स्थानिक पहुंच होती है या जो खूब पैसा खर्च कर अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं अथवा जिनको दो में से बड़ा राजनीतिक पक्ष, यह समझ कर कि ये हमारे मत को सब अवसरों पर भरोसा रखेंगे, अपनी लन्दन की मण्डली में से तीन चार दुकानदार या वकील के आमंत्रण से भेजता है। मि० हेयरकी पद्धति के अनुसार जिनको स्थानिक उमेदवार पसन्द नहीं होंगे या जो स्वयं जिस स्थानिक उमेदवार को पसन्द करते होंगे उसे चुनने में सफलता न पाते होंगे वे उमेदवारों की सूची में जो राष्ट्रीय प्रतिष्ठावाले होंगे और जिनके साधारण राजनीतिक सिद्धान्त अपने अनुकूल होंगे उन सब में से पसन्द करके अपना मतपत्र भरने को समर्थ होंगे। इससे जिन्होंने किसी तरह आदर पूर्वक प्रतिष्ठा पायी होगी वैसे प्रायः सब पुरुष यदि स्थानिक प्रभाव से रहित होंगे और किसी राजनीतिक पक्ष से वफादारी की कसम न लिये रहेंगे तो भी उन

को अपनी यथेष्ट संख्या पूरी करना सम्भव होगा। और ऐसा उत्तेजन मिलने से ऐसे पुरुष अब तक स्वप्न में भी न मिली हुई बड़ी संख्या में सामने आ सकेंगे। स्वतंत्र विचार के जो सैकड़ों समर्थ पुरुष अपने लेख से या किसी सार्वजनिक उपयोग के विषय में अपने प्रयत्न से राज्य के प्रायः हरएक जिले में कुछ पुरुषों द्वारा प्रसिद्ध हुए रहते हैं उनके किसी भी मत समिति के बहुमत से चुने जाने की कुछ भी सम्भावना नहीं होगी परन्तु उनके लिये प्रत्येक स्थान में जो मत दिया जाय वह अगर उनके चुनाव के लिये गिना जा सके तो वे चुनाव की संख्या पूरी करने में समर्थ होंगे।

फिर चुनाव की इस पद्धति में ग्राम सभा के बुद्धि बल के नियम में जो वृद्धि होगी वह सिर्फ छोटे पक्ष के मत से नहीं होगी। बड़े पक्ष को भी बहुत ऊंचे दरजे के सभासद ढूँढ़ने को लाचार होना पड़ेगा। जब बड़े पक्ष में विद्यमान मनुष्यों को स्थानिक अगुआ द्वारा सामने लाये हुए पुरुष के लिये मत देने या बिलकुल मत न देने की होब्सन * की चाल स्वीकार करने का समय नहीं रहेगा, जब अगुओं की तरफ के उमेदवार को सिर्फ छोटे वर्ग के उमेदवार के सामने नहीं वरंच देश सेवा के लिये तैयार देश के सब स्थायी प्रतिष्ठा वाले पुरुषों के सामने चढ़ाऊपरी में उतरना होगा तब जो पहला पुरुष मुँह में पक्ष का नाम और जेब में तीन चार हजार पौंड लेकर खड़ा होगा उसका अधिक वार सुत

* इंगलेण्ड के केम्ब्रिज शहर में होब्सन नाम का एक मनुष्य घोड़ा फेरने वाला था। उसने यह नियम रखा था कि तबेले के द्वार में घुसते ही जो पहले घोड़ा बंधा होगा वही ग्राहक को देंगे, दूसरा नहीं।

धारियों से मेल होना असम्भव हो जायगा। बड़ा पक्ष योग्य उमेदवार को चुनने के लिये आग्रह करेगा, नहीं तो वह अपना मत कहीं अन्यत्र ले जायगा और छोटा वर्ग सफलता पा जायगा। बड़े पक्ष को जो अपने में सबसे कम बिसात वाले वर्ग की गुलामी में रहना पड़ता है उस का अन्त हो जायगा। स्थानिक शिष्ट वर्ग के सब से अच्छे और चतुर पुरुष पसन्द कर के सामने लाये जायंगे और यथासम्भव वे पुरुष जो कुछ लाभदायक काम के लिये अपने मण्डल के बाहर भी प्रसिद्ध हुए होंगे कि जिस से उन के स्थानिक बल को दूसरे स्थान से फुटकर मतों की सहानुभूति मिलना सम्भव होगा। मत समितियाँ सब से अच्छे उमेदवार पाने के लिये चढ़ा ऊपरी करेंगी और स्थानिक ज्ञान और सम्बन्ध वाले पुरुषों में से जो दूसरे विषयों में सब से अधिक हिसका करते होंगे उन्हें पसन्द करने में एक दूसरे से ईर्ष्या करेंगे।

अर्वाचीन सभ्यता की तरह प्रतिनिधि राज्य का स्वाभाविक झुकाव सामाजिक मध्यता की तरफ है; और ज्यों ज्यों मत हक नीचे उतरता और विस्तार में बढ़ता जाता है त्यों त्यों इस झुकाव में बढ़ती होती जाती है; क्योंकि इस के परिणाम से जनता में सब से ऊंचे दरजे के ज्ञान से अधिक घटिया दरजे के ज्ञान वाले दल के हाथ में मुख्य सत्ता आती जाती है। परन्तु यद्यपि संख्या में उत्कृष्ट बुद्धि और गुण अवश्य कर के दबता रहेगा तथापि उस दल की बात सुनने में आती है कि नहीं इस से बड़ा अन्तर पड़ेगा। जिस झूठे जन सत्ताक राज्य में सब को प्रतिनिधि मिलने के बदले सिर्फ स्थानिक बड़े पक्ष को मिलता है उसमें शिक्षित-छोटे पक्ष को शायद प्रतिनिधि सभा में अपनी बात जनाने का कुछ भी साधन नहीं होगा। अमेरिका का जनसत्ताक राज्य जो इस भूल

भरी पद्धति पर गठित हुआ है इस में जो अपना स्वतंत्र अभिप्राय और विवेक पद्धति त्याग कर, अपने से ज्ञान में घटिया मनुष्यों के गुलाम बने रहने को तय्यार हों उन मनुष्यों को छोड़ कर, जनता के ऊँची रीति पर शिक्षित दूसरे पुरुषों के चुने जाने की इतनी कम सम्भावना है कि वे कांग्रेस (साम्राज्य सभा) या माण्डलिक सभाओं के लिये मुश्किल से खड़े होते हैं। इस बात को लोग स्वीकार कर चुके हैं। अमेरिका के जन सत्ताक राज्य के संस्कारी और स्वदेशप्रेमी संस्थाओं को अगर सौभाग्य से मि० हेयर की सी योजना सूझी होती तो संयुक्त या मण्डलिक राज्य सभाओं में ऐसे बहुत से नामाङ्कित पुरुष प्रविष्ट हो सकते और जनसत्ताक राज्य सब से भारी मेहने और सब से भयङ्कर दोष से बच गया होता। मि० हेयर की बतायी हुई मनुष्यगत प्रतिनिधि की पद्धति इस दोष का प्रायः पक्का उपाय है। भिन्न भिन्न स्थानिक मत समितियों में बिखरे हुए शिक्षित मन के मनुष्यों का छोटा वर्ग मिल कर, समूचे देश में विद्यमान सब से समर्थ मनुष्यों में से अपनी संख्या के हिसाब से प्रतिनिधि चुन सकेगा। क्योंकि वे और किसी तरह अपनी छोटी संख्या के बल को और बड़े काम में नही ला सकते। इस पद्धति के प्रभाव से बड़े वर्ग के प्रतिनिधि स्वयं सुधरेंगे और साधारण क्षेत्र भी उन्हीं के अधीन नहीं रहेगा। देश में जिस कदर मतधारियों का एक वर्ग दूसरे से संख्या में बडा होता है उसी कदर इन प्रतिनिधियों की संख्या दूसरे की संख्या से अधिक होगी। उन का बहुमत तो हमेशा रहेगा परन्तु उन को दूसरों के सामने और उन की टीका टिप्पणी सह कर बोलने और मत देने की जरूरत पड़ेगी। जब कुछ मतभेद पड़ेगा तब उन को शिक्षित छोटे पक्ष की दलील के विरुद्ध विशेष नहीं तो प्रत्यक्ष में भी

उतने ही सबल कारण दिखाने पड़ेंगे; -और जो लोग अपने साथ एकमत हुए पुरुषों के सामने बोलते हैं वे जिस तरह सिर्फ इतना सोच लेते हैं कि हम स्वयं सच्चे हैं उस तरह कर नहीं सकेंगे। इससे उनको समय पर अपनी भूल समझने का भी मौका मिलता है। (जैसा कि ईमानदारी से चुने हुए राष्ट्रीय प्रतिनिधियों की तरफ से विवेकपूर्वक आशा रख सकते हैं) उनको धारणा साधारणतः शुद्ध होगी, इससे उनका मन जिनके संसर्ग या विरोध में भी रहेगा उनके पास से सहज ही उन्नति करता जायगा। जनमत से विरुद्ध मत के प्रचारकों की दलीलें सिर्फ उन्हीं पुस्तकों और सामयिक पत्रों में प्रकाशित नहीं होंगी जिनको उन्हीं के पक्ष वाले पढ़ते होंगे; वरंच प्रतिद्वन्द्वी सेनाएं एक दूसरे के सामने खड़ी होकर परस्पर हाथ मिलावेंगी और देश के सामने उनके मानसिक बलका बाजियों मुकाबला होगा। ऐसा होने पर मालूम हो जायगा कि जो अभिप्राय सिर्फ मत की गिनती में सफलता पाता है वह वजन में जांचने पर सफलता पावेगा कि नहीं। जब किसी समर्थ पुरुष को जन समूह के सामने समान भूमि पर अपनी शक्ति दिखाने का साधन मिलता है तब जनसमूह में उसको परख कर ढूंढ निकालने की अकसर स्वाहजिक शक्ति होती है। ऐसा पुरुष अपने योग्य वजन का कुछ भी अंश पाने में असफल होता है तो उसको दृष्टि की ओट में रखने वाले नियम या रिवाज के कारण होता है। प्राचीन जनसत्ताक राज्यों में किसी समर्थ पुरुष को नजर से बाहर रखने का कुछ भी साधन न था; उसके लिये बीमा * (वक्तासन) खुला हुआ

* Bema (बीमा) एथेन्स में साधारण वक्ता के लिये बनाई हुई रंगभूमि।

था, उसे लोगों का सलाहकार होने के लिये किसी की मंजूरी की जरूरत न थी। प्रतिनिधि राज्य में ऐसा नहीं है; और जनसत्ताक प्रतिनिधि राज्य के सबसे श्रेष्ठ मित्र भी इस सन्देह से शायद ही बचेंगे कि जिन थेमिस्टोकलिस या डिमास्थेनिस * की सलाह राज्य की रक्षा करने में समर्थ होती थी वे भी शायद अपने जीवन भर में कभी स्थान पाने को शक्तिमान न होते। किन्तु अगर प्रतिनिधि सभा में देश के पहले दरजे के मन वाले पुरुषों में कुछ की भी उपस्थिति आवश्यक की जा सके तो यद्यपि बाकी मन साधारण होंगे और ये अगुआ आत्माएं अनेक विषयों में लोक-विचार और वृत्ति के रुख से विरुद्ध मालूम होंगी तथापि राष्ट्रीय परामर्शों में उनकी कुछ प्रत्यक्ष छाया पड़े बिना नहीं रहेगी। मैं नहीं समझता कि मि० हेयर की बतायी हुई पद्धति के समान दूसरी किसी पद्धति में ऐसे मतों की उपस्थिति का यों स्पष्ट भरोसा मिल सकेगा।

फिर जिस एक महान सामाजिक कर्त्तव्य के लिये किसी भी विद्यमान जनसत्ताक राज्य में कुछ भी प्रबन्ध नहीं है परन्तु जिस कर्त्तव्य का किसी भी राज्यतन्त्र में स्थायी रूप से पालन न होने पर उसकी अवनति और लय हुए बिना नहीं रहता उस कर्तव्य का योग्य साधन सभा के इस विभाग में मिल जायगा। इसको हम विरुद्धता का कर्त्तव्य कहेंगे। प्रत्येक राज्यतंत्र में कोई एक सत्ता दूसरी सत्ताओं से प्रबल होती है; और जो सत्ता सबसे प्रबल होती है उसका निष्कण्टक सत्ता

* एथेन्स का (ईस्वी सन् से पूर्व ३८०-३२२) और शायद सारी दुनिया में, प्रथमवक्ता। मेसिडोनिया के राजा फिलिप के विरुद्ध इसके किये हुए भाषण आज भी बेजोड़ हैं।

बनने की ओर हमेशा लग रहता है। कुछ कुछ जान बूझकर और कुछ कुछ बे जाने वह हमेशा दूसरी सब वस्तुओं को अपने वश में करने की चेष्टा करती है: और जबतक उसके सामने निरंतर सिर उठाने वाली, उसकी वृत्ति के अनुकूल न रहने वाली कोई भी सत्ता विद्यमान रहती है तब तक वह सन्तुष्ट नहीं होती। तो भी जब वह सब प्रतिद्वन्द्वी सत्ताओं को दबाने में और प्रत्येक वस्तु को अपनी वृत्ति के अनुसार बना देने में सफलता पा जाती है तब उस देश में सुधार का अन्त और नाश का आरम्भ होता है। मानुषी सुधार अनेक अंगों का फल है: और मनुष्य जाति में कभी न स्थापित कोई भी सत्ता उन सबको शामिल नहीं करती, सब से हितकारी सत्ता में भी हित के लिये यथोचित सिर्फ थोड़ा सा एक ही गुण होता है और बाकी गुण दूसरे मार्ग से लिये बिना उन्नति जारी नहीं रहती सबसे प्रबल सत्ता और दूसरी प्रतिद्वन्द्वी सत्ता में, धर्माधिकारी और राज्याधिकारी में, लड़ाकू या जमींदार दल और मजदूर दल में, राजा और प्रजा में, धर्मनिष्ठ और धार्मिक सुधारक में चलती हुई चढ़ा ऊपरी जहां एक बार बंद हुई कि फिर कोई भी जनता मुद्दत तक उन्नति नहीं कर सकती। जहाँ एक पक्ष की इस प्रकार सम्पूर्ण विजय हुई कि चलती हुई चढ़ा ऊपरी का अन्त हुआ और अगर उसके स्थान में दूसरी तरह की चढ़ा ऊपरी शुरू नहीं हुई तो उसके साथ प्रथम प्रवाह बंद हो जायगा और पीछे नाश का आरम्भ होगा। दूसरे कई प्रकार के प्रभावों से बहुमत का प्रभाव कुछ कम अन्यायी और औसतन कम हानिकारक है तथापि उसमें भी इसी तरह का जोखिम भरा है और इसका डर भी अधिक है: क्योंकि जब राज्यतंत्र एक (राजा) या कुछ लोगों (शिष्टवर्ग)

के हाथ में होता है तब अनेक (जनता) की प्रतिद्वन्दी सत्ता हमेशा बनी रहती है और यद्यपि वह ऐसी प्रबल नहीं होती कि अपने प्रतिद्वन्दी को कभी अंकुश में रख सके तथापि जो लोग दृढ़ संकल्प करके या स्वार्थ विरोध से राज्य कारिणी सत्ता की किसी रुचि से विरुद्ध होते हैं उन सबको उस अनेक (जनता) के अभिप्राय और विचार की सात्विक तथा सामाजिक सहानुभूति भी मिलती है। परन्तु जब जनसत्ता ही सर्वोपरि होती है तब कोई एक या कुछ इतना प्रबल नहीं होता कि वह विरुद्ध अभिप्रायों को, और जोखिम में पड़े हुए या धमकी पाये हुए स्वार्थ को सहारा दे सके। जनसत्ताक राज्य में आज तक जो बड़ी कठिनाई दीख पड़ी है वह यह है कि जो समाज दूसरों से आगे बढ़ा होता है उसमें जो वस्तु अब तक प्रसंगवश प्राप्त हुई है वह अर्थात् राज्य कारिणी सत्ता के रुख का सामना करने से पृथक पृथक मनुष्यों को रोकने के लिये शक्तिमान बनाने वाली सामाजिक सहानुभूति या आधार बिन्दु (जिस अभिप्राय और लाभ की ओर सत्ताधारी लोकमत कड़ी दृष्टि से देखता है उसके लिये रक्षा या आश्रय का स्थल) जनसत्ताक सामाजिक व्यवस्था में किस तरह प्राप्त की जाय। ऐसे आधार बिन्दु के अभाव के कारण सामाजिक और मानसिक हित की शर्तों के केवल एक विभाग का निष्कंटक प्राबल्य होने से प्राचीन समाज और कुछ के सिवा सब अर्वाचीन समाज या तो लय को प्राप्त हो गये हैं या स्तब्ध हो रहे हैं। (और इसका अर्थ यह है कि उनमें धीरे धीरे अवनति शुरू हुई है।)

अब इस बड़ी आवश्यकता को सामाजिक स्थिति में यथा साध्य मनुष्यगत प्रतिनिधि शासन पूरा करने को समर्थ है। लोकप्रिय बहुमत की सहज वृत्ति में घटते हुए पूरक अङ्ग अथवा उसको शुद्ध करने वाले तत्व के लिये हमें जिस की ओर दृष्टि

फेरना है यह केवल शिक्षित छोटा वर्ग ही है, परन्तु जन सत्ताक तंत्र के गठन की साधारण पद्धति में इस छोटे वर्ग के लिये कोई द्वार खुला नहीं है। मि० हेयर की योजना उसे खोलती है। छोटे वर्गों का समूह जिन प्रतिनिधियों को पार्लीमेण्ट में भेजेगा वे इस कमी को उसकी सबसे बड़ी सम्पूर्णता में पूरी करेंगे। शिक्षितों का अलग श्रेणीविभाग अगर सम्भव हो तो भी यह द्वेष का कारण होगा और बिलकुल सत्ता रहित होने पर ही अपमान से बच सकेगा। परन्तु अगर इन वर्गों के शिष्ट पुरुष पार्लीमेण्ट के दूसरे किसी सभासद के से हक़ से (उसी के से नागरिकों की संख्या के, उसी के से सामाजिक मत के संख्यांश के प्रतिनिधि हो कर) पार्लीमेण्ट में प्रवेश करें तो उनकी उपस्थिति किसी को बुरी नहीं मालूम दे सकती। और फिर वे सब आवश्यक विषयों पर अपना अभिप्राय और सलाह देने के लिये तथा राजकाज में स्वयं भाग लेने के लिये सब से अनुकूल स्थिति में आ जायगे। उनके बुद्धिबल से (संख्या के हिसाब से जितना अंश उनको मिलता उसकी अपेक्षा) प्रत्यक्ष राज्य प्रबन्ध का अधिक भाग उनके हाथ में आ सकता है; क्योंकि एथेनियनों ने अपना आवश्यक राज्य कार्य क्लियोन या हेपर बोलस* को नहीं सौंपा था (पैलोस † और एफीपोली‡ में, क्लियोन की नियुक्ति केवल अपवाद रूप थी) परन्तु निसियस § और थेरामिनिस ¶ और एल्कीबाय-

* एथेन्स के जनसत्ताक राज्य के दो ज्ञापक † ग्रीस के पूर्वी टापू ‡ ग्रीस के उत्तर के शहर। § एथेन्स का एक बहादुर और चतुर सेनापति (मृत्यु ईस्वी सन् से ४१३ वर्ष पूर्व) ¶ (मृत्यु ४०३) एथेन्स में स्पार्टा के बनाये हुए तीस अत्याचारियों के मण्डल में से एक यह लोकहित की ओर ध्यान देने से मारा गया था।

डीस * को राष्ट्र और परराष्ट्र दोनों विभागों में नियुक्त किया था। और फिर भी ये तीनों पुरुष जनसत्ताक राज्य की अपेक्षा शिष्ट सत्ताक राज्य की ओर अधिक रुचि रखने वाले मालुम हुए थे। प्रत्यक्ष मत देने के विषय में तो शिक्षित छोटे वर्ग की गणना उसकी संख्या के हिसाब से ही होगी, परन्तु ज्ञान से और उसके द्वारा बाकी प्रतिनिधियों पर प्राप्त की हुई सत्ता से उस वर्ग का प्रभाव एक सात्विक सत्ता के रूप में बहुत बढ़ जायगा। लोकप्रिय मत को विवेक और न्याय की सीमा में रखने के लिये और जनसत्ताक राज्य के दुर्बल पक्ष पर चढ़ाई करनेवाली विविध विनाशक सत्ताओं से उसकी रक्षा करने के लिये इससे बढ़ कर सुगठित योजना करना मानुषी बुद्धि के लिए शायद ही सम्भव होगा। इस रीति से जन सत्ताक तंत्र को जनता को जो वस्तु और किसी तरह हाथ लगना प्रायः असम्भव है वह प्राप्त होगी अर्थात् अपने से अधिक ऊंचे दरजे की बुद्धि और प्रकृति के नेता मिल जायंगे, अर्वाचीन जनसत्ताक राज्य को अपने प्रसङ्ग वश पेरिक्लिस और उत्कृष्ट तथा अगुआ पुरुषों का स्वाभाविक दल मिल जायगा।

प्रश्न के स्वीकारपक्ष की ओर जब इन सब के सारभूत कारणों का ढेर लगा है तब निषेध पक्ष में क्या है? मनुष्य को अगर एक बार किसी नये विषय में कुछ वास्तविक परीक्षा करने की ओर झुका सकें तो फिर ऐसा कोई नहीं है जो परीक्षा में टिक सके। जो लोग समान न्याय के बहाने अमीर की जगह गरीब की वर्ग-सत्ता जारी करने का विचार रखने वाले होंगे वे बेशक इन दोनों वर्गों को समान पंक्ति में रखने वाली योजना को नापसन्द करेंगे। परन्तु मैं नहीं समझता

* एक बहादुर सरदार और सोक्रेटिस का शिष्य।

कि इस समय इस देश की मजदूर श्रेणी में ऐसी कोई अभि-
लाषा विद्यमान है। फिर भी मैं नहीं कह सकता, कि पीछे
इस अभिलाषा को उकसाने में प्रसङ्गवश जननायकों के
दल का कितना असर हो सकता है। युनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त
राज्य) में जहां बहुमत के हाथ में बहुत समय से निरंकुश
सामाजिक सत्ता है, वहां शायद लोग उसे छोड़ने में
निष्कण्टक राजा या शिष्ट वर्ग के समान ही नाराज
होंगे। परन्तु अंगरेज जन समाज तो मैं समझता हूं कि,
अभी तक वर्ग लाभ का कानून बनाने की सत्ता की अपनी
वारी का दावा किये बिना सिर्फ वैसे कानून से अपनी रक्षा
करके सन्तोष मानने वाला है।

मि० हेयर की योजना का खुल्लमखुल्ला विरोध करने
वालों में से कितने यह कहते हैं कि हम उसको असाध्य
समझते हैं; परन्तु ये मनुष्य साधारणतः ऐसे जान पड़ेंगे
जिन्होंने या तो इस योजना के विषय में कुछ सुना भर होगा
या इस विषय में बहुत थोड़ी और ऊपरी जांच की होगी।
दूसरे जिसको वे प्रतिनिधि तत्त्व का स्थानिक तत्त्व कहते हैं
उसकी हानि स्वीकार करने को असमर्थ हैं। उनकी दृष्टि में
राष्ट्र मनुष्यों का बना नहीं, वरंच कृत्रिम अंकों का बना दिखाई
देता है, भूगोल विद्या और जनस्थिति शास्त्र की सृष्टि दिखाई
देता है। पार्लामेण्ट मनुष्यों की नहीं वरंच शहरों और
जिलों की, प्रतिनिधि होनी चाहिये। परन्तु जब शहरों और
जिलों में रहनेवाले मनुष्यों को प्रतिनिधि मिलते हैं तब यह
समझा जाता है कि वे शहरों और जिलों को मिले हैं।
स्थानिक वृत्ति धारण करने वाले मनुष्यों के बिना स्थानिक
वृत्ति नहीं हो सकती और स्थानिक लाभ लेने वाले मनुष्यों
के बिना स्थानिक लाभ भी नहीं हो सकता। जिन मनुष्यों को

यह वृत्ति और यह लाभ होता है उनको अगर उचित परिमाण में प्रतिनिधि मिले तो इस वृत्ति और इस लाभ को उन मनुष्यों की दूसरी सब वृत्तियों और लाभों की तरह प्रतिनिधि मिलता है। परन्तु जो वृत्ति और लाभ मनुष्य जाति के स्थानिक प्रबन्ध में लगा रहता है वही केवल प्रतिनिधित्व करने योग्य क्यों समझा जाय ? और जो लोग अपनी दूसरी वृत्तियों और लाभों को स्थानिक वृत्ति और लाभ से अधिक मूल्यवान समझते हैं उनको उनकी राजनीतिक श्रेणी के निष्कंटक मूल आधार के विषय में इसी वृत्ति और लाभ की सीमा में क्यों बांधना चाहिये, यह मैं नहीं समझता। यार्कशायर और मिडिलसेक्स जिलों को उनके निवासियों से अलहिदा हक है अथवा लिवरपुल और एकसीटर की वस्ती के विरोध में शहर ही अपना कानून बनाने की सम्हाल रखने के विशेष योग्य पात्र हैं यह शाब्दिक भ्रम का विलक्षण नमूना है।

जो हो उज्र उठानेवाले इस बात को थोड़े में समाप्त कर देने के लिये साधारण तौर पर यह जताते हैं कि इंगलेण्ड ऐसी पद्धति को कभी स्वीकार नहीं करेगा। 'वह इस विषय को अवश्य अस्वीकार करेगा' यह कहने से पहले जो लोग इसकी सचाई या झुठाई के विषय में विचार करना व्यर्थ समझ कर इंगलेण्ड के लोगों की समझशक्ति और विचार शक्ति का इतने थोड़े में फैसला कर देते हैं उनके बारे में वहां वाले क्या सोच सकते हैं, यह कहने का काम मैं अपने सिर पर नहीं लूंगा। मेरा विचार पूछो तो इंगलेण्ड के लोग ऐसे अडिग दुराग्रही हैं कि जो वस्तु उनके या दूसरों के लिये हितकारी साबित की जा सकती है उस में भी वे बाधा डालेंगे ऐसी तुहमत उन पर लगाना मुझे उचित नहीं जंचता। मुझे यह भी जान पड़ता है कि जब वहमी लोग दुराग्रह से अपना

हट नहीं छोड़ते तब जो लोग वह वहम दूर करने के प्रयत्न में कभी शामिल न होने के लिये बहाना ढूंढ़ने के मतलब से उसको अटल बताते हैं उनके बराबर दोष दूसरे किसी का नहीं है। वहम चाहे जैसा हो परन्तु जो लोग स्वयं उसको नहीं मानते वे ही अगर उसके वश रहें, उसको बम्मानें और प्राकृतिक नियम समझ कर स्वीकार करें तो वह अटल ही रहेगा। इतने पर भी इस विषय में मेरा यह विश्वास है कि अब तक यह योजना जिनके सुनने में आयी है उनके मन में, जिस नये प्रश्न की ऐसी उचित रीति से चर्चा न हुई हो कि दोनों पक्ष की दलीलें साधारणतः स्पष्टता से समझ में आवें उसके विषय में जो स्वाभाविक और हितकारी अविश्वास होना चाहिये उस के सिवा कुछ विशेष विरुद्धता नहीं है। जो एक मात्र गहरी बाधा है वह अपरिचय की है—जानकारी का न होना है। यह बाधा बेशक भयंकर है; क्योंकि मनुष्यकल्पना बाहरी नाम और स्वरूप के थोड़े से फेर बदल में भी जितना उज्र करती है उसकी अपेक्षा भीतरी वस्तु में किये हुए बड़े फेर बदल में भी बहुत कम उज्र करती है। परन्तु अपरिचय की बाधा ऐसी है कि जब किसी विचार में कुछ असली गुण होता है तब उसकी बेजानकारी को दूर करने के लिये ;समय ही चाहिये। और आज के जमाने में विचार की स्वतंत्रता होने से और सुधार के विषय में साधारणतः मात्र जागृत हुआ रहने से, पहले जिस काम में सदियां बीत जाती थीं उसके लिये अब अक्सर वर्षों की ही दरकार होती है।

इस निबंध की पहली आवृत्ति के बाद मि० हेयर की योजना पर कितनी ही विरुद्ध टीकाएं हुई हैं। इस से इतना तो विदित होता है कि उसकी विशेष सावधानी से परीक्षा हुई है और उसके उद्देश्यों पर पहले की अपेक्षा अधिक विवेक

पूर्वक ध्यान दिया गया है। बड़े सुधारों के विषय में विवेचन का यह स्वाभाविक क्रम है। उसके विरुद्ध पहले अंध दुराग्रह उठता है और वह ऐसी दलीलें पेश करता है जिनको अंध दुराग्रह ही कुछ वजनदार समझ सकता है। ज्यों ज्यों दुराग्रह घटता जाता है त्यों त्यों वह जिन दलीलों को कुछ समय तक काम में लाता है वे वजनदार होती जाती हैं; क्योंकि योजना खूब अच्छी तरह समझ में आजाने से उसके गुणों के साथ उसकी अनिवार्य अड़चलें और उसमें समाया हुआ सारा लाभ तत्काल प्राप्त करने में रुकावट डालनेवाले प्रसङ्ग भी समझ में आते हैं। परन्तु विवेक केकुछ भी आभास-वाले जो जो विघ्न मेरी जानकारी में आये हैं उन सब में एक भी ऐसा नहीं है जो पहले से न दिखाई पड़ा हो और इस योजना के प्रचारकों ने विवेचना कर के उसको या तो झूठा या आसानी से दूर हो सकने योग्य न ठहराया हो।

इन में सब से स्पष्ट और भारी विघ्न जो केन्द्रस्थल के प्रबन्ध में दगाबाजी या दगाबाजी के सन्देह के विरुद्ध उपाय होने की कल्पित अशक्यता का है उसका उत्तर संक्षेप में दिया जा सकेगा। योजना में प्रकाशित कर देने की और चुनाव होने के बाद मतपत्र जांचने की पूरी स्वतंत्रता की गारंटी की व्यवस्था रखी है; परन्तु यह सोचा जाता है कि यह गारंटी व्यर्थ जायगी; क्योंकि पत्रों की जांच पड़ताल करने के लिये मतधारी को क्लर्कों का किया हुआ सारा काम फिर से करना पड़ेगा। अगर मत पत्रों की सचाई प्रत्येक मत दाता को स्वयं जानने की कुछ भी जरूरत हो तो बाधा बहुत वजनदार होजाय। मत पत्रों की सचाई जांचने के विषय में मत-दाता की तरफ से केवल इतनी आशा रखी जा सकती है कि उसके मत का जो उपयोग हुआ है उसे वह जांचे और इस

कारण से हर एक पत्र जहां से आया हो वहां पीछे लौटावे। परन्तु जिसको वह स्वयं नहीं कर सकता उसको उसके लिये हारे हुए उमेदवार और उनके एजेंट (अढ़तिया) करेंगे। हारे हुओं में जो यह सोचते होंगे कि हमारा चुनाव होना चाहिये था वे पृथक पृथक या कुछ शामिल होकर चुनाव की सारी काररवाई की सचाई जांचने को एजेंट नियुक्त करेंगे। अगर उनको कोई भारी भूल मालूम होजायगी तो वे उस मिसल को सभा की निरूपण समिति के सामने पेश करेंगे और वह समिति राष्ट्रीय चुनाव की काररवाई को, वर्त्तमान पद्धति के अनुसार निर्वाचन निरूपण समिति के सामने सिर्फ एक मतपत्र के जांचने में जितना समय और धन लगता है उसके दसवें भाग में जांच कर उसकी सचाई जान लेगी।

इस योजना को साध्य मानते हुए भी यह कहा गया है कि दो तरह से इसका लाभ व्यर्थ जाना और उसके स्थान में हानिकारक परिणाम निकलना सम्भव है। पहली बात यह कही गयी है कि मण्डलियों या टोलियों के हाथ में और पंथ समूह के हाथ * में मेन कानून समिति और गुटिकामत मण्डली या स्वतंत्र मण्डली जैसे खास उद्देश्यों से स्थापित

* १८४३ ईस्वी में एक कानून में सुधार करने के लिये सभा स्थापित हुई थी। अमेरिका के मेन प्रान्त में १८५० ईस्वी में शराब खोरी के विरुद्ध एक कानून बना उसके लिये स्थापित सभा थी। गुटिका मत के लिये पहले किये हुए बहुत से प्रयत्न निष्फल जाने के बाद १८७२ के कानून से पार्लीमेण्ट तथा नगर सभा के चुनाव में यह मत दाखिल हुआ है। धर्म को राज्य सत्ता से छुड़ाने के लिये १८४४ में सभा बनी है।

सभाओं के हाथ में और वर्ग स्वार्थ से या धार्मिक मत के ऐक्य से बनी हुई समितियों के हाथ में अनुचित अधिकार आ जायगा। दूसरी बाधा यह बतायी गयी है कि यह पद्धति ऐसी है कि पक्ष का उद्देश्य साधने के अनुकूल हो जायगी। प्रत्येक राजनीतिक दल की मध्य सभा अपने ६५८ उमेदवारों * की सूची सारे देश में भेजेगी कि जिससे प्रत्येक मत समिति में उसके जितने समर्थन कारी हों वे सब उन उमेदवारों के लिये मत दें। किसी स्वतंत्र उमेदवार को जितना मत कभी मिल सकता है उसकी अपेक्षा इस मत की संख्या बहुत बढ़ जायगी। यह बहस उठायी गयी है कि अमेरिका की तरह पुर्जा पद्धति (टिकट-सिस्टम) † सिर्फ बड़े सुव्यवस्थित दलों के लिये ही लाभदायक ठहरेगी। क्योंकि उनके पुर्जों को लोग आँख मूँद कर स्वीकार कर लेंगे और एक स्वर से मत दे देंगे और ऊपर बताये हुए पंथ समूह या किसी साधारण विचार के लिये जमे हुए मनुष्यों की टोलियों के सिवा दूसरे किसी का उनसे शायद ही कभी अधिक मत होगा

इसका उत्तर निर्णायक जान पड़ता है। कोई नहीं चाहता कि मि० हेयर की सलाह में या दूसरी किसी योजना में संगठन का हाथ ऊपर न रहे। सुगठित संस्थाओं के मुकाबले बिखरे हुए मत सदा निर्बल रहते हैं। मि० हेयर की योजना कुछ स्वाभाविक क्रम नहीं फेर सकती और इससे जो छोटे या बड़े पक्ष या विभाग सुगठित होंगे वे अपनी सत्ता दृढ़ करने के लिये उससे यथा शक्ति पूरा लाभ उठावेंगे ही। परन्तु विद्य-

* आम सभा के सभासदों की संख्या ६७० कर दी गई है।

† अमुक अमुक उमेदवार अमुक पक्ष के हैं और चुने जाने योग्य हैं इत्यादि सिफारिश की बातें प्रगट करने वाला पुर्जा।

मान पद्धति में यह सत्ता निष्कंटक है। बिखरे हुए तत्त्व बिलकुल शून्य समान हैं। जो मतदाता बड़े राजनीतिक विभाग से या किसी छोटे धार्मिक विभाग से सम्बन्ध नहीं रखते उनके लिये अपने मत को काम में लाने का कोई उपाय नहीं है। उनको मि० हेयर की योजना उपाय बताती है। यह उन की मरजी पर है कि उससे काम लेने में अधिक चतुराई दिखावें या कम; वे अपने हिस्से का पूरा पूरा अधिकार प्राप्त करें या कम। परन्तु वे जो कुछ प्राप्त करेंगे वह खासा लाभ होगा। और जब यह सोचा जाता है कि प्रत्येक निर्जीव लाभ या निर्जीव उद्देश्य के लिये बनी हुई टोली अपना संगठन करेगी तब हम यह क्यों सोचें कि राष्ट्रीय बुद्धि और योग्यता का महान लाभ ही केवल बिना संगठन के रहेगा? जब मद्य निषेध टिकट और चीथड़ा वाला टिकट और इस तरह के दूसरे टिकट निकलेंगे तब क्या किसी मत समिति में से एकाध स्वदेश प्रेमी पुरुष व्यक्तिगत योग्यता का टिकट निकाल कर सारे जिले में प्रचार करे तो उचित नहीं होगा? और क्या ऐसे थोड़े से पुरुष लन्दन में जमा होकर साङ्केतिक मत भेदों पर दृष्टि न देकर उमेदवारों की सूची में से सब से नामी पुरुषों के नाम चुन कर थोड़े खर्च में सब मत समितियों में प्रसिद्ध नहीं करेंगे? इतना याद रखना चाहिये कि चुनाव की वर्तमान पद्धति में दो बड़े पक्षों की सत्ता निष्कंटक है। मि० हेयर की पद्धति में वह सत्ता बड़ी रहेगी परन्तु सीमाबद्ध हो जायगी। वे पक्ष या दूसरी कोई नयी टोली अपने अपने पक्षपातियों की संख्या के हिसाब से अधिक सभासद चुनने को समर्थ नहीं होगी। टिकट की चाल अमेरिका में इससे भिन्न दशाओं में चलती है। अमेरिका में मतधारी पक्ष-टिकट की तरफ मत देते हैं। इसका कारण यह

है कि चुनाव सिर्फ बहुमत से होता है और जिसके पक्ष में बहुमत न मिलने का विश्वास हो जाता है उसके पक्ष में दिये हुए मत व्यर्थ जाते हैं। परन्तु मि० हेयर की पद्धति के अनुसार योग्यता वाले प्रसिद्ध पुरुष को दिये हुए मत के लिये अपना उद्देश्य पूरा करने में प्रायः पक्ष उमेदवार को दिये हुए मत के बराबर ही सम्भावना है। इससे यह आशा की जा सकती है कि जो सुधारक (लिबरल) या संरक्षक (कंसरवेटिव) केवल सुधारक या संरक्षक होने के सिवा कुछ विशेष गुण रखते होंगे-जिनमें अपने पक्ष की इच्छा के सिवा कुछ खास अपनी इच्छा होगी-वे सब बहुत अनजान और पक्ष उमेदवार के नाम पर हरताल फेरेंगे और उनके स्थान पर राष्ट्र के प्रतिष्ठास्वरूप मनुष्यों में से कुछ के नाम सूचित करेंगे और ऐसा होने की सम्भावना का प्रभाव यह होगा कि जो लोग पक्ष सूची तैयार करेंगे वे पक्ष की प्रतिज्ञा लिये हुए पुरुषों से ही सम्बन्ध न रख कर उनके साथ अपने अपने टिकट में उनको भी दाखिल करने को ललचायेंगे जो शिष्ट पुरुष राष्ट्र में विरुद्ध पक्ष की अपेक्षा उनके पक्षकी ओर अधिक सहानुभूति रखते होंगे।

असली कठिनाई यह है और यह छिपाना उचित नहीं है कि यह कठिनाई है कि, जो स्वतंत्र मतधारी बिना सिफारिश वाले योग्य पुरुषों के लिये मत देना चाहते हैं वे इस प्रकार के कुछ पुरुषों के नाम दाखिल करने के बाद शेष सूची में सिर्फ पक्ष उमेदवारों के नाम भरने को ललचायेंगे। और इस प्रकार वे जिनको अपने प्रतिनिधि बनाने की विशेष इच्छा रखते होंगे उनके विरोधियों की संख्या में वृद्धि करने में सहाय होंगे। इसका उपाय करने की जरूरत हो तो एक सहज उपाय है और वह यह कि दूसरे दरजे या प्रासङ्गिक

मतों की सीमा बांधदें। किसी मतधारी के लिये ६५८ उमेदवारों को या १०० को भी अपने ज्ञान के भरोसे स्वतंत्र रूपसे पसन्द करना सम्भव नहीं है। जिसको चुनाव करने में उसकी पसन्द से काम लिये जाने की–सिर्फ एक पक्ष सैन्य के साधारण सैनिक के तौर पर नहीं वरंच एक स्वतंत्र मनुष्य के तौर पर मत देने की–कुछ सम्भावना हो तो ऐसे बीस, पचास या चाहे जितनी संख्या की सीमा बांधने में कम ही उज्र मालूम होगा। परन्तु बिना इस प्रकार के किसी अंकुश के भी, जब यह पद्धति एक बार अच्छी तरह समझ में आजायगी तो इस दोष के आप ही आप दूर होने की सम्भावना होगी। जिन टोलियों और मण्डलियों की इतनी बड़ी अवगणना की जाती है उन सब का इस कठिनाई से सामना करना सर्वोपरि उद्देश्य हो जायगा। इनमें से प्रत्येक का पक्ष छोटा होने से उनकी ओर से यह शब्द बाहर निकलेगा कि 'अपने खास उमेदवारों के लिये ही मत देना अथवा कम से कम उनके नाम सब से ऊपर रखना कि जिससे उनको तुम्हारे प्रथम मत द्वारा अथवा कतार में नीचे उतरे बिना अपनी संख्या पूरी करने का तुम्हारे संख्या बल के हिसाब से मिलने योग्य पूरा मौका मिले।' और जो मतधारी किसी टोली से सम्बन्ध रखते होंगे वे भी इस उपदेश से लाभ उठावेंगे।

छोटे दल सिर्फ वही सत्ता पावेंगे जो उनके लिये उचित होगी। वे उतनी ही सत्ता चला सकेंगे जितने के लिये अपने मतधारियों की संख्या से हकदार होंगे, उससे तनिक भी अधिक नहीं। और यह भी विश्वास पूर्वक पाने के लिये उन्हें अपने खास उद्देश्य के प्रतिनिधि के तौर पर ऐसे उमेदवारों के सामने रखने की वृत्ति रहेगी कि जिससे वे अपने दूसरे गुणों द्वारा टोली या पंथ के बाहर के मत धारियों के मत पाने के

भी शक्तिमान होंगे। वर्तमान पद्धतियों के समर्थन की दलीलों का लोक चक्र अपने ऊपर होने वाले कटाक्ष से रुख के अनुसार किस तरह फिरता रहता है यह देख कर आश्चर्य होता है। कुछ वर्ष पहले उस समय की वर्तमान प्रतिनिधि पद्धति के समर्थन में जो एक मजेदार दलील पेश की गयी थी वह ऐसी थी कि उसमें सभी 'स्वार्थ' अथवा 'वर्ग' को प्रतिनिधि मिलते थे और जो स्वार्थ या वर्ग कुछ भी आवश्यक हो उसको वेशक पार्लमेएट में प्रतिनिधि मिलना चाहिये अर्थात् उसका हिमायती या वकील होना चाहिये। परन्तु उससे अंत को यह बहस उठायी गयी कि जो पद्धति पक्ष स्वार्थ को केवल वकील ही नहीं वरंच निर्णय सत्ता भी देती थी उसको कायम रखना चाहिये। अब चक्रगति देखिये। मि० हेयर की पद्धति में पक्ष स्वार्थ को निर्णय सत्ता मिलना असम्भव होता है परन्तु उसको वकील मिलने का भरोसा होता है और ऐसा करने के लिये भी इसकी निन्दा होती है। इसमें वर्ग प्रतिनिधि तत्व और संख्या प्रतिनिधि के अच्छे तत्व जुट जाते हैं, इस कारण इसके ऊपर दोनों ओर से एक साथ हमला होता है।

परन्तु इस पद्धति के स्वीकार करने में जो असली कठिनाई है वह इन आपत्तियों की नहीं हैं; वरंच उसकी जटिल व्यवस्था के विषय में अतिशयोक्ति भरे विचार की और इससे वह काम में आ सकेगी कि नहीं इस विषय के सन्देह की हैं। इस आपत्ति का पूरा उत्तर तो असली परीक्षा से ही मिलेगा। इस योजना के गुण जब सर्वसाधारण को अधिकता से मालूम हो जायँ और पक्षपात रहित ज्ञानियों में इसके लिये अधिक सम्मति मिले तब किसी बड़े शहर के नगर निर्वाचन (म्यूनीसिपल चुनाव) जैसी निर्द्धारित भूमि पर इसकी परीक्षा लेने का प्रयत्न करना चाहिये। जब वार्क

जिले में वेस्ट राइडिंग को चार सभासद देने के लिये उस का विभाग करने का ठहराव हुआ तब ऐसा करने के बदले उसकी मत समिति को अविभक्त रहने देकर दिये हुए मत की समूची संख्या में से पहली बार के या दूसरी बार के मत से एक चौथाई मत पानेवाले उमेदवार को चुना हुआ समझने के इस नये नियम की परीक्षा करने का जो एक प्रसङ्ग आया था वह टल गया। ऐसी आजमाइश इस योजना की योग्यता की बहुत अधूरी कसौटी गिनी जायगी; तोभी इससे उसकी क्रिया पद्धति का एक दृष्टान्त मिल जायगा। इससे लोग विश्वास कर सकेंगे कि यह असाध्य नहीं है। इसके उपादान से वे परिचित होंगे और जो कठिनाइयां ऐसी भयंकर समझी जाती हैं वे सचमुच ऐसी हैं या केवल कल्पित हैं इस का निर्णय करने का उन्हें कुछ मसाला मिलेगा। जिस दिन पार्लीमेण्ट इस आंशिक परीक्षा की मंजूरी देगी उस दिन से मैं समझता हूं कि पार्लीमेण्ट के सुधार में एक नये युग का आरम्भ होगा जो अभी तक दुनिया में सिर्फ बोधक अवस्था में दीख पड़े हुए प्रतिनिधि राज्य को उस अवस्था से बाहर निकाल कर उसके प्रौढ़ और विजयी समय के योग्य स्वरुप विकसित करने को बना है *

---

* इस निबंध की पिछली और इस आवृत्ति के बीचे के समय में यह मालूम हुआ कि यहां बतायी हुई परीक्षा किसी शहर या प्रान्त से बड़े विस्तार में काम में लायी जा चुकी है और कई वर्ष से उसकी आजमाइश हो रही है। डेनिश राज्यतंत्र में (तल डेनमार्क में ही नहीं वरंच सारे डेनिश राज्य के लिये गढ़ी हुई पद्धति में) छोटे वर्गों को समान प्रतिनिधि देने के लिये किया हुआ प्रबन्ध तो लगभग मि०

आठवां अध्याय।

मतहक के विस्तार के विषय में।

अब जैसा कि हम लिख चुके हैं केवल बहुमत वाला नहीं हयर की की पद्धति पर रखा है कि जिस से मनुष्य मन की जन समाज की साधारण स्थिति में से उपजती हुई कठिनाइयों का समाधान करने वाले विचार भिन्न भिन्न उत्कृष्ट मनवालों को परस्पर संसर्ग हुए विना भी किस तरह एक ही समय सूझ जाते हैं इसके अनेक दृष्टान्तों में इस से एक नया वृद्धि होती है। मि० रावर्ट लिटन ने (जो पीछे से १८७६-८० में हिन्दुस्थान के बड़े लाट हुए थे) अपने प्रभावशाली पत्र में डेनमार्क के चुनाव के कानून का यह लक्षण पूर्णता और स्पष्टता से ब्रिटिश प्रजा के सामने रखा है; वह पत्र आम सभा के हुक्म से सन् १८६४ ईस्वी में छपे हुए एलची विभाग के मंत्रियों के निवेदन पत्रों में से एक है। मि० हेयर की योजना, जो आज कल मि० एण्ड्री की भी कहलाती है, इस प्रकार केवल तर्क की स्थिति से निकल कर एक अनुभवसिद्ध राजनीतिक प्रयोग की स्थिति में आ गयी है।

यद्यपि डेनमार्क ही एक ऐसा देश है जहां व्यक्ति गत प्रतिनिधि तत्व एक नियम के रूप में प्रतिष्ठित होगया है तो भी इस मत का प्रसार विचारशील पुरुषों में बहुत तेजी से हुआ है। इस समय जिन जिन देशों में सार्वत्रिक मत का हक आवश्यक माना जाता है प्रायः उन सब में यह योजना तेजी से अपना मार्ग बनाती जाती है। इस योजना को जन सत्ताक राज्य के मित्रों के मन में मूल तत्व के एक वास्तविक परिणाम स्वरूप और जो जन सत्ताक राज्य को पसन्द नहीं करते, परन्तु स्वीकार करते हैं उनके मन में उसकी अड़चलों के एक आवश्यक उपाय स्वरूप स्वीजरलेण्ड के राजनीतिक तत्व शास्त्रियों ने

पहले पहल साबित किया। फ्रांस के तत्व ज्ञानियों ने उनका अनुसरण किया। फ्रान्स में दूसरे किसी के विषय में न कहें तो सब से मान्य और प्रामाणिक राजनीतिक लेखकों में से दो जनों ने इस योजना को आम तौर पर स्वीकार किया है। इन में से एक नरम सुधारक दल का है और दूसरा जनसत्ताक राज्य के नरम दल का है। इसके जर्मन समर्थन कारियों में से एक जर्मनी का सर्वोत्कृष्ट राजनीतिक दार्शनिक गिना जाता है और वह बेडन के ग्रांड ड्यूक के उदार मंत्री दल का एक नामी सभासद है। अमेरिकन जन सत्ताक राज्य में विचार की जो जागृति चल रही है और जो मनुष्य-स्वतंत्रता के लिये चलते हुए युद्ध का एक फल है उस में दूसरे विषय के साथ इसको भी भाग मिलता है। आस्ट्रेलिया के हमारे दो टापुओं में मि० हेयर की योजना उनकी कानून सभाओं में विचार के लिये पेश की गयी है और यद्यपि वह अभी तक मंजूर नहीं हुई है तथापि उस के पक्ष में एक प्रबल दल बन चुका है। इधर साधारण राजनीतिक संरक्षक और बिलकुल मूल तत्व का अनुसरण करनेवाले पूरे पूरे सुधार के पक्षपाती दोनों मूलपक्षों के वक्ताओं के बड़े भाग ने उसके मूलतत्व का जो जो स्पष्ट और सम्पूर्ण ज्ञान दिखाया है, उस से मालूम होता है कि यह योजना ऐसी उलझन दार है कि साधारण तौर पर समझना और काम में लाना असम्भव हो जायगा—ऐसा जो विचार है वह कैसा निर्मूल है। इस योजना और इसके लाभ के सब के लिये सुगम होने के निमित्त दूसरी किसी बात की जरूरत नहीं है, जरूरत सिर्फ उस समय के आने की है जब सब लोग उस पर वास्तविक रूप से ध्यान देना उचित समझें। ग्रन्थकर्ता।

का लाभ, अभिप्राय और दरजे की बात संख्या बल में घट कर होने पर भी देखी जाय, और उसको उसकी संख्या के हिसाब से न मिलने योग्य प्रभाव, उसकी प्रतिष्ठा की महत्ता और दलील की सबलता के कारण प्राप्त करने की सम्भावना रहे; जो जन सत्ताक राज्य ही एक मात्र समान और निष्पक्ष है जो सब का सब के ऊपर राज्य और जनसत्ताक राज्य को यथार्थ प्रतिमा है वह जनसत्ताक राज्य—उस राज्य के सब बड़े दोषों से मुक्त रहेगा जो इस समय गलत तौर पर जनसत्ताक राज्य के नाम से परिचित होता है और केवल जिसके ऊपर से जनसत्ताक राज्य का वर्त्तमान ढांचा बना है। परन्तु इस जनसत्ताक राज्य में भी अगर बहुमत स्वतंत्र सत्ता चलाना चाहे तो वह सत्ता उसके हाथ में रहेगी और यह बहुमत दुराग्रह, पक्षपात और साधारण विचार पद्धति के ऐसा और विशेष नहीं तो सब से ऊंची शिक्षा रहित केवल एक वर्ग का बना हुआ होगा। इससे राज्यतंत्र में पक्षविशेष वाली व्यवस्था के लाक्षणिक दोषों की सम्भावना अब भी रहेगी; इस समय जन सत्ताक राज्य का झूठा नाम धारण करने वाले परन्तु वास्तव में शुद्ध वर्गीय राज्य की व्यवस्था में जो दोष है उसकी अपेक्षा बहुत कम दोष होने पर भी बहुमत की अच्छी समझ, नरमी और सहिष्णुता मिलने के सिवा उस पर दूसरा कोई चोटीला अंकुश नहीं रहेगा। इस प्रकार का अंकुश अगर काफी हो तो अंकुशित (नियंत्रित) राज्य तंत्र का शास्त्र केवल लड़कखेल सा हो जायगा। राज्यतंत्र में सत्ता धारी लोग सत्ता का अनुचित प्रयोग नहीं करेंगे यह नहीं, वरंच कर नहीं सकेंगे यह अगर भरोसा हो सके तो वही सारे विश्वास का आधार है। अगर जनसत्ताक राज्य का यह कमज़ोर बाज़ू मजबूत न किया जा सके, अगर उसकी रचना

ऐसी न हो कि कोई वर्ग, यहां तक कि संख्या में सब से बड़ा वर्ग भी अपने सिवा और सब को राजनीतिक विषय में नहीं के समान बना कर केवल अपने वर्ग स्वार्थ के अनुसार कानून बनाने और इन्तज़ाम करने का मार्ग पकड़ने को शक्तिमान हो तो वह वास्तव में उत्कृष्ट शासन पद्धति नहीं है। जन सम्मत राज्यतंत्र के लाक्षणिक लाभों का त्याग किये बिना इस अनुचित उपयोग को रोकने का उपाय ढूंढ़ने का प्रश्न है।

जिसमें नागरिकों के किसी वर्ग को प्रतिनिधि तत्व में मत देने से वंचित रहने को लाचार होना पड़े इस प्रकार मतहक की सीमा बांधने की युक्ति से ये दोनों जरूरतें पूरी नहीं होतीं। स्वतंत्र राज्यतंत्र का सब से बढ़ कर लाभ यह समझा जाता है कि जनता के सबसे निचले वर्गों को स्वदेश के महान लाभों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाले काम करने में भाग लेने को आह्वान करने से उन्हें बुद्धि और विचार की शिक्षा मिलती है। इस विषय पर मैं बहुत स्पष्टता से विचार कर चुका हूं; यहां फिर जो कहता हूं वह इसी लिये कि जन सम्मत तंत्र के इस असर पर जितना ज़ोर देना चाहिये उतना ज़ोर कम ही मनुष्य देते दिखाई देते हैं। जो कारण ऐसा निर्जीव जान पड़ता है उससे इतनी बड़ी आशा रखना–अर्थात् मजदूरों का किया हुआ राजनीतिक मतहक का उपयोग उनके मानसिक सुधार का एक प्रबल साधन हो जाता है यह स्वीकार करना लोगों को कल्पना मालूम होती है। इतने पर भी अगर जनता की वास्तविक मानसिक शिक्षा केवल स्वप्न रूप रख छोड़ने का विचार न हो तो उसके लिये यही मार्ग है। अगर कोई यह सोचे कि इस मार्ग से नहीं होने का; तो मैं एम० डी टोकिवल के महान ग्रंथ की और खास कर उसकी अमेरिका सम्बन्धी राय की गवाही देता हूं। प्रत्येक अमेरिकन कुछ कुछ देशभक्त

और शिक्षित बुद्धि का मनुष्य है यह देख कर प्रायः सभी पर्यटक चकित हुए हैं और इन गुणों से जन सम्मत राज्य तंत्र का कैसा गहरा सम्बन्ध है यह एम० डी टोकिवल ने दिखाया है। शिक्षित मनके भाव, शौक और विचार का अधिक प्रसार और किसी स्थान में देखने या सम्भवतः समझने में भी नहीं आया है। *फिर भी प्रतिबंधन के विषय में इसी के ऐसे

* "न्यूयार्क प्रदर्शनी में अंगरेज एलची का निवेदन पत्र" में से नीचे का जो वाक्य मैं मि० करी के "सामाजिक शास्त्र के मूलतत्त्व" से उद्धृत करता हूं वह मूल वचन के एक भाग की तो विलक्षण साक्षी देता है—

"हमारे यहां थोड़े से बड़े यंत्रशास्त्री (इंजीनियर) और यांत्रिक हैं और बाकी संख्या चतुर कारीगरों की है; परंतु ऐसा जान पड़ता है कि अमेरिका के सभी लोग वैसे ही हो जायंगे। अभी से उनकी बड़ी नदियां अग्निबोटों से भरी रहती है, उनकी घाटियां कारखानों से भरी रहती हैं; उनके शहर जो बेलजियम, हालेण्ड और इंगलेण्ड के सिवा यूरोप के दूसरे राज्यों के शहरों से बढ़े चढ़े हैं, वे आजके जमाने में शहर की बनावट का परिचय देने वाली सारी कुशलता के स्थान हैं; और यूरोप में शायद ही ऐसी कला होगी जो यद्यपि यूरोप में बहुत मुद्दत तक मंज कर ठीक हुई होगी तो भी, अमेरिका में युरोप के बराबर ही या उससे भी अधिक कुशलता से जारी न हो। भविष्य में (तत्व ज्ञानी राजनीतिक पुरुष और लेखक तथा आकाशी और यांत्रिक बिजली को एक सिद्ध करने वाले, अमेरिकन स्वतन्त्रता की लड़ाई के एक अगुआ) फ्रांकलिन, (गतिमान वाष्प यंत्र का आविष्कार करने वाले और इंगलेण्ड में पहले पहल रेल बनाने

जनसत्ताक, परन्तु दूसरी आवश्यक बातों में अच्छी तरह सुगठित, राज्यतंत्र में जो आशा रखी जा सकती है उसके सामने यह बात नहीं के बराबर है। क्योंकि यद्यपि अमेरिका का राजनीतिक जीवन वास्तव में एक सब से मूल्यवान पाठशाला है तथापि सबसे योग्य शिक्षक उसमें घुसने ही नहीं पाते। इसका कारण यह है कि देश के पहले दरजे के मन वाले मनुष्य तो मानो नियम पूर्वक अयोग्य ठहराये जाकर राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा से और साधारणतः सार्वजनिक कामों से वंचित रखे जाते हैं। अमेरिका में सत्ता का मूल जनता ही है इससे देश के स्वार्थी अभिलाष, जैसे निरंकुश या स्वेच्छाचारी राज्य में राजा की तरफ झुकते हैं वैसे ही, यहां जनता की तरफ झुकते हैं। राजा की तरह जनता का बखान और गुणगान होता है और सत्ता का हानिकारक परिणाम भी उसके सुधार और अच्छे प्रभाव के साथ पूर्णता से जारी रहता है। जब यह दोष लगा रहने पर भी जनसत्ताक राज्यतंत्र अमेरिका के सबसे निचले वर्गों में, इंगलेण्ड और दूसरे देशों के उन वर्गों की तुलना से, बुद्धि का उत्तम-विकास ऐसी स्पष्ट रीति से करता है तब इस प्रभाव का दूषित अंश दूर करके सार भाग

वाले) स्टीफन्स और (वाष्प यंत्र का आविष्कार करने वाले) वाटस् को पैदा करने वाले एक समूचे राष्ट्र के विषय में अटकल लगाना दूसरे राष्ट्रों के लिये कुछ आश्चर्यजनक होगा। युरोप के थोड़े से सुशिक्षित और बुद्धिमान पुरुषों की श्रेष्ठता चाहे जैसी हो, परन्तु मुकाबले में लोगों के बड़े भाग की सुस्ती और अज्ञानता के विरुद्ध अमेरिका के समूचे जन समाज का विषय ऐसा है कि उसपर सबसे अधिक ध्यान देना उचित है।

कायम रख सकने पर कैसा फल होगा ? और किसी कदर ऐसा किया जा सकेगा; परन्तु वह जनता के जिस विभाग को दूसरी तरह का सब से थोड़ा ही मानसिक उत्तेजन है उसको राज्यकार्य पर ध्यान देने का मन कराने से विशाल, दूरदर्शी और उलझनदार लाभों में जो अनमोल प्रवेश कराया जा सकता है उसमें से खारिज करने से नहीं। जिन मजदूरों का धंधा भेड़ियाधसान के ऐसा है और जिनके जीवन की वृत्ति उन्हें कभी विविध भाव, प्रसङ्ग या विचार के संसर्ग में नहीं आने देती वे जो सीखते हैं कि दूर वाले कारण और बहुत सी होने वाली घटनाएं उनके निज के स्वार्थ पर भी बहुत प्रत्यक्ष असर डालती हैं सो सिर्फ राजनीतिक चर्चा से; और जिनके नित्य के काम उनके आस पास के एक छोटे मोटे वृत्त में ही उनके स्वार्थों को बटोर रखते हैं वे जो यह समझने लगते हैं कि हम अपने नगर बन्धुओं से सद्भाव रखना और उनसे एक वृत्ति होना सीखते हैं और स्वयं एक महान जनता के सभासद हैं वह सिर्फ राजनीतिक चर्चा और राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था से ही। परन्तु जिनके मत नहीं है और जो इसे पाने का यत्न नहीं करते, उनके ऊपर से राजनीतिक चर्चा अधर को ही उड़ जाती है। मतधारियों के मुकाबले उनकी स्थिति वैसी ही है जैसी अदालत में बारह जूररों के मुकाबले दर्शकों की स्थिति है। जो मत मांगा जाता है वह उनका नहीं है, जिस अभिप्राय का प्रभाव पड़ता है वह उनका नहीं है; जो दरख्वास्तें पड़ती हैं, दलीलें पेश की जाती हैं वह उनके सामने नहीं वरंच दूसरों के सामने; वे जो निर्णय करते हैं उसका कुछ वजन नहीं और उन्हें निर्णय करने की जरूरत नहीं है और लालच भी थोड़ा ही है। दूसरी तरह से जन सम्मत राज्यतंत्र में जिनका कुछ मत नहीं है अथवा उसे पाने

की जिन्हें कुछ आशा नहीं है वे मानो निरन्तर असंतुष्ट रहते हैं या यह समझते हैं कि हमारा जनता के साधारण कार्य से कुछ सम्बन्ध नहीं है, यह कार्य हमारी तरफ से दूसरों को करना है, हम से कानून के पावन्द रहने के सिवा और किसी तरह का वास्ता नहीं है और सार्वजनिक लाभ और कार्य से दर्शक के सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी दशा में वे इसके विषय में क्या जानना या परवा रखना चाहेंगे इसका अन्दाज कुछ कुछ इससे लग सकेगा कि मध्यम दरजे की स्त्री अपने पति या भाइयों के मुकाबले क्या जानती और परवा रखती है।

इन विचारों को एक ओर रखें तो भी जिन कार्यों में एक का दूसरे के इतना ही स्वार्थ है उनके करने में अपना मत गिनाने का साधारण हक किसी को भी न देना, अगर कोई भारी अनर्थ रोकने के लिये न हो तो एक तरह का अन्याय है। अगर उसे धन देना पड़े, कभी लड़ने जाने को लाचार होना पड़े और बिना चूं किये हुक्म मानना पड़े तो क्यों ऐसा होता है यह जानने का, उसकी सम्मति पूछी जाने और उसका अभिप्राय वजन से अधिक नहीं तो उसके अनुसार ही गिनती में लिये जाने का उसे कानून के रू से हक होना चाहिये। एक सम्पूर्ण खिले और सुधरे हुए जन समाज में कोई अन्त्यज, कोई मनुष्य बिना खास अपने दोष के नालायक न गिना जाना चाहिये। प्रत्येक जन, जब दूसरे मनुष्य उससे सलाह लिये बिना उसके भविष्य की व्यवस्था करने की निरंकुश सत्ता अपने हाथ में लेते हैं तब वह समझता हो या नहीं परन्तु हलका गिना जाता है। और मनुष्य मन अभी तक जहां पहुँच सका है उससे कहीं बढ़कर सुधरी हुई अवस्था में भी जिन के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था होती है उनको मतधारियों

के इतना ही न्याय मिले यह स्वाभाविक नहीं है। राजाओं को और शासनकारी वर्ग को, जिन्हें मत हक होता है उनके स्वार्थ और अभिलाष पर ध्यान देने की जरूरत पड़ती है। परन्तु जो वंचित रहते हैं उनके विषय में ऐसा करना या न करना उनकी मरजी पर है। और उनकी वृत्ति चाहे जैसी ईमानदार हो परन्तु जिन विषयों पर ध्यान दिये बिना उनका काम नहीं चल सकता उनमें वे साधारणतः इतने उलझे रहते हैं कि जिस विषय में वे बेखटके लापरवा रह सकते हैं उस पर विचार करने को उन्हें तनिक अवकाश नहीं मिलता। इससे मत हक की जिस व्यवस्था में कोई वर्ग या मनुष्य एकदम निकाल दिया जाता है, जिस में मतधारी का अधिकार चाहने वाले प्रौढ़ अवस्था के पुरुष उसे नहीं पा सकते उस में स्थायी सन्तोष नहीं प्राप्त होने का।

इतने पर भी प्रत्यक्ष कारणों से कुछ खास प्रतिबंधन आवश्यक हैं क्योंकि ये प्रतिबन्धन मूल तत्त्व के विरुद्ध नहीं हैं और यद्यपि वे स्वयं दूषण हैं तथापि जिस दशा में वे आवश्यक हो जाते हैं उस स्थिति का अभाव होने से ही दूर किये जा सकते हैं। जो मनुष्य पढ़ने लिखने, और विशेष कर मैं यह कहता हूं कि, अङ्कगणित की साधारण क्रिया करने में अशक्त हों वे मतहक पावें यह बात मुझे पसन्द नहीं। यदी मतहक का आधार न हो तो भी यह मूल गुण पाने का साधन प्रत्येक मनुष्य के सामने होना चाहिये और यह या तो मुफ्त मिले या इतने खर्च से मिले जिसे स्वयं कमा खाने वाले गरीब से गरीब मनुष्य दे सकें। अगर वास्तव में ऐसी स्थिति हो तो लोग न बोल सकने वाले बालकों की तरह न पढ़ सकने वाले मनुष्यों को मतहक देने का कुछ विचार न करें; और इस प्रकार उनको जो वंचित करेगा वह समाज

नहीं होगा वरंच उनकी अपनी सुस्ती होगी। समाज ने जब इतनी शिक्षा देने का अपना कर्त्तव्य न पाला हो तब कुछ कष्ट तो होगा परन्तु यह कष्ट सहन करना ही चाहिये। समाज ने जब दो महान कर्त्तव्य पालन करने में त्रुटि की हो तब दो में से अधिक जरूरी और अधिक आधार भूत कर्त्तव्य पहले पालन करना चाहिये। सार्वजनिक शिक्षा सार्वजनिक मतहक से पहले होना चाहिये। जिन की समझ पर पुराने सिद्धान्त का परदा न पड़ा होगा वे तो कोई ऐसा आग्रह नहीं करेंगे कि जिन्हों ने अपनी सम्हाल रखने के लिये अपना लाभ और उसके साथ अपने सब से निकट सम्बन्धी मनुष्यों का लाभ विवेक पूर्वक सम्पादन करने के लिये जरूरत के सब से मामूली और आधार भूत गुण नहीं प्राप्त किये हैं उनके हाथ में दूसरे के ऊपर की, समस्त जनता के ऊपर की सत्ता सौंपी जाय। यह दलील बेशक आगे बढ़ायी जा सकेगी और अधिक खूब सूरती से साबित की जा सकेगी। पढ़ने लिखने और अङ्कगणित के सिवा दूसरे विषय भी मतहक के लिये आवश्यक बनाये जा सकते हैं। पृथ्वी की आकृति का और प्राकृतिक तथा राजनीतिक विभाग का ज्ञान, साधारण इतिहास और स्वदेश के इतिहास तथा राज्यतंत्र के मूलतत्व का ज्ञान सब मतदाताओं में चाहा जाय तो बहुत उचित समझा जायगा। इस प्रकार का ज्ञान मतहक का विवेक पूर्वक उपयोग करने के लिये चाहे जितना आवश्यक हो परन्तु इस देश में अथवा शायद संयुक्त राज्य के उत्तरी राज्यों के सिवा दूसरे किसी देश में समस्त जनता को सुगम नहीं है और उसके पाने का भरोसा करने का कोई विश्वसनीय उपादान भी विद्यमान नहीं है। इस समय तो ऐसे प्रयत्न से पक्षपात, प्रपंच और हर तरह का कपट ही बढ़ेगा। एक को मतहक दिया जाय और दूसरे को नहीं

इसको सरकारी कर्मचारी की इच्छा पर रखने की अपेक्षा यह अच्छा है कि आम तौर पर दिया जाय या आम तौर पर बंद रखा जाय। फिर भी पढ़ने लिखने और हिसाब किताब के बारे में तो कुछ कठिनाई ही जान पड़ेगी। जो आदमी अपना नाम लिखवाने को हाजिर हो उससे नाम लिखने वाले कर्मचारी के सामने किसी अंगरेजी पुस्तक से एक वाक्य नकल कराना और त्रैराशिक का एक हिसाब लगवाना तथा यह बहुत सादी परीक्षा ईमानदारी के साथ होती है इसके विश्वास के लिये निर्द्धारित नियम और सम्पूर्ण विज्ञप्ति की व्यवस्था करना आसानी से हो सकता है। अतएव सार्वत्रिक मतहक की सब दशाओं में यह शर्त होनी चाहिये और कुछ वर्षों में यह होगा कि जो लोग इस हक से इतनी बड़ी लापरवाही दिखाते होंगे कि स्वयं मत देने पर भी साधारणतः कोई वास्तविक राजनीतिक अभिप्राय न देते हों उनके सिवा दूसरा कोई वंचित नहीं रहेगा।

फिर यह भी आवश्यक है कि सार्वजनिक या स्थानिक करों के विषय में मत देने वाली सभा उन्हीं के द्वारा चुनी जाय जो निर्द्धारित कर का कुछ भाग देते हों। जो लोग कुछ भी कर नहीं देते उनमें अपने मत से दूसरे के रुपये की व्यवस्था करने में खुले खजाने रुपया उड़ाने के बहुत से उद्देश्य होते हैं परन्तु किफायत करने का कोई उद्देश्य नहीं होता। धन सम्बन्धी विषय में तो उनके हाथ में मत देने की कुछ भी सत्ता रहने से स्वतंत्र राज्यतंत्र का मूल आधार भूत सिद्धान्त भंग होता है और उसकी हितकारिणी व्यवस्था की वृत्ति से अंकुश-सत्ता अलग करने के बराबर है। वे जिसको सार्वजनिक काम कह दें उस काम के लिये चाहे वह कैसा हु हो, दूसरे लोगों की जेब में हाथ डालने की आज्ञा देने के बराबर

यह बात है। इस कारण से संयुक्त राज्य के कई बड़े शहरों में स्थानिक करों की दर बेहद बढ़ी हुई है और वह केवल धनवान श्रेणी के माथे पड़ी हुई है। *ब्रिटिश राज्यनीति शास्त्र* का यह एक नियम है कि प्रतिनिधित्व कर के साथ ही साथ एक समान विस्तार में रहे, उससे पिछड़ न जाय या न आगे ही बढ़े। परन्तु इस नियम का प्रतिनिधित्व से सम्बन्ध रखने वाली शर्त के तौर पर सार्वत्रिक मतहक से सामञ्जस्य रखने के लिये कर का सब से गरीब श्रेणी तक कुछ प्रत्यक्ष आकार में पहुँचना आवश्यक है और दूसरे कई कारणों से अभीष्ट भी है। इस देश में और दूसरे कितने ही देशों में शायद ही ऐसा कोई परिवार होगा जो निद्रा जनक या मादक पदार्थों को न गिनें तो भी चाय, कहवा और चीनी खरीद कर परोक्ष कर में वृद्धि न करता हो। परन्तु सार्वजनिक व्यय में भाग लेने की इस पद्धति का प्रभाव लोगों पर मुश्किल से पड़ता होगा। कर देने वाला शिक्षित और विचार शील पुरुष न हो तो जब उस से सार्वजनिक व्यय निबाहने के लिये सीधे तौर पर कर मांगा जाता है तब वह उसकी हलकी दर में जैसा निकट स्वार्थ समझता है वैसा इस में नहीं समझता; और अगर यह सोचें कि वह समझता है तो वह बेशक इतनी सम्हाल रखेगा कि अपनी राय देकर सरकार के सिर पर चाहे जैसा उड़ाऊ खर्च रखने में मदद कर दे परन्तु जिन चीज़ों को वह स्वयं काम में लाता हो उनके ऊपर के कर की दर बढ़ा कर खर्च न किया जाय। अधिक अच्छा मार्ग यह है कि हर एक बोलता उमर के आदमी पर जजिया के ऐसा मामूली दरजे का कर लगाया जाय; या जो आदमी अपने ऊपर लगाये हुए इस कर की दर में इस किस्म की कुछ असाधारण वृद्धि करने दे वह मतदाताओं

में शामिल किया जाय अथवा देश के समूचे खर्च के हिसाब से कमोवेश एक छोटी सी सालाना रकम हर एक रजिष्ट्री शुदा मातदाता से ली जाय कि जिस से हर एक आदमी को यह मालूम हो कि जिस रुपये को खर्च करने में वह अपने मत की मदद देता है उस में कुछ भाग अपने सिर पर है और उसको रकम थोड़ी रखने में अपना स्वार्थ है।

यह चाहे जो हो परन्तु मैं यह समझता हूँ कि पेरिश * का आश्रय लेने वाले मनुष्य को मतहक के लिये प्रत्यक्ष रूप से अयोग्य गिनना चाहिये। यह प्रथम मूल तत्व के अनुसार है। जो मनुष्य अपनी मिहनत से अपना पोषण नहीं कर सकता उसको दूसरे का पैसा अपने हाथ में लेने के हक पर कुछ दावा नहीं है। अपने प्रत्यक्ष पोषण के लिये जनता के बाकी मनुष्यों का मुँहताज होने से वह दूसरे विषयों में उनके समान हक रखने का दावा छोड़ देता है। जिनसे उसकी गुजर का भरोसा है वे अगर यह चाहें कि यह साधारण मूलधन में इस समय कुछ वृद्धि नहीं करता या उसमें से जितना लेता है उससे कम वृद्धि करता है इस लिये उस मूलधन की व्यवस्था इसको खारिज करके स्वतंत्रता से करना चाहिये तो यह उचित है। मतहक के विषय में एक ऐसी शर्त रखनी चाहिये कि एक नियत की हुई मुद्दत तक—मसलन पांच वर्ष तक—प्रार्थी का नाम पेरिश के बहीखाते में आश्रित के तौर पर लिखा न होना

* धर्मोपदेश के लिये इंगलैण्ड छोटे छोटे प्रदेशों में बटा हुआ है, उन प्रदेशों को पेरिश कहते हैं। प्रत्येक प्रदेश में एक धर्म गुरु होता है। पेरिश के अन्दर जन्मे हुए अशक्त और निराश्रय का पोषण उसके सिर रहता है और इसके प्रबन्ध के लिये एक प्रबन्धकारिणी समिति रहती है।

चाहिये। अपना दीवाला निकालने वाला या दीवालिया कानून से लाभ उठाने वाला मनुष्य जब तक अपना देना न चुका दे अथवा इतना भी साबित न करे कि अब या कुछ मुद्दत से वह निराश्रित सहायक धन के भरोसे नहीं है तब तक उसको मतहक के योग्य न समझना चाहिये। जो आदमी कर इतनी लम्बी मुद्दत तक न दे कि वह भूल चूक में शामिल न हो उस आदमी को मतहक के योग्य न मानना चाहिये। ये शर्तें प्राकृतिक रीति पर स्थायी नहीं हैं। इनमें दर असल ऐसी शर्तें हैं कि सभी मनुष्य चाहें तो पूरी करने को समर्थ हो सकते हैं या उनको होना चाहिये। जो कठिनाइयां प्राकृतिक होती हैं उनके लिये तो मतहक का मार्ग खुला ही रहता है। और जो कोई मनुष्य वंचित होता है वह या तो उसकी इतनी कम परवा रखता है कि उसके लिये जो कुछ करना उसका फर्ज है उसको वह नहीं करता अथवा वह संकट और अधमता की ऐसी साधारण स्थिति में होता है कि उसमें अगर दूसरों की हिफाजत के लिये जरूरी यह जरा सी बढ़ती होगी तो जान नहीं पड़ेगी और यह आदमी उसमें से बाहर निकलेगा तब दूसरे के साथ इस अधमता का चिन्ह भी अदृश्य हो जायगा।

इससे (अगर यह मान लें कि हमने अभी जिनकी आलोचना की है उनके सिवा दूसरी कोई शर्त नहीं है तो) हम आशा रख सकते हैं कि अन्त को उस उत्तरोत्तर घटते हुए वर्ग के सिवा अर्थात् पेरिश के आश्रितों के सिवा सब को मतहक मिलेगा, यानी इस स्वल्प अपवाद के सिवा मतहक सार्वत्रिक ही रहेगा। इसका इस तरह विशाल प्रसार होना चाहिये। जैसा कि हमने देखा है, यह अच्छे राज्यतंत्र की विशाल और उच्च भावना में आवश्यक है। इतने पर भी ऐसी स्थिति

में बहुतेरे देशों के और निस्सन्देह इस देश के मतधारियों का बड़ा भाग स्वयं मजदूर होगा और इससे बेहद हलके दरजे के राजनीतिक ज्ञान का और वर्गलाभ के कानून का दूना भय बना रहेगा। देखने को यह रह जाता है कि इन दोषों को दूर करने का उपाय है या नहीं।

मनुष्य अगर सच्चे दिल से चाहे तो ये दोष दूर हो सकते हैं। किसी कृत्रिम युक्ति से नहीं, वरंच जिन को कोई स्वार्थ या रिवाज बाधा न डाल सकतो हो ऐसे विषयों में प्रत्येक जन को जीवन का जो साधारण क्रम अनुसरण करना पसन्द है उसके अनुसरण से ही। सभी मनुष्य कार्यों में जिनका प्रत्यक्ष स्वार्थ हो और जो दर असल बाल्य अवस्था में न हों उन सब जनों को मत का हक है और जब तक इनका किया हुआ मत का उपयोग सब की रक्षा के प्रतिकूल न जाता हो तब तक उनको न्याय के रू से उससे वंचित नहीं कर सकते। परन्तु यद्यपि प्रत्येक जन का मत होना चाहिये तथापि यह प्रश्न अलग ही है कि क्या प्रत्येक जन का समान मत होना चाहिये? जिन दो मनुष्यों का किसी कार्य में संयुक्त स्वार्थ होता है उन में जब मत भेद होता है तब क्या न्याय यह चाहता है कि दोनों की राय समान वजन की समझी जाय? अगर दोनों में सद्गुण समान हों परन्तु ज्ञान और बुद्धि में एक से दूसरा श्रेष्ठ हो अथवा दोनों में बुद्धि समान हो परन्तु सद्गुण में एक से दूसरा बढ़कर हो तो अधिक बुद्धि वाले या अधिक सद्गुण वाले मनुष्य की राय या निर्णय घटिया मनुष्य की राय या निर्णय से अधिक वजनदार है। अगर देश का नियमतंत्र वस्तुतः यह प्रगट करता हो कि दोनों एक समान वजनदार हैं तो वह गलत बात जाहिर करता है। दो में से एक को अधिक सयाने या सद्गुणी मनुष्य की हैसियत से अधिक वजन का हक है।

कठिनाई यह निर्णय करने में है कि दोनों में से कौन अधिक वजन के लायक है। मनुष्य मनुष्य में तो यह बात असम्भव है परन्तु मनुष्यों को अगर संस्था के रूप में या जथा के रूप में लें तो सत्यता का कुछ खास सीमा तक निर्णय किया जा सकता है। जिस विषय को प्राइवेट और पृथक मनुष्य का हक गिनने का कारण हो उस में यह सिद्धान्त लागू पड़ने में कुछ बहाना नहीं मिलेगा। जिस काम से दो में से एक ही मनुष्य का सम्बन्ध हो उस में दूसरा उस से चाहे कितना हूँ चतुर हो परन्तु उस एक को ही अपनी राय के अनुसार चलने का हक है। परन्तु हम तो जिन में दोनों का समान सम्बन्ध होता है, उन विषयों के बारे में कहते हैं; क्योंकि *उनमें अगर अधिक अज्ञान मनुष्य अपने हिस्से का काम* अधिक चतुर मनुष्य की निगरानी में न सौंपे तो अधिक चतुर मनुष्य को अपने हिस्से का काम अधिक अज्ञान के हाथ में सौंपना पड़ेगा। कठिनाई दूर करने की इन दो में से कौन पद्धति दोनों के लिये सब से लाभकारी और साधारण विवेक का अनुसरण करने वाली है? अगर दो में से एक को अपनी बात छोड़ना अन्याय जंचे, तो दोनों में बड़ा अन्याय कौन है? अधिक अच्छे निर्णय का अधिक खराब के अधीन होना या अधिक खराब का अधिक अच्छे के अधीन होना?

अब सार्वजनिक कार्य व्यवहार ऐसा ही संयुक्त विषय है परन्तु भेद इतना ही है कि उस में किसी को अपनी राय का समूचा त्याग करने को कहने की जरूरत नहीं पड़ती। वह हमेशा हिसाब में ली जा सकेगी और खास परिमाण तक गिनी जा सकेगी। जिन की राय को अधिक भारी वजन का हक होगा उनके *मत का अधिक परिमाण माना जा*

सकेगा। इस प्रबन्ध में जिस को घटिया दरजे की सत्ता दी जायगी उसके प्रति अवश्य ही नुकसान करने का विचार नहीं होगा। साधारण विषयों में मत को सम्पूर्ण रूप से रुकावट डालना एक बात है और संयुक्त लाभ की व्यवस्था में अधिक ऊंची शक्ति के कारण दूसरों को अधिक प्रबल मत की स्वाधीनता देना दूसरी बात है। ये दोनों बातें केवल भिन्न हैं इतना ही नहीं बरंच इन दोनों में कुछ भी समानता नहीं है। प्रत्येक जन को शून्यवत् और कुछ भी नहीं गिनने से अपना अपमान समझने का हक है। कितने ही आदमी ऐसे होते हैं जो यह बात स्वीकार करने में अपना अपमान समझते हैं कि दूसरों की राय और इच्छा को भी अपनी अपेक्षा अधिक वजनदार मानना चाहिये। ये लोग केवल मूर्ख और सो भी खास किस्म के मूर्ख हैं। कोई मनुष्य राजी खुशी से यह नहीं मानेगा कि जिस विषय में उसका किसी कदर सम्बन्ध है उस में उसका अपना कुछ मत न हो; परन्तु जब जिस में उसका किसी कदर सम्बन्ध होता है उस में दूसरे का भी कुछ सम्बन्ध हो और उस को ऐसा लगता है कि यह दूसरा इस विषय को अधिक अच्छी तरह समझता है, तब वह ऐसी आशा रखता है कि उस दूसरे की राय को अपने से अधिक वजनदार समझना चाहिये। और जीवन के दूसरे व्यवहार में उसे जिस स्वाभाविक क्रम को मानने का अभ्यास पड़ा होता है उसके अनुसार ही यह है। जरूरत इतनी ही है कि यह श्रेष्ठ सत्ता इस बुनियाद पर देनी चाहिये कि वह उसकी समझ में आवे और उसका औचित्य उसके ध्यान में बैठ सके।

यह श्रेष्ठ सत्ता सम्पत्ति के विचार से देना अगर तात्कालिक उपाय के तौर पर न हो तो मैं इसको बिलकुल स्वीकार

योग्य नहीं मानता, इसके कहने में मैं तनिक नहीं हिचकता। सम्पत्ति एक तरह की कसौटी है इस बात से मैं इनकार नहीं करता। बहुतेरे देशों में शिक्षा कुछ धन के लिहाज से नहीं होती तथापि यह औसत से जनता के गरीब अर्द्धभाग की अपेक्षा धनवान अर्द्धभाग में अधिक अच्छी होती है। परन्तु यह कसौटी ऐसी अधूरी है, संसार में मनुष्य की समृद्धि बढ़ाने में गुण की अपेक्षा अकस्मात् का इतना अधिक प्रभाव चलता है और किसी को चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार ऊंची पदवी पाने का भरोसा ऐसा असम्भव है कि मत हक का यह आधार सदा से अतिशय धिक्कार का पात्र है और सदा रहेगा। मतों का सम्बन्ध किसी धन सम्बन्धी योग्यता से जोड़ना स्वयं आपत्ति जनक है। इतना ही नहीं वरंच यह इस नियम को अपयश लगाने और इसका स्थायी निर्वाह असाध्य बनाने का खासा मार्ग है। जनसत्ता को और खासकर इस देश की जनसत्ता को तो साम्प्रत व्यक्तिगत श्रेष्ठता से कुछ ईर्ष्या नहीं है। परन्तु केवल सम्पत्ति की श्रेष्ठता से ही उसको स्वाभाविक और बहुत उचित ईर्ष्या है। जिस एक बात से एक मनुष्य की राय एक से अधिक के बराबर गिनना उचित हो सकता है वह पृथक पृथक मनुष्य की मानसिक श्रेष्ठता है; और जो जरूरी है वह उसे निश्चय करने का साधन है। अगर वास्तविक सामाजिक शिक्षा या साधारण परीक्षा की विश्वासपात्र पद्धति सरीखी कोई वस्तु विद्यमान हो तो शिक्षा की प्रत्यक्ष परीक्षा ली जा सकती है। इस के अभाव में मनुष्य के धंधों की किस्म की कुछ परीक्षा है। मिहनत करने वाले की अपेक्षा मिहनत कराने वाला औसतन अधिक बुद्धिमान होता है; क्योंकि उसको केवल हाथ की नहीं वरंच मगज को भी मिहनत करनी पड़ती है। साधारण

मजदूर की अपेक्षा सेठ और वे कला वाले धन्धे के कारीगर की अपेक्षा कला वाले धन्धे का कारीगर साधारणतः अधिक बुद्धिमान होता है। दुकानदार की अपेक्षा साहूकार, व्यापारी, या कारखाने वाले का अधिक बुद्धिमान होना सम्भव है; क्योंकि उसको बहुत अधिक और उलझन वाले विषयों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इन सब प्रसङ्गों में योग्यता की जो परीक्षा होती है, वह सिर्फ श्रेष्ठ काम सिर पर लेने से नहीं वरंच उसे सफलता पूर्वक करने से। इस कारण से और मनुष्यों को महज मत देने के लिये ही किसी धन्धे में नाम को हाथ लगाने से रोकने के निमित्त एक ऐसी शर्त रखना उचित जंचेगा कि उसका उस धन्धे में कुछ खास मुद्दत तक (जैसे तीन वर्ष तक) लगे रहना लाजिम है। ऐसी किसी शर्त के अन्दर *इनमें से कोई श्रेष्ठ धन्धा करने वाले प्रत्येक मनुष्य को दो या* अधिक मत दिये जा सकते हैं। नाम की नहीं वरंच सचमुच अंगीकार की हुई शिष्ट वृत्तियां अवश्य ही इस से भी ऊंचे दरजे का ज्ञान दिखाती हैं और जहां जहां ऐसी किसी शिष्ट वृत्ति में दाखिल होने से पहिले यथेष्ट परीक्षा देने की अथवा शिक्षा की कोई गहरी शर्त पालने की लाचारी रखी होती है वहां उस वृत्ति वाले मनुष्यों को एक दम अनेक मतों के अधिकारी बना सकते हैं। विश्वविद्यालयों के उच्च पदवीधारियों के लिये यही नियम लाजिमी किया जा सकता है; और जिन विद्यालयों में ऊंचे दरजे का ज्ञान सिखाया जाता है वहां का पाठ्य क्रम समाप्त करने का प्रमाण-पत्र जो लावें उनके लिये भी, वह शिक्षा सिर्फ ढोंग नहीं है वरंच असली है इतना विश्वास करने की उचित सावधानी रख कर यही नियम लाजिमी हो सकता है। सहयोग की डिग्री के लिये जो 'स्थानिक' अथवा 'मध्यम वर्ग' की परीक्षा (इंग्लैण्ड के सब से प्राचीन)

आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों ने प्रशंसनीय रीति और सार्वजनिक उत्साह से स्थापित की है और उसको ऐसी जो कोई दूसरी परीक्षा योग्य विद्यालय स्थापित करे. उसको जिसने पास किया हो उसे अनेक मतों का हक देकर बड़ा लाभ प्राप्त करने का आधार मिलना है। इन परामर्शों के विषय में बहुत नुक्ताचीनी होना और उज्र उठना सम्भव है परन्तु इस उज्र के बारे में अभी से भविष्य सोचना व्यर्थ है। ऐसी युक्तियों को किसी व्यवहारी स्वरूप में रखने का समय नहीं आया है और न मैं यह चाहता हूँ कि मैं ने जो कुछ प्रस्ताव किये हैं वे सभी काम में लाये जायँ। परन्तु मुझे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रतिनिधि शासन का सच्चा आदर्श इस मार्ग में है और जो सब से श्रेष्ठ व्यवहारी युक्तियां मिल जायँ उनके द्वारा इसी ओर प्रयत्न करना वास्तविक राजनीतिक सुधार का मार्ग है।

अगर यह प्रश्न हो कि यह नियम कहां तक फैलाने योग्य है अथवा मनुष्य विशेष को श्रेष्ठ योग्यता के आधार पर कितने मत दिये जा सकते हैं तो इसका उत्तर मैं यह देता हूँ कि अगर इसका भेद और क्रम स्वयं न निर्द्धारित कर सामाजिक अन्तःकरण और बुद्धि समझ कर स्वीकार किया जाय तो यह विषय स्वयं कुछ बहुत वजनदार नहीं है। परन्तु प्रतिनिधि-पद्धति के गठन में उत्कृष्टता की शर्तों के तौर पर पिछले अध्याय में गिनाये हुए मूल नियम में जो सीमा है उसके लांघ न जाने की शर्त पूरी पूरी पालनी चाहिये। किसी तरह अनेक मतों का नियम इतना न फैलाना चाहिये कि उस से जिन को उसका हक हो वे अथवा मुख्य कर के उनका कोई वर्ग हो तो वह वर्ग उस हक के जरिये बाकी की सारी जनता पर रोब जमा ले। शिक्षा के पक्ष का यह भेद स्वयं

वास्तविक होने के सिवा येशिक्षा वालों के वर्गलाभ के कानून से शिक्षितों की रक्षा करता है। इससे उनको विशेष और प्रबल सहानुभूति मिलती है; परन्तु इस नियम को इतने से ही रोकना चाहिये कि वे लोग भी अपने पक्ष में वर्गलाभ का कानून बनाने को समर्थ न हों। विशेष इतना ही कहना है कि मैं जिस को अनेक मतों की योजना का एक परिपूर्ण आवश्यक अंग समझता हूँ वह यह है कि जब जनता में गरीब से गरीब मनुष्य भी साबित कर सके कि वह सारी कठिनाइयों और अड़चलों के होते हुए भी ज्ञान के विषय में अनेक मतों का हकदार है तो उसके लिये अपने हक का दावा करने का मार्ग खुला रहना चाहिये। ऐसी स्वेच्छ परीक्षा होनी चाहिये कि उस में चाहे जो मनुष्य उपस्थित हो और साबित कर दे कि वह ज्ञान और कुशलता में निर्दिष्ट कक्षा तक पहुंचा हुआ है और इस से अनेक मतों के हकदारों में उस को दाखिल करना चाहिये। अगर हक के तर्क और तत्त्व में शर्तों पर भरोसा हो तो शर्तें जो पूरी करे वह उस हक से इनकार नहीं किया जायगा तब वह हक अवश्य ही किसी की न्याय वृत्ति के प्रतिकूल नहीं जान पड़ेगा। परन्तु अगर वह हक हमेशा अचूक न होने योग्य साधारण विचार के लिहाज से दिया जाय और प्रत्यक्ष प्रमाण होने पर भी न दिया जाय तो वह अवश्य ही प्रतिकूल जंचेगा।

यद्यपि पेरिश के व्यवस्थापकों और निराश्रित कानून के रक्षकों (अशक्तों और निराधारों की परवरिश के लिये बने हुए कानून के अनुसार प्रबन्ध करने को नियुक्त मनुष्यों) के चुनाव में अनेक मत देने की चाल है तथापि वह पार्लमेण्ट के चुनाव में इतना अपरिचित है कि जल्द या राजी खुशी से उसके स्वीकार किये जाने की सम्भावना नहीं है। परन्तु जब

यह समय निश्चय आवेगा कि चुनाव इस पद्धति और समान सार्वनिक मत के बीच में ही रहेगा तब अधिक अच्छी बात यह है कि जिसको दूसरी पद्धति पसन्द न हो वह जहां तक बने शीघ्र पहिली पद्धति से अपने मन को मनाना आरम्भ करे। इस बीच में अगर साम्प्रत यह परामर्श काम में लाने योग्य न हो तो भी इस के द्वारा जो वस्तु अपने मूल तत्त्व में सब से श्रेष्ठ है उस ओर ध्यान जायगा और जो जो विद्यमान या स्वीकार करने योग्य परोक्ष साधन कुछ कम पूर्ण रीति से वही उद्देश्य पूरा करते होंगे उनकी ग्राह्या-ग्राह्यता के विषय में निर्णय करने की बन आवेगी। कोई मनुष्य एक ही मत स्थल पर दो मत देने के मार्ग के सिवा दूसरी राह से भी दूना मत दे सकता है। उस का भिन्न भिन्न दो मत समितियों में प्रत्येक के लिये एक एक मत हो। साम्प्रत यद्यपि यह अपवाद रूप हक ज्ञान के बदले सम्पत्ति की श्रेष्ठता को मिलता है तथापि जहाँ यह विद्यमान है वहाँ बन्द हो यह मैं नहीं चाहता; क्योंकि जब तक शिक्षा की अधिक सच्ची परीक्षा स्वीकृत नहीं हुई है तब तक सम्पत्ति की हैसियत से मिल सकने वाला यह अपूर्ण हक भी हाथ से जाने देना बुद्धिमानी नहीं है। इस हक का सम्बन्ध श्रेष्ठ शिक्षा में अधिक सीधी रीति पर जुड़े इस ढंग से इस को अधिक फैलाने का उपाय योजना हो तो वह मिल सकता है। किसी भविष्य सुधार के मसविदे में, जिसमें मतहक के विषय में सम्पत्ति सम्बन्धी शर्तें अधिक अंश में कम की जायँ और सब विश्वविद्यालयों के पदवीधारियों को, अधिक ऊंची शिक्षा देनेवाली शालाओं में सम्मान के साथ पास होने वाले सब पुरुषों को, शिष्ट वृत्तिवाले सब मनुष्यों को और कदाचित् कुछ दूसरों को भी वे जहां रहते हों उस स्थान के साधारण

नागरिक की हैसियत के मतहक के सिवा अपनी खास योग्यता के लिये, अगर दूसरी मत समिति में वे नाम दर्ज कराना चाहें तो उसमें दर्ज कराने और मत देने का खास हक देने की धारा रखी जाय तो बड़ी बुद्धिमानी की बात हो।

जितने अंश की श्रेष्ठ सत्ता शिक्षा को देना उचित है और सब से कम शिक्षित वर्ग के *संख्याबल* का सामञ्जस्य रखने की जरूरत है उतनी श्रेष्ठ सत्ता शिक्षा को शिक्षा की हैसियत से देने वाली कोई अनेक मत की पद्धति जब तक योजित नहीं हुई है और उसे स्वीकार करने को लोकमत राजी नहीं है तब तक मेरी समझ में सार्वत्रिक मत हक का लाभ प्राप्त करने में उस लाभ के साथ अधिक अनर्थ की सम्भावना है। अवश्य यह भी सम्भव है कि कितनी ही निर्दिष्ट मत समितियों में मतहक की सीमा बांधने वाले बंधन एकदम टूट जायें और इस से वहां के सभासद मुख्य कर के मजदूरों के हाथ चुने जायं; इसके सिवा दूसरे स्थान पर चुनाव की वर्तमान पद्धति कायम रहे अथवा उस में किये हुए फेर बदल के साथ मत समिति का इस रीति पर गठन किया जाय कि पार्लामेण्ट में मजदूर दल प्रबल होने से रुके (और यह शायद अच्छी प्रतिनिधि पद्धति की ओर जाने वाले हमारे मार्ग का एक पड़ाव है)। ऐसे सामञ्जस्य से प्रतिनिधि तत्व के अनियम सिर्फ कायम नहीं रहेंगे वरंच उल्टे उन में वृद्धि होगी। फिर भी यह कुछ अन्तिम अड़चल नहीं है; क्योंकि जिस देश को शुभ उद्देश्य साधने के लिये, उस तरफ सीधे रास्ते जाती हुई नियमित पद्धति ग्रहण करने योग्य न जंचे उसे, जो पद्धति अनियमों से मुक्त हो, परन्तु जो नियम पूर्वक अशुभ उद्देश्यों की तरफ रुख रखती हो अथवा जिसमें दूसरे उद्देश्यों के समान कितने ही जरूरी उद्देश्यों ही रह जाते हों उसे स्वीकार करने

की अपेक्षा एक अनियमित चाल चलाऊ पद्धति ही बहुत पसन्द करने योग्य मानकर उस से सन्तुष्ट रहना चाहिये। बहुत बड़ा उज्र यह है कि यह व्यवस्था मि० हेयर की योजना में वांछित स्थानिक मत समितियों की भीतरी एकता के प्रतिकूल है; और इस में प्रत्येक मतधारी, जिस एक या अधिक मत समितियों में उसका नाम दर्ज हुआ होगा, उसी में फंसा रहेगा तथा अगर वहां के स्थानिक उमेदवारों में से किसी एक को प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहता होगा तो बिलकुल प्रतिनिधि नहीं भेज सकेगा।

जिनको मतहक मिल चुका है परन्तु जिनका मत सामने के पक्ष का हमेशा अधिक मत होने से निरुपयोगी हो जाता है उनके छुटकारे पर मैं इतना अधिक जोर देता हूं—सत्य और विवेक को अपनी बात सुनाने और जबरदस्त बहस चलाने भर की जमानत मिले तो उसके स्वाभाविक असर की तरफ से मैं इतनी बड़ी आशा रखता हूं—कि अगर समान सार्वत्रिक हक मि० हेयर के नियम से अपने असली अर्थ के अनुसार सब छोटे वर्गों को उनके परिमाण से प्रतिनिधि दे तो उसकी क्रिया की तरफ से भी मैं निराशा का कारण नहीं देखता। परन्तु इस विषय पर जो सब से अच्छी आशा की जा सकती है वह निश्चित ही हो तो भी मैं अनेक मतों के नियम का पक्ष नहीं छोड़ूंगा। मैं अनेक मतों की सलाह देता हूँ वह इसलिये नहीं कि यद्यपि यह वस्तु स्वयं अनिष्ट है तथापि मत हक में से जनता के किसी खास विभाग को वंचित करनेवाले प्रतिबन्धन की तरह, जब तक बहुत बड़ा अनर्थ रोकने के लिये उसकी जरूरत है तब तक उसे तत्काल के लिये सहें। मैं समान मत को कुछ ऐसी वस्तु नहीं गिनता कि अगर उसकी अड़चलें सम्हाल ली जायं तो वह स्वयं

अच्छी है। मैं यह मानता हूं कि यह सिर्फ तुलना में अच्छा है—असम्बद्ध या आकस्मिक प्रसङ्गों के आधार पर बने हुए असमान हककी अपेक्षा कम आपत्तिजनक है परन्तु मूलतत्व में गलत है; क्योंकि यह झूठा धोरण स्वीकार करता है और मतधारी के मन पर बुरा असर करता है। देश का राज्यतंत्र यह जाहिर करेगा कि अज्ञान को ज्ञान के बराबर ही राजनीतिक सत्ता का अधिकार होना उपयोगी नहीं है, वरंच हानिकारक है। जिन विषयों से राष्ट्रीय तंत्र का सम्बन्ध हो उन सब का जो स्वरूप नागरिक को लाभदायक हो उस स्वरूप में उन विषयों को राष्ट्रीय तन्त्र को उसके मन के सामने रखना चाहिये; और जब उसे यह विचारना लाभकारी है कि प्रत्येक जन को कुछ सत्ताका अधिकार है परन्तु अधिक अच्छे और अधिक चतुर मनुष्य को दूसरों की अपेक्षा अधिक अधिकार है तब राज्य का इस निर्णय को स्वीकार करना और उस देश के नियमों में दाखिल करना आवश्यक है। ऐसे विषय देश के नियमों के जीवनाधार हो जाते हैं। परन्तु उसकी सत्ता के इस अंश का साधारण और विशेष कर के अंगरेज दार्शनिक सब से कम विचार करते हैं। तो भी जिस देश पर खुल्लम खुल्ला भारी जुल्म नहीं होता उसके राज्यतंत्र के किसी प्रत्यक्ष नियम की अपेक्षा उसके जीवनाधार का बहुत प्रबल असर होता है और इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय प्रकृति का जो गठन होता है वह इस जीवन सत्य के आधार से। अमेरिकन राज्यतंत्र ने अमेरिकनों के मन में प्रबल भाव से यह विचार जमा दिया है कि (गोरे चमड़े का) हर कोई दूसरे हर किसी के इतना ही अच्छा है और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अमेरिकन प्रकृति में मौजूद अधिक दोषों में से कितनों का इस गलत मत से निकट सम्बन्ध है। यह कम

की हुई नहीं है, और उन्नति के मार्ग में आये हुए सब तात्कालिक या स्थायी विश्राम बिन्दुओं में सब से श्रेष्ठ और उच्च गुणों का विकास करने वाला विश्राम बिन्दु यह स्थिति है जो विवेक को प्रबल करने की शक्ति रखती है; परन्तु विवेक पर स्वयं प्रबल हो जाय इतनी शक्ति उसमें नहीं है। धनवान और निर्धन, बहुत शिक्षित और दूसरे जिन जिन वर्गों और पथों में जनता विभक्त होती है उन सब को हमारे प्रतिपादन किये हुए मूलतत्व के अनुसार यथासाध्य इस स्थिति में रखना चाहिये। और इस मूल नियम के साथ श्रेष्ठ मानसिक गुणों में श्रेष्ठता देने के दूसरी तरह के न्यायी नियम जुड़ने से राज्यतंत्र एक प्रकार की सर्वश्रेष्ठ सम्पूर्णता प्राप्त करेगा और मनुष्य व्यवहार की उलझन वाली स्थिति में यही सम्पूर्णतया साध्य है।

सार्वत्रिक परन्तु क्रमबद्ध मतहक के विषय में की हुई आलोचना में मैं ने स्त्री पुरुष का भेद नहीं किया है। राजनीतिक हक के विषय में मैं इस भेद को ऊंचाई या बाल के रंग के भेद के ऐसा ही सम्पूर्ण असम्बद्ध समझता हूं। सब मनुष्यों को अच्छे राज्यतंत्र में समान लाभ है; सब की भलाई पर उसका समान असर होता है और उसमें उन सब को अपने भाग का लाभ बनाये रखने के लिये मत होने की समान जरूरत है। अगर कुछ भेद हो तो यह कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के मत की अधिक जरूरत है; क्योंकि स्वयं अबला होने से उनको अपनी रक्षा के लिये कानून और दुनिया का अधिक भरोसा रखना है। स्त्रियों का मत न होना चाहिये इस विचार को जो एक ही दलील सहारा दे सकती है उसको मनुष्य जाति ने मुद्दत हुई छोड़ दिया है। किसी का अब ऐसा विचार नहीं है कि स्त्री जाति गुलामी में रहे और पति, पिता या भाई के घर मजदूरनी बने रहने के सिवा और कोई

विचार, अभिलाषा या उद्योग न करे। क्वारी स्त्रियों को मिलकियत भोगने और धन तथा धन्धे के विषय में सम्बन्ध रखने की पुरुषों के बराबर ही स्वतंत्रता है और यह स्वाधीनता ब्याही स्त्रियों को देते कभी नहीं देगा। यह उचित और योग्य जान पड़ता है कि स्त्रियां विचार करें लेख लिखें और शिक्षक हों। जहां यह विषय स्वीकार हुआ कि फिर राजनीतिक अपात्रता को किसी मूल तत्व का आधार नहीं रहता। विशेष विशेष मनुष्य किस लिये लाभदायक हैं और किस लिये नहीं, उनको क्या करने देना चाहिये और क्या नहीं—यह निर्णय करने के जनता के हक के विषय में अर्वाचीन जगत की सारी विचार पद्धति अधिक जोर से विरुद्ध मत प्रगट करती जाती है। अर्वाचीन राज्यनीति और अर्थशास्त्र के मूल तत्व अगर किसी काम के हैं तो यह साबित करने में कि इस विषय का यथार्थ निर्णय पृथक् पृथक् मनुष्य स्वयं ही कर सकते हैं; और चुनाव के विषय में सम्पूर्ण स्वतंत्रता होगी तो जहां जहां स्वाभाविक वृत्ति में वास्तविक भेद होगा वहां बड़ा भाग जिस में सब से अधिक योग्य मनुष्य होंगे उस विषय का हाथ में लेगा और जो अपवाद रूप होंगे वे ही मात्र अपवाद रूप मार्ग पकड़ेंगे। अर्वाचीन सामाजिक सुधारों का सारा क्रम गलत न हो तो मनुष्य प्राणी को किसी प्रामाणिक धन्धे का मार्ग बन्द करने वाले सब प्रकार के प्रतिबन्धन और अपात्रता पूर्ण रूप से रद्द कर के उस क्रम को काम में लाना चाहिये।

परन्तु स्त्रियों को मत हक होना चाहिये यह साबित करने के लिये, यह सब प्रतिपादन करने की भी जरूरत नहीं है। स्त्रियों की गणना घर गृहस्थी में फंसे हुए और घर सत्ता के वश में पड़े हुए अधीन वर्ग में होनी चाहिये यह जितना गलत है उतना सही हो तो भी इस सत्ता को दुरुपयोग से

बचाने के लिये मत हक के आश्रय की उन्हें कम जरूरत नहीं है। स्त्रियों को और पुरुषों को जो राजनीतिक हक की जरूरत है वह इसलिये नहीं कि वे राज्य चलावें वरंच इसलिये कि उन पर अंधेर न होने पावे। पुरुष-जाति में बड़ा भाग खेतों या कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का ही होता है और वे लोग सारी जिन्दगी ऐसे ही रहेंगे। परन्तु इस से जब तक मत हक का उनके हाथ से बुरा उपयोग होना सम्भव न हो तब तक उनके लिये कुछ कम आवश्यक नहीं है और न उस के ऊपर उनका दावा दिमाग घट जाता है। कोई मनुष्य यह बहाना नहीं निकालता कि स्त्रियां मतहक का बुरा उपयोग करेंगी। उनके बारे में जो सब से खराब बात कही जाती है वह यही कि वे सिर्फ आश्रित की तरह अपने पुरुष सम्बन्धियों के आदेशानुसार मत देंगी। ऐसा हो तो होने दो। वे अगर अपने बारे में स्वतंत्र विचार करेंगी तो बड़ा लाभ होगा और अगर नहीं करेंगी तो कुछ नुकसान नहीं है मनुष्य प्राणी चलना न चाहता हो तो भी उस की बेड़ी खोल देना लाभदायक है। मनुष्य जाति के सब से आवश्यक व्यवहार के विषय में कानून के रू से राय के लिये नालायक और चुनाव के हक से रहित माना जाना जहां बन्द हुआ कि फिर स्त्रियों की सात्विक स्थिति में भारी सुधार हुआ समझना। अगर सगे सम्बन्धी उनसे मदद लेना चाहें तो भी जबरदस्ती न ले सकें ऐसी कोई वस्तु मिलने से उन को व्यक्तिगत कुछ लाभ हुआ समझा जायगा। फिर पति को अपनी पत्नी से वर्त्तमान विषय पर चर्चा चलाने की जरूरत पड़ना भी कुछ कम लाभ नहीं है। स्त्री बाहरी जगत पर पुरुष से कुछ स्वतंत्र सत्ता चलाने को समर्थ है इस बात से इतर पुरुषों की दृष्टि में उस का पदवी और प्रतिष्ठा किस तरह स्पष्ट रीति से बढ़ जायगी

और जिस को सारी सामाजिक जिन्दगी पुरुष अपने वश में रख सकता है उसके लिये जो आदर कोई भी व्यक्तिगत गुण कभी नहीं देता उस आदर की पात्री वह होगी इस का उचित विचार लोग नहीं करते। मत भी अपने गुण में सुधरता जायगा। कोई अधिक ईमानदार और निष्पक्ष प्रकृति की स्त्री होगी तो उसके पति को बहुधा ऐसे उचित कारण ढूँढ़ने को लाचार होना पड़ेगा कि जिससे उसकी स्त्री उसी के पक्ष में रहे। बहुधा पत्नी की सत्ता पति को अपनी असली राय पर दृढ़ रखेगी। इस सत्ता का उपयोग बेशक बहुधा सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में नहीं, वरंच कुटुम्ब के खानगी स्वार्थ या संसारी बड़प्पन के पक्ष में होगा; परन्तु स्त्री की सत्ता का जहाँ जहाँ ऐसा रुख होगा वहाँ इस समय भी वह उसी बुरे मार्ग से पूर्णतया चलती है और वह भी अधिक निःशङ्क भाव से। क्योंकि हाल के कानून और रिवाज के अनुसार राज्यनीति में कुछ भी मूलतत्व समाया होने के भाव से वे बहुत करके ऐसी अनजान होती हैं कि इसमें कुछ आत्म सम्मान की बात है यह वे नहीं समझ सकतीं। और बहुत से मनुष्यों को, जैसे किसी का धर्म अपने से भिन्न होता है तो उसकी धार्मिक वृत्तियों के विषय में थोड़ी ही रुचि रहती है वैसे दूसरे के सम्मान की बात में जब अपने सम्मान का भी उसी बात से सम्बन्ध नहीं होता तब थोड़ी ही रुचि होती है। स्त्री को मतहक दो तो वह राजनीतिक सम्मान के अधीन आजायगी। वह राज्यनीति को ऐसी वस्तु समझना सीखेगी कि उसमें उसको मत कायम करने की स्वतन्त्रता है और इस विषय में कुछ भी राय तजवीज की हो तो उसके अनुसार चलना चाहिये। इस विषय में उसमें व्यक्ति गत उत्तरदायित्व की वृत्ति उत्पन्न होगी और उसको इस समय जैसा लगता है वैसा पीछे से

नहीं लगेगा कि वह स्वयं चाहे जितनी बुरी सत्ता चलावे तथापि अगर सिर्फ पुरुष को समझा सके तो सब दुरुस्त है और उसकी जिम्मेवारी में सब ढक जाता है। पुरुष की राजनीतिक सात्विक वृत्ति पर दुष्ट सत्ता चलाने से रोक सकने का मार्ग इतना ही है कि उसे अपना स्वतन्त्र अभिप्राय स्थिर करने और व्यक्तिगत या कुटुम्बगत स्वार्थ के लालच के विरुद्ध जिन उद्देश्यों की अन्तःकरण में विजय होनी चाहिये उन्हें विवेक पूर्वक समझने का उत्तेजन दें। स्त्रीकी परोक्ष सत्ता को राजनीतिक विषय में हानिकारक हो जाने से रोक सकने का मार्ग इतना ही है कि उसके स्थान में उसे प्रत्यक्ष सत्ता दें।

मैं ने समझा है कि मत का आधार जैसे अच्छे प्रसङ्ग में रहे वैसे मनुष्य की व्यक्तिगत दशाओं पर होना चाहिये। इस देश और दूसरे बहुत से देशों में जहाँ मतका अधिकार सम्पत्ति की शर्तों पर है वहाँ यह भेद इससे भी अधिक दूषित है। जब पुरुष मतधारी से माँगी जाने वाली सारी जमानत-स्वतन्त्र स्थिति, घर के मालिक और कुटुम्ब के मुखिया की पदवी, करों का अदा करना अथवा जो जो शर्तें रक्खी हैं ये सब-स्त्रियाँ पूरी कर सकती हैं तब मिलकियत के आधार पर रक्खे हुए प्रतिनिधि तत्व का नियम और पद्धति ही स्वयं रद्द हो जाती है और सिर्फ उनको खारिज करने के ख्याल से ही एक अपवाद रूप व्यक्तिगत अपात्रता खड़ी की जाती है इस बात में साधारण से कुछ विशेष विवेक है। विशेष करके जब यह कहा जाता है कि जहाँ ऐसा किया जाता है उस देश में साम्प्रत एक स्त्री * राज्य करती है और

* महारानी विक्टोरिया।

अब तक जितने राज्यकर्त्ता हो गये हैं उनमें सब से मशहूर राज्यकर्त्ता एक स्त्री * थी तब अविवेक का और मुश्किल से छिपा हुआ अन्याय का चित्र सम्पूर्ण हो जाता है। हमें आशा है कि जब तक ढेर ढूक और जुल्म के पुराने मकानों का खण्डहर गिराने का काम जारी है तब तक उन सब में यह अन्तिम नहीं होगा। जिनका मन अपस्वार्थ या दुराग्रह से जड़ नहीं बन गया है उनके मन में बेन्थम † का, मि० सेमुवल बेली का मि० हेयर का और (दूसरों के विषय में न कहूँ तो) इस देश और इस पीढ़ी के दूसरे कितने ही दार्शनिकों का अभिप्राय अवश्य करेगा और दूसरी पीढ़ी पूरी होने से पहले वर्णभेद की तरह लिङ्गभेद भी अपने जोखा से नागरिक की हैसियत पाने में समान रखा और राजकीय हक छीन लेने के लिये यथेष्ट कारण गिना जाना बन्द होगा ‡।

---

* रानी एलिज़ाबेथ।

† (१७४९-१८३२) एक राजनीतिक लेखक। इसने बहुत से ग्रंथ लिखे हैं परन्तु वे बहुत विस्तृत होने से विद्वानों के ही पढ़ने योग्य हैं। यह यूटिलिटेरियन (utilitarian) अर्थात् उपयोगितावाद के मत का प्रथम प्रचारक था। यह मत ऐसा है कि जिसमें सबसे अधिक मनुष्यों का सबसे अधिक सुख समाया हो वही सबसे श्रेष्ठ सिद्धान्त है।

‡ ग्रन्थकार की भविष्यवाणी पूरी हुई। स्त्रियों को मत देने का अधिकार मिल गया है और आशा की जाती है कि यह पुस्तक प्रकाशित होने बाद स्त्रियों द्वारा चुने हुए मेम्बर ब्रिटिश पार्लिमेंट में यथास्थान दिखाई देंगे।

नवां अध्याय।

क्या चुनाव का दो क्रम होना चाहिये?

कितने ही प्रतिनिधि तंत्रों में प्रतिनिधि सभा के सभासदों को दो क्रम से चुनने की योजना स्वीकृत होती है। पहले चुनने वाले दूसरे चुनने वालों को पसन्द करते हैं और ये दूसरे पार्लीमेण्ट के सभासदों को चुनते हैं। इस युक्ति में शायद जनवृत्ति के पूरे जोश को कुछ रोकने का विचार रखा हो, क्योंकि इसमें बहुत (जनता) को मतहक के साथ अन्त की सम्पूर्ण सत्ता तो दी है परन्तु अपने मुकाबले थोड़े की मार्फत उसका अमल चलाने की लाचारी डाली है यह सोच कर कि जन समूह की अपेक्षा इन थोड़ों पर जन विकार के पवन का कम असर हुआ होगा। और ये चुनने वाले चूंकि स्वयं चुने हुए होंगे इससे उनकी तरफ से उनके चुनने वालों की साधारण पंक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ बुद्धि और प्रतिष्ठा की आशा रखी जायगी। इससे उनके हाथ से होने वाला चुनाव बहुत सावधानी और दूरदर्शिता से होने की सम्भावना की गयी होगी और चाहे जो हो, यह चुनाव जनता के निज के चुनाव की अपेक्षा विशेष जिम्मेवारी के विचार के साथ किया जायगा। यह ऐसा है कि लोकमत को एक मध्य संस्था में से छान लेने की इस युक्ति का बहुत प्रत्यक्ष समर्थन हो सकता है। क्योंकि पार्लीमेण्ट के सभासद होने के लिये कौन कौन सब से अधिक योग्य हैं इसका निर्णय करने की अपेक्षा, पार्लीमेण्ट के सभासदों को चुन निकालने के लिये सब से अधिक किन के ऊपर विश्वास रखा जा सकता है इसका निर्णय करने के लिये कम बुद्धि और ज्ञान दरकार है।

इतने पर भी पहले अगर हम यह सोचें कि इस अप्रत्यक्ष प्रबन्ध से लोक सत्ता में विद्यमान जोखिम किसी कदर कम होता है तो उसी तरह उसका लाभ भी कम होता है; और यह दूसरा असर पहले से अधिक निश्चित है। उस पद्धति का सोचा हुआ असर डालने के लिये शक्तिमान बनाना हो तो जिस उद्देश्य से उसकी योजना हुई है उसके अनुसार उसे अमल में लाना चाहिये। मतधारियों को याद में सोची हुई रीति से अपने मतका उपयोग करना चाहिये; अर्थात् उनको जो विचार रखना चाहिये वह यह नहीं कि पार्लामेण्ट का सभासद कौन हो वरंच इतना ही कि अपनी तरफ से सभासद चुनने वाला किस को पसन्द करें। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष चुनाव में जो लाभ सोचा जाता है उसके लिये ऐसी मनोवृत्ति की आवश्यकता है और उनका काम स्वयं सभासदों को नहीं वरंच सिर्फ उनके चुनने वालों को चुनना है; यह सिद्धान्त उनके सच्चे दिल से स्वीकार करने से ही यह लाभ होगा। सोचना यह होगा कि वे राजनीतिक अभिप्राय और कार्य या राजनीतिक पुरुषों के विषय में अपना मन नहीं लगावेंगे वरंच किसी स्वतंत्र मनुष्य के प्रति अपनी व्यक्तिगत श्रद्धा से खिंच कर उसे अपनी ओर से काम करने का आम मुख्तार नामा दे देंगे। अब अगर प्राथमिक मतधारी अपनी स्थिति के बारे में यह सोचे तो उसको मतहक देने में जो मुख्य उद्देश्य हैं उनमें से एक रद हो जाता है। जो राजनीतिक कर्त्तव्य पालने को वे लोग बुलाये जाते हैं वह उनमें सार्वजनिक उत्साह और राजनीतिक ज्ञान विकसित करने में और राज्य कार्यों में उनकी मनोवृत्तियां झुकाने में तथा उनकी मानसिक शक्तियों का अभ्यास कराने में निष्फल जाता है। फिर इस उद्देश्य में परस्पर विरोधी

शर्तों का समावेश होता है; क्योंकि अगर अन्तिम परिणाम में मतधारी का कुछ मन न लगता हो तो उसी परिणाम की ओर ले जानेवाली क्रिया में उसका मन किस तरह और क्योंकर लगा सकता है ? बहुत साधारण दरजे के गुण और बुद्धि वाला मनुष्य किसी खास पुरुष को पार्लीमेण्ट में अपना प्रतिनिधि बनाना चाहे यह सम्भव है और उस पुरुष को चुनने वाला निर्वाचक पसन्द करने की इच्छा रखना उस का स्वाभाविक परिणाम है। किन्तु कौन चुना जाता है इसकी परवा जो नहीं करता अथवा जो यह समझता है कि यह स्वयं इस विचार को अलग रखने के लिये बाध्य है वह कुछ भी मन लगा कर सब से लायक पुरुष इसलिये पसन्द करे कि उक्त पुरुष अपने स्वतंत्र अभिप्राय के अनुसार एक और को सभासद् चुने इस उद्देश्य में निष्फल सत्य के लिये उत्साह का और कर्त्तव्य के लिये ही कर्त्तव्य पालने के दृढ़ नियम का जो भाव विद्यमान है वह तो कुछ ऊंचे दरजे के शिक्षित पुरुषों में ही होना सम्भव है और वे उस के उपभोग से ही दिखा देते हैं कि उन को राजनीतिक सत्ता बहुत सीधे तौर पर सौंपी जा सकती है और सौंपना उचित भी है। जनता के बहुत गरीब मनुष्यों को जो जो राजनीतिक कर्त्तव्य सौंपना सम्भव है उन सब में इस कर्त्तव्य की तरफ से उन की मनोवृत्तियों को उत्तेजित करने की बेशक सब से कम आशा रहती है और जो जो कर्त्तव्य पालन करना है वह सब शुद्ध मन से पालने के शुद्ध संकल्प के सिवा उस के लिये परवा करने की दूसरी कोई स्वाभाविक वृत्ति सब से कम ही होती है और जो मतधारी समूह राज्यकार्य के विषय में इतनी अधिक परवा रखता होगा कि उस में मिले हुए इतने अल्प अंश का भी कुछ मूल्य गिने तो उसमें बहुत बड़ा भाग पाये बिना

उसको किसी तरह सन्तोष होने की सम्भावना नहीं रहेगी।

दूसरे, जो मनुष्य अपनी थोड़ी सी ज्ञानसम्पत्ति के कारण पार्लीमेंएट के उमेदवार के गुण की अच्छी तरह परीक्षा नही कर सकता वह जिस पुरुष को अपनी तरफ से पार्लीमेंएट का समासद पसंद करने को चुनेगा उस की सत्यता और साधारण शक्ति की उचित परीक्षा कर सकेगा यह स्वीकार किया जाय तो भी मैं यह बता देना चाहता हूं कि अगर मतधारी अपनी शक्तियों की ऐसी माप स्वीकार करे और जिस के ऊपर विश्वास हो उस पुरुष के हाथ अपनी ओर से चुनाव कराने की वास्तव में इच्छा रखता हो तो उस कारण के लिये किसी कानून के बन्धन की कुछ जरूरत नहीं है; उसे सिर्फ उस विश्वासी पुरुष से एकान्त में इतना ही पूछना है कि उसे किस उमेदवार के लिये मत देना अधिक अच्छा है। इस प्रकार चुनाव की दोनों पद्धतियों का परिणाम एक ही आता है और परोक्ष चुनाव का प्रत्येक लाभ प्रत्यक्ष रूप से मिलता है। अगर हम यह सोचें कि मतधारी प्रतिनिधि के चुनाव में अपने अभिप्राय का उपयोग करना पसन्द करता है परन्तु बहुत प्रत्यक्ष पद्धति के लिये उस को कानून से स्वाधीनता न होने से ही वह अपनी तरफ से दूसरे को चुनाव करने देता है तो इन दो पद्धतियों की क्रिया में भेद पड़ेगा। किन्तु अगर उस के मन की ऐसी स्थिति होगी, अगर उस का मन कानून से रखे हुए अंकुश के विरुद्ध जाता होगा और अगर वह प्रत्यक्ष चुनाव करना चाहता होगा तो कानून का बंधन होने पर भी वह ऐसा कर सकेगा। उसे सिर्फ इतना करना है कि वह स्वयं जिस उमेदवार को पसन्द करता हो, उस के प्रसिद्ध पक्षपाती को अथवा जो उस उमेदवार के लिये मत देने की शर्त करे उस को निर्वाचक पसन्द करे। और दो सीढ़ी के

चुनाव का यह इतना बड़ा स्वाभाविक क्रिया क्रम है कि बिलकुल राजनीतिक उदासीनता की अवस्था बिना इस से भिन्न गति की मुश्किल से आशा रखी जा सकती है। संयुक्त राज्य (अमेरिका) के राष्ट्रपति का चुनाव वास्तव में इसी रीति से होता है। चुनाव नाम को परोक्ष है; जनता राष्ट्रपति का निर्वाचन नहीं करती, वह तो चुननेवालों को ही चुनती है; परन्तु ये निर्वाचक हमेशा किसी खास उमेदवार के लिये मत देने की खुल्लम खुल्ला शर्त पर चुने जाते हैं। अमुक नागरिक अमुक चुनने वाले के लिये जो मत देता है वह इस कारण से नहीं कि वह मनुष्य उस को पसन्द है वरंच लिंकन * टिकट या बेकेनरिज + टिकट के पक्ष में मत देता है। इतना याद रखना चाहिये कि निर्वाचक जो पसन्द किये जाते हैं उस का कारण यह नहीं है कि वे देश में खोज कर राष्ट्रपति या पार्लीमेंट के सभासद के लिये सब से योग्य पुरुष ढूंढ़ निकालें। अगर ऐसा हो तो इस रिवाज के पक्ष में कुछ कहा जाय; परन्तु ऐसा नहीं है। और जब तक प्लेटो ‡ की तरह साधारण मनुष्य जाति का ऐसा मत न हो कि जो पुरुष सत्ता स्वीकार करने में सब से ज्यादा नाखुश होता है वही सत्ता सौंपने के लिये सब से लायक है, तब तक ऐसा कभी होगा भी नहीं। चुनने वालों को—निर्वाचकों को जो उमेदवार खड़े हुए हों उन में से एक को पसन्द करना है; और जो लोग

* (१८०४–६५) संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति (१८६०–६५) इस ने लड़ झगड़ कर गुलामी उठवा दी। + लिंकन का प्रतिस्पर्धी।

‡ (ई० स० पूर्व ४२७–३४८) सोक्रेटिस का सब से प्रख्यात शिष्य और उस के सिद्धान्त का प्रचारक। ग्रीक दर्शन में इस की शाखा सब से श्रेष्ठ गिनी जाती है।

निर्वाचक पसन्द करते हैं वे पहले से जानते हैं कि वह कौन उमेदवार है। देश में कुछ भी सार्वजनिक उत्साह विद्यमान होगा तो जो लोग मत देने की कुछ भी परवा रखते होंगे उन सब मत धारियों ने मन में निश्चय कर लिया होगा कि उन उमेदवारों में से वे स्वयं किस को निर्वाचित देखना चाहते हैं और केवल उसी विचार के ऊपर से अपना मत देने को झुकेंगे। हर एक उमेदवार का पक्षपाती उस पुरुष के लिये मत देने को बाध्य सब निर्वाचकों की सूची अपने पास तय्यार रखेगा: और मूल मतधारी से जो असली प्रश्न किया जायगा वह इतना ही कि इन में से किस सूची को वह सहारा देगा।

जिस प्रसङ्ग में दो क्रम का चुनाव प्रयोग में अच्छा उतरता है वह यह है कि निर्वाचक केवल निर्वाचक के तौर पर ही पसन्द किये हुए नहीं होते वरंच उन को दूसरे आवश्यक कर्त्तव्य भी पालने होते हैं और इस से सिर्फ किसी खास मत के अढ़तिया के तौर पर ही चुने जाने की सम्भावना नहीं रहती। ऐसी घटना का दृष्टान्त संयुक्त राज्य की वृद्धसभा (सिनेट) नाम की दूसरी अमेरिकन संस्था के गठन से मिल जाता है। यह संस्था मानो साम्राज्य-सभा (कांग्रेस) की ऊपरवाली सभा है। यह सीधे तौर पर लोकप्रतिनिधि नहीं गिनी जाती परन्तु पूर्णरूप से माण्डलिक राज्यों * की प्रतिनिधि और जो जो राज्यहक उनके अधीन

* संयुक्त राज्य (युनाइटेड स्टेट्स) माण्डलिक राज्यों अर्थात् छोटे छोटे राजनीतिक प्रान्तों का समूह है। माण्डलिक राज्यों का अपना अपना राज्यतंत्र है, उनके हाथ में सिर्फ मांडलिक राज्य का भीतरी प्रबन्ध है; परन्तु विदेश के साथ का तथा सब का साधारण-व्यवहार संयुक्त राज्य अथवा सामान्य सभा को सौंपा हुआ है।

किये हुए होते हैं उनकी रक्षक गिनी जाती है। समान संयोग के कारण, प्रत्येक माण्डलिक राज्य का आकार या आवश्यकता चाहे जैसी हो तथापि उसकी भीतरी सत्ता एक समान पवित्र गिनी जाती है और वह चाहे छोटे डिलावेर का माण्डलिक राज्य हो या न्यूयार्क की साम्राज्य सभा का स्थल हो, प्रत्येक वृद्ध-सभा के लिये एक समान (दो) सभासद भेजता है। ये सभासद समस्त जनसमाज द्वारा नहीं, वरंच प्रत्येक माण्ड-लिक राज्य की जनता द्वारा निर्वाचित माण्डलिक राज्य की कानून बनानेवाली सभा द्वारा चुने जाते हैं; परन्तु इन संस्थाओं के सिर पर कानून बनानेवाली सभा का सब से साधारण अर्थात् स्थानिक कानून बनाने का और शासन विभाग का काम होता है, इस से उनका जो चुनाव होता है उसमें पहिले की अपेक्षा इस पिछले उद्देश्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है और ये संस्थाएं संयुक्त वृद्ध-सभा में माण्डलिक राज्य के प्रतिनिधि के तौर पर जो दो नाम चुनती हैं उनको पसन्द करने में बहुत कर के अपनी राय के अनुसार चलती हैं और उस में सिर्फ जन सम्मत राज्यतंत्र के सब काम में लोकमत पर जो साधारण ध्यान रखने की जरूरत है उतना ही ध्यान रखती हैं। इस प्रकार से होनेवाला चुनाव उत्कृष्ट रीति से सफलीभूत प्रमाणित हुआ है और संयुक्त राज्य के सारे चुनाव में स्पष्टतः सब से श्रेष्ठ है; क्योंकि वृद्ध सभा में जो पुरुष अवश्य करके आते हैं वे, जिन्होंने सार्वजनिक जीवन में यथेष्ट नाम कर लिया है उन्हीं में से सब से प्रसिद्ध पुरुष होते हैं। ऐसे दृष्टान्त के सामने यह नहीं कहा जा सकता कि परोक्ष लोक निर्वाचन कभी लाभकारी नहीं है। कुछ खास शर्तों में यह पद्धति सब से बढ़कर स्वीकार करने योग्य है। परन्तु ये अवस्थाएं युनाइटेड स्टेट्स जैसे संयुक्त राज्यों के सिवा

दूसरी जगह अनुभव सिद्ध अवस्था में मुश्किल से मिलेंगी; क्योंकि युनाइटेड स्टेट्स में स्थानिक संस्थाओं को चुनाव का काम सौंपा जाता है; उनके दूसरे कर्त्तव्यों में जनता के सब से आवश्यक विषयों का समावेश हो जाता है। इस देश में जो संस्थाएं उनकी सी दशा में हैं और हो सकती हैं वे सिर्फ नगर-सुधारिणी (म्यूनीसिपल) सभाएं अथवा उनकी सी स्थानिक उद्देश्यों के लिये उत्पन्न हुई या होनेवाली संस्थाएं ही हैं। इतने पर भी अगर पुरप्रधान और साधारण सभा लन्दन शहर के प्रतिनिधि चुने और मेरिलबोन के पेरिश व्यवस्थापक जैसा कि वास्तव में आज कल चुनते हैं वैसे प्रकाश्य रूप से वहां के सब प्रतिनिधि चुनें तो कम ही लोग यह समझें कि पार्लीमेण्ट के गठन में कुछ सुधार हुआ। ये संस्थाएं सिर्फ स्थानिक संस्थाओं की स्थिति में देखने पर इस समय की अपेक्षा बहुत कम आपत्तिजनक हों तो भी जो गुण उनको नगर सुधार या पेरिश की व्यवस्था के नियमित और विशेष कर्त्तव्य पालन करने के योग्य बनाते हैं वे गुण पार्लीमेण्ट की मेम्बरी के उमेदवार की,कमोवेश योग्यता के विषय में निर्णय करने की कुछ खास योग्यता की जमानत नहीं देते। यह कर्त्तव्य जिस तरह लोग प्रत्यक्ष मत देकर पालन करते हैं उसकी अपेक्षा ये मनुष्य शायद बहुत अच्छी तरह पालन नहीं करेंगे। इसके विरुद्ध अगर पेरिश-व्यवस्थापकों या म्यूनीसिपल सभासदों के ओहदों के लिये मनुष्य पसन्द करने में, पार्लीमेण्ट के सभासद चुनने लायक योग्यता का भी ध्यान रखना हो, तो जिनके विचार साधारण राज्यनीति के विषय में अपने पसन्द करनेवाले मतधारियों से मिलते हों उनको पसन्द करने का जो कर्त्तव्य हो उसी से, जो लोग यह अधिक नियमित कर्त्तव्य पालने को सब से अधिक योग्य होंगे उनमें से

बहुत से वंचित हुए बिना नहीं रहेंगे। म्यूनीसिपल सभाओं की मात्र परोक्ष राजनीतिक सत्ता के कारण उनका चुनाव एक पक्ष राज्यनीति का विषय हो गया है और उसके मूल उद्देश्य में बहुतेरी गड़बड़ें पेश आ चुकी हैं। अगर किसी मनुष्य के गुमाश्ते या रसोइये के फर्जों में उसके लिये वैद्य पसन्द करने का फर्ज भी शामिल समझा जाय तो उसे उनकी पसन्द से अधिक अच्छा वैद्य मिलने की सम्भावना नहीं रहेगी। फिर उसके रसोइया या गुमाश्ते की पसन्द ऐसे मनुष्यों में सिकुड़ी रह जायगी जिनको यह दूसरा काम सौंपने से उसका स्वास्थ्य बेहद जोखिम में पड़ने का खटका है।

इस से मालूम होता है कि जो लाभ परोक्ष निर्वाचन में कुछ भी साध्य है वह प्रत्यक्ष में भी प्राप्त हो सकता है परन्तु जिसकी परोक्ष निर्वाचन में आशा रखते हैं वह भी इसमें प्रत्यक्ष के बराबर ही असाध्य हो जाता है और इसमें एक बड़ा अलाभ भी है। यन्त्र सामग्री में यह एक फालतू और निकम्मा पहिया है जो कम आपत्तिजनक नहीं है। सार्वजनिक उत्साह और राजनीतिक ज्ञान चमकाने के साधन रूप उस में जो साफ कचाई है उसकी आलोचना पहिले कर आये हैं, और अगर उसका कुछ भी अचूक असर हो–अर्थात् मूल मतधारी पार्लीमेण्ट का अपना प्रतिनिधि चुनने का काम किसी अंश में भी वस्तुतः अपने चुने हुए के हाथ में सौंपे तो उसका अपने प्रतिनिधि से एक भाव होना रुके और प्रतिनिधि को भी अपनी मतसमिति के प्रति कम जिम्मेवारी का ख्याल रखना पड़े। इन सब के सिवा जिन मनुष्यों के हाथ में पार्लीमेण्ट के सभासदों का अन्तिम चुनाव रहे उनके मुकाबले में कम संख्या के कारण, प्रपञ्च के लिये और चुनने वालों की सामाजिक स्थिति के अनुकूल आने

वाली हर तरह की रिश्वत के लिये अधिक मौका मिले बिना नहीं रहेगा। घूसखोरी के सुबीते के विषय में तो सब मत संस्थाएं छोटे कसबों की दशा में आ पड़ेंगी। चुनाव पक्का करने के लिये कुछ ही मनुष्यों को मिला लेने की जरूरत रहेगी। अगर यह कहा जाय कि निर्वाचक उनके सामने जवाब देह होंगे जिन्होंने उनको चुना है तो इसका यह साफ जवाब है कि उनका कोई स्थायी पद या सार्वजनिक प्रतिष्ठा न होने से उनको रिश्वती मत से कुछ जोखिम नहीं पहुँचेगा या पहुँचेगा भी तो उसकी, अर्थात् फिर निर्वाचक नहीं नियत होने की, परवा कम ही होगी और इस से, शुद्धता का मुख्य भरोसा अभी तक घूसखोरी की सजा के आधार पर है। और छोटी मत समितियों में इस आधार की अपूर्णता अनुभव से सारे संसार में प्रगट होगयी है।

पसन्द किये हुए निर्वाचकों को जितना ही विचार स्वातन्त्र्य दिया जायगा उतना ही यह दोष पैदा होगा। अगर वे इस शर्त पर निर्वाचक पसन्द किये जायँ कि उनका काम केवल अपनी मत समिति का मत मतस्थल पर ले जाने का है तब सम्भवतः इसी एक अवस्था में वे लोग अपना मत खास अपना मतलब साधने के काम में लगाने से डरेंगे। जहाँ दोहरे क्रम के चुनाव का विचार काम में लाया गया कि उसी घड़ी से उसका बुरा असर शुरू हुआ। युनाइटेड स्टेट्स वाली वृद्धसभा के सभासदों (सिनेटरों) के चुनाव के ऐसा प्रसङ्ग नहीं होगा तो हम परोक्ष निर्वाचन के नियम का चाहे जिस रीति से उपयोग करें, उसके विषय में यह बात सत्य निकलती दिखाई देगी।

इस राजनीतिक योजना के पक्ष में जो सब से अच्छी बात कही जा सकती है वह यह कि पार्लामेण्ट के अन्दर केवल बहुमत

ही प्रयत्न न हो जाय इस रीति से जनता के प्रत्येक मनुष्य को किसी किस्म का मतहक देने के लिये यह युक्ति लोकमत की कुछ अवस्था में अनेक मतों की युक्ति से अधिक साध्य हो जायगी। जैसे—इस देश की मत समिति में सब मजदूरों के पसन्द किये हुए, अपने में से ही एक बड़े और निर्वाचित वर्ग की वृद्धि की जा सकती है। ऐसी युक्ति तात्कालिक समाधान करने का प्रसङ्गोपात सुगम मार्ग हो सकती है परन्तु ऐसा कोई मूलतत्व पूर्णतया इससे नहीं सधता कि जिससे दार्शनिकों के किसी वर्ग को इसे स्थायी प्रबन्ध के तौर पर पसन्द करने की सम्भावना हो।

दसवाँ अध्याय।

मत देने की पद्धति के विषय में।

मत देने की पद्धति के सम्बन्ध में सब से आवश्यक प्रश्न गुप्त रूप या प्रकाश्य रूप का है और अब हम इसी विषय को लेते हैं।

'छिप रहना' और 'नामर्दी जताना' आदि ख्यालों की नीव पर इसकी आलोचना करना भारी भूल समझी जायगी। गुप्तता कितने ही अवसरों पर सकारण है और कुछ में आवश्यक है और जिस जोखिम से ईमानदारी के साथ दूर रह सकते हैं उससे बचाव ढूँढ़ना कुछ नामर्दी नहीं है। इसी तरह जिसमें प्रकाश्य मत की अपेक्षा गुप्तमत अधिक पसन्द करने योग्य हो यह प्रसङ्ग विचार में नहीं आ सकता यह भी विवेकपूर्वक प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है। परन्तु मुझे कहना चाहिये कि राजनीतिक प्रकार के कार्यों में ऐसे प्रसङ्ग नियम रूप नहीं वरञ्च अपवाद रूप हैं।

जैसा कि मैं पहिले कई बार बता चुका हूँ, जिन कितने ही प्रसङ्गों में किसी नियम का जीवन सत्व अर्थात् उससे नागरिक के मन में उत्पन्न होने वाला भाव, उस नियम के असर का एक सब से आवश्यक तत्व है उनमें से यह एक हाल का दृष्टान्त है। गुटिका मत * का जीवनसत्व—मतधारी के मन में उस विषय में उत्पन्न होने वाला सम्भवित भाव—ऐसा है कि उसे जो मत हक दिया गया है वह उसके निज के लिये—अपने खास उपयोग और लाभ के लिये है जनता के लाभ की थाती के तौर पर नहीं है। अगर वह सचमुच थाती है, अगर जनता को उसके मत पर हक है तो क्या उसको वह मत जानने का हक नहीं है? इस दूषित और हानिकारक असर का जनसमूह पर होना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि जो लोग गत कुछ वर्षों से गुटिका मत के प्रसिद्ध पक्षपाती हो गये हैं उन में से बहुतों के ऊपर ऐसा असर हुआ है। इस मत के मूल प्रचारकों का ऐसा विचार था; परन्तु किसी मत का मन के ऊपर होनेवाला असर अगर उत्तम रीति से मालूम होता है तो उस के गढ़नेवाले पर नहीं परन्तु उस से जो गठित होता है उस पर। मि० ब्राइट और उनके विचार के लोकसत्ता के पक्षपाती यह साबित करना अपना भारी कर्त्तव्य समझते हैं कि उनके कथनानुसार, मत एक हक है, थाती नहीं। अब यही एक भावना साधारण मन में घर कर के जो सात्विक हानि करती है वह, गुटिका मत अधिक से अधिक जितनी भलाई कर सकता है उस से बढ़ जाती है। हक की भावना की हम चाहे जैसी व्याख्या करें या

* इस ढंग से (लाटरी की तरह) मत देने की रीति जिससे मालूम न हो सके कि किस मतदाता ने किस तरफ मत दिया।

अर्थ लगावें परन्तु किसी मनुष्य को दूसरे पर (शुद्ध कानूनी भाव के सिवा) सत्ता का हक हो हीं नहीं सकता। ऐसी जो कुछ सत्ता उस के हाथ में दी जाती है वह सब इस शब्द के सम्पूर्ण भाव के अनुसार सात्विक थाती है। परन्तु मतधारी की हैसियत से या प्रतिनिधि की हैसियत से कोई राजनीतिक कार्य करना दूसरे के ऊपर सत्ता-हुकूमत है। जो लोग यह कहते हैं कि मत थाती नहीं, हक है, वे अपने सिद्धान्त से निकलता हुआ मतलब मुश्किल से स्वीकार करेंगे। अगर वह हक है, अगर वह मतधारी के हाथ में उसके लाभ के लिये है तो उसे बेचने के लिये, अथवा जिसे प्रसन्न करने में उसका स्वार्थ है उसे खुश रखने में उसे लगाने के लिये हम किस बुनियाद पर उसको उलहना दे सकते हैं ? कोई मनुष्य अपने मकान का, अपने तीन टकिया सूद के कम्पनी कागज का या जिस किसी दूसरी वस्तु पर उसका वास्तविक हक हो उसका उपयोग करे तो उसमें उसकी ओर से सिर्फ सार्वजनिक लाभ का विचार रखने की आशा नहीं की जाती। जिन कई कारणों से उसको बेशक मत मिलना उचित है उन में से एक यह है कि उसे अपनी रक्षा का साधन मिले; परन्तु यह सिर्फ उसी दशा में जब कि वह अपने प्रत्येक नागरिक बन्धु की भी, अपने मत के आधार से जहां तक बन पड़े, रक्षा करने को एक समान बाध्य हो। उसका मत ऐसी वस्तु नहीं है कि उसमें उसकी मनमानी रहे; न्यायपंच (जुरर) के फैसले की अपेक्षा उसके मत से मनमानी का अधिक सम्बन्ध नहीं है। यह एक खास कर्तव्य की बात है; वह सार्वजनिक हित के विषय में अपने सब से श्रेष्ठ और शुद्ध अभिप्राय के अनुसार, मत देने को बाध्य है। जिनका इस विषय में कुछ भी भिन्न विचार हो वे सब मत देने के अयोग्य हैं

उनके ऊपर मत का जो असर होगा वह उनका मन कुंठित करने को होगा उच्च करने को नहीं। वह उनके हृदय में उच्च देशभक्ति और सार्वजनिक कर्त्तव्य की वृत्ति चमकाने के बदले आत्मस्वार्थ, अपनी मरजी या ख्याल (जो कि स्वेच्छाचारी राजा और अत्याचारी को उत्तेजित करनेवाले भाव और उद्देश्य हैं परन्तु इसमें किसी कदर कम होंगे) के अनुसार सार्वजनिक कार्य करने की वृत्ति को उकसाता और पोसता है। अब अगर कोई साधारण नागरिक किसी सार्वजनिक ओहदे पर हो अथवा उसके सिर कोई सामाजिक कार्य आपड़े तो उस से सम्बन्ध रखनेवाले कर्त्तव्यों के विषय में, उसको वह काम देने में, जनता जैसा विचार और वृत्ति दिखावेगी वैसी ही उसकी भी अवश्य होगी। उसकी ओर से जैसी आशा जनता रखती जान पड़ेगी उसके ऊपर से उसकी बनने वाली सीमा से वह नीचे गिर सकता है परन्तु ऊपर शायद चढ़े। और गुप्त मत के विषय में उसकी ओर से जो अर्थ होने का प्रायः भरोसा है वह यही कि वह स्वयं क्यों मत देता है यह जिसको जानने की स्वाधीनता नहीं है उसके साथ अपने मन का कुछ सम्बन्ध हो इस रीति से देने को वह बाध्य नहीं है, परन्तु उसकी जैसी रुचि हो वैसा ही दे सकता है।

प्राइवेट क्लबों और सोसाइटियों में गुटिका मत का उपयोग होता है, इस से पार्लमेण्ट के चुनाव में भी इसको जायज करने की दलील नहीं टिक सकती, इसका यह निर्णायक कारण है। मतधारी तो दूसरे किसी के अभिलाष या स्वार्थ का ख्याल रखने के फर्ज से अपने को गलत तौर पर बरी समझता है, परन्तु क्लब का मेम्बर दर असल बरी है। वह अपने मत से इतना ही प्रगट करता है कि वह अमुक पुरुष

के साथ कमोवेश निकट सम्बन्ध रखने को राजी है या नहीं; इस से कुछ विशेष नहीं। यह विषय ऐसा है कि इसमें, जैसा कि सब लोग स्वीकार करते हैं, उसको अपनी मरजी या वृत्ति के अनुसार निर्णय करने का हक है; और वह झगड़े की झोंकी लिये विना इसका निर्णय करने को शक्तिमान हो यह सब के लिये, अस्वीकृत मनुष्य के लिये भी अच्छा मार्ग है। इन प्रसङ्गों में गुटिका मत को आपत्ति रहित बनानेवाला दूसरा विशेष कारण यह है कि इसके परिणाम में स्वभावतः या लाचारी दरजे झूठ बोलना नहीं पड़ता। सम्बन्धी पुरुष एक ही वर्ग या दरजे के होते हैं और उन में से एक जन दूसरे से आग्रह कर के यह प्रश्न करे कि तुमने कैसा मत दिया तो यह अनुचित माना जायगा। पार्लमेण्ट के चुनाव के विषय में बहुत सी दूसरी बातें हैं और जब तक एक पुरुष दूसरे से इतना श्रेष्ठ है कि उससे अपने हुक्म के मुताबिक मत दिलाने के लिये अपने को हकदार समझे तब तक ऐसा रहना सम्भव है। और जब तक ऐसी स्थिति है जब तक चुप्पी या उड़ता जवाब यह साबित करेगा कि जो मत दिया गया है वह वैसा नहीं है जैसा कि चाहा गया था।

किसी प्रकार के राजनीतिक चुनाव में, सार्वत्रिक मत में भी (और नियमित मत के विषय में तो और भी स्पष्टतः) मतधारी अपने निज के स्वार्थ का नहीं, वरञ्च सामाजिक लाभ का विचार रखने को—और स्वयं अकेला मतधारी होने और केवल उसी पर चुनाव का दारमदार होने की दशा में वह जैसा वर्ताव करने को बाध्य होता वैसे ही अपने यथार्थ अभिप्राय के अनुसार मत देने को—सम्पूर्ण सात्विक कर्त्तव्य से बाध्य है। यह सिद्धान्त स्वीकार करने का विशेष नहीं तो प्रत्यक्ष परिणाम यही है कि मत देने का कर्त्तव्य, दूसरे

कर्त्तव्य की तरह लोकमत के सामने और आलोचना के अधीन रह कर पालना चाहिये; क्योंकि उसका पालन करने में जनता के प्रत्येक मनुष्य का स्वार्थ है, इतना ही नहीं, वरञ्च वह कर्त्तव्य अगर ईमानदारी और सावधानी से पालने के बदले दूसरी तरह पाला जाय तो इसमें अपना नुकसान हुआ समझने का उसको हक है। राज्यनीति का यह या दूसरा कोई नियम बेशक पूर्णरूप से अभंग्य नहीं है; इसकी अपेक्षा इन सब कारणों से इसको अलग रख सकते हैं। परन्तु यह नियम इतना वजनदार है कि जिन प्रसङ्गों में यह भङ्ग किया जा सकता है वे असाधारण अपवाद स्वरूप होंगे।

बेशक यह भी हो सकता है कि अगर हम मतधारी को उसके मत के लिये विज्ञप्ति के रास्ते जनता के सामने जवाबदेह बनाने का प्रयत्न करें तो मतधारी जब गुप्तता की ढाल की छाया में रह कर जवाबदेही से बिलकुल बरी हो गया हो तब जिस कदर उसका अपना स्वार्थ जनता के साधारण लाभ के प्रतिकूल जायगा उससे भी जिसका स्वार्थ अधिक प्रतिकूल जाता होगा उस किसी प्रबल पुरुष की वास्तविक सत्ता में वह आ जायगा। जब मतधारियों के बड़े भाग की ऐसी दशा हो तब गुप्तिका मत कम हानिकारक होगा। मतधारी जब गुलाम की अवस्था में हों तब जिन जिन बातों से वे अपनी गुलामी से मुक्त होने को समर्थ हों वे सही जा सकती हैं। जब बहुत के ऊपर थोड़े की हानिकारक सत्ता बढ़ती जाती हो उस समय गुप्तिकामत सब से सबल द्वार होता है। रोम के जनसत्ताक राज्य की अवनति के समय गुप्तिकामत के लिये अनिवार्य कारण था। प्रति वर्ष शिष्ट वर्ग अधिक अधिक धनवान तथा अत्याचारी और जनसमूह अधिक अधिक निर्धन तथा परवश होता जाता था; और

पहुँचवाले दुष्ट पुरुषों के हाथ में केवल हथियार रूप होते आते हुए मत के दुरुपयोग के विरुद्ध बहुत मजबूत बाँध बाँधने की जरूरत थी। एथीनियन राज्यतन्त्र में जब तक गुटिकामत विद्यमान था तब तक उसका असर लाभकारी था, इस बात में भी इतना ही कम सन्देह किया जा सकेगा। ग्रीक जनसत्ताक राज्यों में जो सब से अस्थिर थे उनमें भी अनुचित रीति से पाये हुए एक लोकमत से ही स्वतन्त्रता का (तत्काल के लिये) नाश होना सम्भव था और यद्यपि एथीनियन मतधारी इतने परवश न थे कि उन पर साधारणतः बलात्कार हो सके तथापि यह सम्भव था कि उन्हें घूस दिया गया हो या कुछ उच्छृंखल पुरुषों के दल के अत्याचार ने उनको चौंका रखा हो; क्योंकि एथेन्स में भी ऊँचे दरजे के और धनवान युवकों में ऐसे पुरुष असाधारण न थे। ऐसे अवसरों पर गुटिका मत सुश्रृङ्खला के लिये एक कीमती हथियार था और प्राचीन जनसत्ताक राज्यों में जिस न्याय और समानता के लिये एथेन्स प्रख्यात था उसे प्रचलित करता था।

परन्तु अर्वाचीन युरोप के बहुत आगे बढ़े हुए राज्यों में और खास करके इस देश में, मतधारी पर जबरदस्ती करने की सत्ता घट गयी है और घटती जाती है; और मतधारी के खराब मत के लिये इस समय जितना भय उसके व्यक्तिगत या वर्गगत कूट स्वार्थ और दुष्ट वृत्तियों की तरफ से रहता है उसकी अपेक्षा उसकी दूसरे के हाथ में परवशता के असर से कम भय रहता है। पहले विषय में सारे अंकुश से मुक्त करने के खर्च में दूसरे विषय में उसकी रक्षा करना बहुत छोटे और घटते हुए दोष की जगह बहुत भारी और बढ़ता हुआ दोष ग्रहण करने के समान है। इस विषय पर और हाल

के जमाने में यह प्रश्न इंग्लैंड से जितना सम्बन्ध रखता है उतने तक साधारणतया उसके ऊपर मैं ने अपनी " पार्लामेंट में सुधार " सम्बन्धी एक पुस्तिका में जो विचार प्रगट किये हैं उनमें में कुछ फेर बदल करने की आवश्यकता नहीं समझता; इससे यहाँ उसमें से कुछ उद्धृत करना चाहता हूँ—

"तीस वर्ष पहिले भी सच बात यह थी कि पार्लामेण्ट के सभासदों के चुनाव में जो मुख्य दोष सम्हालने योग्य था, वह जमींदारों, मालिकों और ग्राहकों का बलात्कार था और वह गुटिका मत से दूर होता। इस समय मैं समझता हूँ कि अनर्थ का जो बहुत बड़ा कारण है वह मतधारी का अपस्वार्थ या अपस्वार्थी पक्षपात है। मुझे विश्वास हो गया है कि इस समय जो नीच और हानिकारक मत दिया जाता है उसका मूल दूसरे की तरफ के परिणाम के भय की अपेक्षा बहुधा मतधारी के व्यक्तिगत स्वार्थ या वर्गस्वार्थ या उसके मन की कुछ नीच वृत्ति होती है और गुटिका मत उसको बिना किसी शरम या जवाबदेही के इन सत्ताओं के वशीभूत बने रहने को शक्तिमान करता है।

"राज्यतंत्र का सम्पूर्ण अधिकार बहुत ऊंचे और धनवान वर्गों के हाथ से निकले बहुत अधिक समय नहीं बीता है। उस समय देश का मुख्य संकट उनकी सत्ता का था। मालिक या जमींदार की आज्ञानुसार मत देने का रिवाज ऐसा जड़ पकड़ गया था कि प्रबल सार्वजनिक जोश के सिवा और किसी से उसका असर दबाना असम्भव था और ऐसा जोश अच्छे काम के सिवा दूसरे समय शायद ही देखने में आता है। इससे इन सत्ताओं के विरुद्ध दिया हुआ मत साधारणतः प्रामाणिक और जनहित के तरफ की वृत्ति वाला निकलता और वह चाहे जिस प्रसङ्ग में और चाहे जिस उद्देश्य से

प्रेरित होकर दिया जाता उसके अच्छा मत होने का प्रायः सदा भरोसा था; क्योंकि वह शिष्ट वर्ग के अलंघ्य सत्ता रूपी राक्षसी दोप के विरुद्ध दिया जाता था। अगर उस समय मतधारी आत्मरक्षा के साथ अपने को अपना हक सत्यता या विवेक-पूर्वक नहीं तो स्वतंत्रता से भी काम में लाने को शक्तिमान कर सका होता तो सुधार को भारी लाभ पहुँचता; क्योंकि इससे देश में उस समय शासन करने वाली सत्ता का—राज्यतंत्र और राज्यप्रवन्ध में जो जो खराव तत्त्व थे उन सब को उभाड़ने और कायम रखने वाली सत्ता का—जमींदारों और कसवे का सट्टा करनेवालों का—वंधन टूट गया होता।

"गुटिका मत स्वीकृत नहीं हुआ, परन्तु इस विषय में गुटिका मत का काम घटनावली ने किया है और अधिक अधिक करती जाती है। देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति इस प्रश्न से जितना सम्बन्ध रखती है उतने अंश में बहुत बदल गयी है और हर रोज बदलती जाती है। उच्च वर्ग अब देश का मालिक नहीं रहा। जिस मनुष्य की दृष्टि में वर्त्तमान काल के सब चिन्ह न आते होंगे वही सोचेगा कि मध्य वर्ग उच्च वर्ग के और मजदूर वर्ग मध्य और उच्च वर्गों के, चौथाई सदी पहिले जितना अधीन या वश था उतना ही इस समय भी है। इस चौथाई सदी की घटनाओं ने प्रत्येक वर्ग को अपना संयुक्त बल जानना सिखलाया है; इतना ही नहीं, वरंच निचले वर्गों के मनुष्यों को ऊंचे वर्गों के मनुष्यों के साथ अधिक हिम्मत से वर्ताव करने की स्थिति में पहुँचा दिया है। मतधारी का मत उस के ऊपर वाले की मरजी के अनुसार हो चाहे विरुद्ध, अब बलात्कार करने के पहिले के साधन न होने से वह बहुत प्रसङ्गों में बलात्कार का परिणाम

नहीं होता, वरंच उसकी अपनी खास या राजनीतिक प्रवृत्ति का द्योतक होता है आजकल की निर्वाचन पद्धति के दोष ही स्वयं इस के सबूत हैं। रिश्वतखोरी बढ़ते जाने के विषय में मची हुई चिल्लाहट और जो स्थान पहिले उस से बचे हुए थे वहां भी उस की छूत, साबित करती है कि अब स्थानिक सत्ताओं का प्रभाव नहीं रहा और मतधारी दूसरों को नहीं वरंच अपने आप को प्रसन्न करने लिये मत देता है। जिलों में और छोटे कसबों में तो अभी तक गुलामी की परवशता बनी हुई है किन्तु वर्तमान समय उसके प्रतिकूल है और घटनाओं के प्रभाव की गति उसको निरन्तर घटाने की तरफ है। एक अच्छा रय्यत अब यह समझ सकता है कि उस के लिये उसका जमींदार जितना उपयोगी है उतना वह भी अपने जमीदार के लिये उपयोगी है और एक चलता पुर्जा दुकानदार अपनेको अपने किसी भी ग्राहक से स्वतंत्र समझ सकता है। प्रत्येक चुनाव में मतधारियों का मत बहुत स्वतंत्र होता जाता है। अब तो उनकी व्यक्तिगत स्थिति की अपेक्षा उनका मन स्वतंत्र करने की बहुत ज्यादा जरूरत है। अब वे दूसरे मनुष्यों की इच्छा के जड़ हथियार— केवल अधिष्ठाता शिष्ट वर्ग के हाथ में सत्ता सौंपनेवाले साधन रूप नहीं रहे। मतधारी स्वयं शिष्ट वर्ग बनते जाते हैं।

"मतधारी जिस कदर अपने स्वामी की मरजी के अनुसार नहीं, वरंच अपनी ही मरजी के अनुसार अपने मत का निर्णय करता है उसी कदर उसकी स्थिति पार्लीमेण्ट के सभासद की स्थिति से मिलती जाती है और उसके प्रकाशन की आवश्यकता है। जब तक जनता का कुछ भी विभाग बे प्रतिनिधि का है तब तक सीमाबद्ध मत से गुटिका मत को मिला देने के

विरुद्ध चार्टिस्ट * जो दलील पेश करते हैं यह ला जवाब है। हाल के मतधारी और उनका बड़ा भाग, जिनकी संख्या में अब से पीछे का संभवित सुधार सम्बन्धी कोई मसविदा बढ़न्ती करेगा, मध्यम वर्ग के हैं। उनका भी जमींदारों और कारखाने वालों के इतना ही और मजदूर वर्ग के स्वार्थ से भिन्न, वर्ग-स्वार्थ है। अगर होशियार कारीगरों को मतहक दिया जाय तो उनका भी गंवार कारीगरों से अलग वर्गस्वार्थ होगा या होना सम्भव है। मान लो कि सब पुरुषों को मत का हक दिया गया—मान लो कि जो पहिले सार्वत्रिक मत के झूठे नाम से परिचित था और अब पुरुष मत के मूर्ख नाम से मशहूर है उस विषय में कानून बना; फिर भी मतधारियों का, स्त्रियों से अलग, वर्ग स्वार्थ तो रहेगा ही। मान लो कि कानून बनाने वाली सभा के सामने खास स्त्रियों के सम्बन्ध का प्रश्न उठा—जैसे, स्त्रियों को विश्वविद्यालय में डिग्री हासिल करने की स्वाधीनता देनी चाहिये कि नहीं † जो बदमाश हर रोज अपनी स्त्री को मौत की मार मारते हैं उनकी इस समय होने वाली हलकी सजा के बदले कुछ ज्यादा कड़ी सजा ठहरानी चाहिये कि नहीं; या मान लो कि ब्याही स्त्रियों को अपनी जायदाद पर हक होना चाहिये यह जो रिवाज अमेरिका के माण्डलिक राज्य एक एक करके, सिर्फ अलग कानून से नहीं,

---

* इस नाम की एक सभा १८३९ ईस्वी में खड़ी हुई थी उसकी ६ मांगें इस प्रकार थीं (१) सब को मत, (२) गुप्त मत (३) वार्षिक पार्लमेण्ट (४) पार्लमेंट के सभासद को वेतन देना (५) सब को पार्लमेंट के सभासद होने का हक (६) देश का एक समान मत समितियों में विभाग। † अब स्त्रियां स्वाधीनता से डिग्री हासिल करती हैं।

वरंच अपने गठन के संशोधित नियमोंमें ही एक धारा रख कर चलाते जाते हैं उसका प्रस्ताव किसी ने ब्रिटिश पार्लीमेण्ट में पेश किया। अब क्या किसी पुरुष की स्त्री, और लड़कियों को यह जानने का हक नहीं है कि वह पुरुष उस उमेद्वार के पक्ष में मत देता है या विपक्ष में जो इस प्रस्ताव का समर्थन करने वाला है?

"अलबत्ता यह उज्र उठाया जायगा कि मतहक की हैसियत के अन्यायी रूप धारण करने से ही इन दलीलों को उसका सारा जोर मिलता है; मतधारी निरंकुश होने पर जैसा मत दे उसकी अपेक्षा अगर मत रहित मनुष्यों के अभिप्राय के अंकुश से अधिक ईमानदारी या अधिक लाभदायक रीति से उसका मत देना सम्भव हो तो मतरहित मनुष्य मतधारी होने के लिये मतधारी से अधिक लायक है और उसको मतहक मिलना ही चाहिये। जो मतधारी के मन पर सत्ता चलाने के योग्य हैं वे सब स्वयं मतधारी होने के भी योग्य हैं और ऐसा होने से उनको गुटिकामत के आश्रय में कर देना चाहिये कि जिससे जिन प्रबल मनुष्यों और वर्गों के सामने उन्हें जवाबदेह न होना चाहिये उनकी अनुचित सत्ता से वे बच सकें।

"यह दलील देखने में सबल है और एक समय मैं भी इसको अन्तिम सिद्धान्त समझता था। अब मुझे यह गलत मालूम देती है। जो लोग मतधारी के मन पर असर डालने लायक हैं वे उतने ही कारण से स्वयं मतधारी होने लायक नहीं हैं। पहली सत्ता से यह दूसरी बहुत बड़ी सत्ता है और जिनको अभी अधिक उत्तम राजनीतिक सत्ता निर्भयता से नहीं सौंप सकते वे उससे घटिया के लिये तो तैयार हो सकते हैं। मजदूरों के सब से गरीब और जड़ वर्ग का

अभिप्राय और अभिलाष भी कानून बनाने वाली सभा और मतधारियों के मन पर दूसरे अंकुशों के साथ एक बहुत उपयोगी अंकुश हो सकता है; फिर भी उनकी रीति और बुद्धि की वर्त्तमान दशा में उनको मतहक के सम्पूर्ण उपभोग में दाखिल करके प्रबल सत्ता देना बड़ा हानिकारक होगा। जिनके मत है उनके ऊपर जिनके मत नहीं है उनका यह परोक्ष अंकुश होगा तो लगातार बढ़ कर मतहक के प्रत्येक नये विस्तार का मार्ग सुगम करनेवाला और समय आने पर इस विस्तार को सुख शान्ति में काम में लाने वाला साधन हुए बिना नहीं रहेगा। जब तक जन समूह सबल अभिप्राय कायम करने योग्य न हुआ हो तब तक प्रकाशित करने और जन समूह के जिम्मेवार होने की रुचि निरुपयोगी है यह विचार ही बेजड़ का है। जब लोकमत अपनी गुलामी का अनुसरण कराने में सफलता पाता है तभी वह हित करता है यह सोचना लोकमत की उपयोगिता का बहुत ऊपरी विचार है। दूसरों की दृष्टि में रहना, दूसरों के सामने अपना बचाव करना यह जो लोग दूसरे के अभिप्राय के विरुद्ध बर्ताव करते हैं उनके लिये जितना आवश्यक है उनकी अपेक्षा दूसरों के लिये कभी अधिक आवश्यक नहीं है; क्योंकि इससे उनको अपनी जड़ मजबूत करने को लाचार होना पड़ता है। दबाव के विरुद्ध काम करने के ऐसा दृढ़ता लाने का गुण दूसरे किसी में नहीं है। कोई मनुष्य क्रोध के तात्कालिक आवेश के वश नहीं हुआ होगा तो वह जिसके लिये भारी निन्दा की आशा रहती होगी वैसा काम पहले से सोचे हुए और निश्चय किये हुए उद्देश्य से ही करेगा और यह सदा विचारशील और स्थिर प्रकृति का सबूत है और जड़ से ही खराब मनुष्यों के सिवा दूसरों में साधारणतः

शुद्ध और दृढ़ व्यक्तिगत निर्णयों से ही यह उत्पन्न हुई रहती है। अपनी कारवाई का जवाब देना पड़ेगा यही एक बात ऐसी कारवाई में लगे रहने के लिये प्रबल हेतु है जिसका कुछ उचित उत्तर दिया जा सकता है। अगर कोई यह सोचे कि केवल औचित्य बनाये रखने का कर्तव्य ही सत्ता के दुरुपयोग पर बहुत बड़ा अंकुश नहीं है तो जो लोग अपने को यह अंकुश मानने के कर्तव्य में बंधा नहीं समझते उनकी कारवाई की तरफ़ उसका ध्यान नहीं गया है। प्रकाश्य मत का असली मूल्य जानना उस दशा में भी असम्भव है जब वह (प्रकाश्य मत) उस कारवाई को (जिसका कुछ अच्छा समर्थन करने की भी सम्भावना नहीं है) रोकने के सिवा, विचार करने को लाचार कर, अपनी कारवाई का जवाब माँगने पर क्या कहना चाहिये इसका प्रत्येक जन में काम करने के पहले निर्णय कराने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता।

परन्तु (यह कहा जा सकता है कि) अभी नहीं तो पीछे भी जब सब पुरुष और स्त्रियां अपनी योग्यता से मत के अधिकारी बनाये जायँ तो उस बड़ी वर्गलाभ का कानून होने का कुछ भय नहीं रहने पावेगा; उस समय सारी जनता के मतधारी होने से उनका राष्ट्रीय स्वार्थ से कुछ भिन्न स्वार्थ नहीं हो सकेगा। यद्यपि अभी पृथक पृथक मनुष्य व्यक्तिगत या वर्गीय उद्देश्य के अनुसार मत देंगे तथापि अधिक संख्या का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं होगा और उस समय ऐसा मत रहित मनुष्य नहीं रहेगा जिसके सामने कैफ़ियत देने की ज़रूरत पड़े। इसमें गुटिका मत का परिणाम पूर्ण रूप से हितकारी निकलेगा; क्योंकि इससे दुष्ट सत्ता के सिवा और कुछ रद्द नहीं होगा।

"इसमें भी मैं एक मत नहीं होता। मैं नहीं समझ सकता कि जनता ने सार्वत्रिक मत के योग्य होकर उसे पाया हो तो भी गुटिकामत वाञ्छित होगा। पहला कारण यह है कि ऐसी स्थिति में यह जरूरी नहीं समझा जासकता। इस उद्देश्य में सन्निविष्ट स्थिति का ही विचार करो-सारी जनता शिक्षित है और हर एक प्रौढ़ावस्था के मनुष्य को मत का अधिकार है। इस समय जब बस्ती का एक छोटा सा भाग ही मतधारी है और बड़ा भाग अशिक्षित है तब भी जब लोकमत, जैसा कि प्रत्येक जन नजर से देखता है, अन्तिम अंकुश सत्ता हो गया है तब जो सारी जनता पढ़ना जानती हो और मतहक भोगती हो उसके ऊपर उसकी मरजी के विरुद्ध जमींदार और धनवान लोग ऐसी कोई सत्ता चला सकते हैं जिसके दूर करने में कुछ भी कठिनाई होगी ऐसा सोचना खाम खयाली है। परन्तु यद्यपि गुप्तता की रक्षा उस समय व्यर्थ हो जायगी तो भी प्रकाश्य भाव के अंकुश की तो हमेशा के बराबर ही जरूरत रहेगी। अगर मनुष्य जाति का सार्वत्रिक अवलोकन बहुत भ्रान्तियुक्त न हुआ हो तो जनता का एक अंग होने और साधारण जनता से प्रत्यक्ष स्वार्थ विरोध की स्थिति में न होने के साथ अपने जाति भाइयों के अभिप्राय की तरफ से मिलनेवाले उत्तेजन या अंकुश बिना सार्वजनिक कर्त्तव्य ठीक ठीक पालने के लिये वह यथेष्ट नहीं है। मनुष्य को विरुद्ध दिशा में खींच ले जानेवाला कोई निजका स्वार्थ न हो तो भी उसके द्वारा उसका सार्वजनिक कर्त्तव्य, दूसरे बाहरी लालच की ओर झुके बिना, पालन कराने के लिये उसके भाग का सामाजिक कार्य साधारण नियम से यथेष्ट नहीं जान पड़ता। फिर यह भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कि सब को मत होगा तो वे अपना मत प्रकाश्य भाव से जिस ईमानदारी के साथ देंगे वैसे ही

गुप्त भाव से देंगे। जब मतधारियों में सारी जनता आ जाती है तब उनको जनता के स्वार्थ के विरुद्ध मत देने में कुछ स्वार्थ नहीं हो सकता यह पक्ष जांच करके देखने से उस में अर्थ की अपेक्षा आडम्बर अधिक जान पड़ेगा। यद्यपि (जैसा शब्दार्थ सूचित करता है उस हिसाब से तो) समूची जनता का अपने संयुक्त स्वार्थ से भिन्न स्वार्थ नहीं हो सकता तथापि उसमें से प्रत्येक या किसी किसी का समय समय पर हो सकता है। मनुष्य का जिस वस्तु पर मन लगता है वह उसका स्वार्थ है। प्रत्येक मनुष्य के जितनी वृत्तियां होती हैं जितनी अपने मतलब की या बे मतलब की, अधिक अच्छी रुचि या अरुचि होती है—उतने उसके भिन्न भिन्न स्वार्थ हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उन में से किसी एक को लें तो उस में "उसका स्वार्थ" आ जाता है, वह अपने स्वार्थ का जो एक या दूसरा वर्ग पसन्द करता है उसके अनुसार अच्छा या निकम्मा मनुष्य गिना जाता है। जो मनुष्य घर पर अत्याचार करता होगा वह (जब तक अपने ऊपर न हो तब तक) अत्याचार का अनुमोदन करने को तत्पर रहेगा और यह तो प्रायः निश्चित ही है कि वह अत्याचार रोकने का अनुमोदन नहीं करेगा। ईर्ष्यालु मनुष्य एरिस्टेडिस* के विरुद्ध मत देगा; क्योंकि वह न्यायी कहलाता है। मतलबी मनुष्य अच्छे कानून से अपने देश को होनेवाले लाभ में मौजूद अपने भाग की अपेक्षा

---

* यह मनुष्य ऐसा सद्गुणी, न्यायी और शुद्ध मनका था कि "न्यायी" के नाम से परिचित था। यह थेमिस्टोकलिस का प्रतिद्वन्दी था। यह जहां शिष्टसत्ता का पक्षपाती था वहां थेमिस्टोकलिस जन सत्ता का पक्षपाती था। ई० सन् से ४६७ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई।

अपने तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक पसन्द करेगा; क्योंकि उसकी मनोवृत्तियां उसे जिधर ध्यान देने को झुकाती हैं और जिसका मूल्य जानने को उसे सब से अधिक शक्तिमान बनाती हैं उसको वह अपना निजका स्वार्थ मानता है। मतधारियों की बडी संख्या को दो प्रकार की रुचि होगी। एक निज के उद्देश्यों के अनुसार और दूसरी सार्वजनिक उद्देश्यों के अनुसार। इन दोनों में जो पिछली रुचि है उसी एक को मतधारी प्रकाश करना चाहेंगे। उनकी प्रकृति का यह सब से अच्छा पहलू है जो पहलू अपने से कुछ भी अच्छे न हों उनको भी दिखाने को वे आतुर होते हैं। लोभ, द्वेष रोष या व्यक्तिगत वैर के कारण, वर्ग या पंथ के स्वार्थ या भ्रम के कारण भी लोग बेईमानी का या नीच मत चुपके चुपके प्रगट करने को अधिक तय्यार होंगे। और शठ लोगों के वर्ग पर प्रामाणिक छोटे वर्ग के अभिप्राय के प्रति साहजिक मानवृत्ति का प्राय. एक ही अंकुश रहता है ऐसे उदाहरण मौजूद हैं और आगे भी बहुत से मिल सकते हैं। उत्तर अमेरिका के लोपवादी *माण्डलिक राज्यों* के से प्रसङ्ग में दुष्ट मतधारी का ईमानदार मनुष्य के मुंह के सामने देखने की शरम क्या कुछ अकुश नहीं है? जब कि सब से अनुकूल स्थिति होने पर भी गुटिका मत के लिये इन सब भलाइयों का त्याग करना पड़ेगा तब उसकी स्वीकृति वांछित होने के लिये, उसकी आवश्यकता के लिये वर्तमान की अपेक्षा अधिक सबल प्रसङ्ग दिखाने की जरूरत है (और यह प्रसङ्ग निरन्तर निर्बल होता जाता है।)" *

---

* पार्लीमेंट में सुधार पर विचार-दूसरी आवृत्ति पृष्ठ ३२-३६ प्रथकार।

मत देने की पद्धति सम्बन्धी दूसरे विवादग्रस्त विषयों पर इतना अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। मि० हेयर की योजना के अनुसार मनुष्यगत प्रतिनिधि पद्धति में मत-पत्रों का उपयोग आवश्यक होता है। परन्तु मुझे इतना जरूरी जंचता है कि मतपत्र पर मतधारी की सही किसी सार्वजनिक मतस्थल पर अथवा ऐसी कोई जगह सुगम न हो तो किसी सब के लिये खुली कचहरी में और जिम्मेवार सरकारी अफसर के सामने लेनी चाहिये। मतधारी मतपत्र की खानापूरी अपने घर पर करे और फिर डाकखाने में छोड़ दे या कोई सरकारी कर्मचारी लेने आवे तो उसके हवाले कर दे—इस स्वतंत्रता की जो सलाह दी गयी है वह मुझे जोखिम भरी लगती है। ऐसा हो तो यह काम सारी अच्छी सत्ता की अनुपस्थिति और सारी दुष्ट सत्ता की उप-स्थिति में होगा। गुप्तता की छाया में घूस देने वाला अपना सौदा अपनी नजर से मिला और धमकी देने वाला जबर-दस्ती की स्वीकृति न टली देख सकेगा; परन्तु जो लोग मत-धारी का असली विचार जानते होंगे उनकी हितकरने वाली प्रतिरोधक सत्ता और जो उनके पक्ष या अभिप्राय के होंगे उनके अनुमोदन का उत्तेजक प्रभाव रद्द हो जायगा। *

* इस युक्ति की सिफारिश की गयी है इन दो आधारों पर कि (एक तो) खर्च का बचाव हो और (दूसरे) जो बहुतेरे मत-धारी दूसरी तरह से मत नहीं देंगे और जिनको इस युक्ति के पक्षपाती वांछित मतधारियों की श्रेणी मानते हैं उनका मत मिल सके। यह युक्ति निराश्रितों के कानून के व्यवस्थापकों के चुनाव में बरती गयी है और उसमें जो सफलता हुई है उससे कानून बनानेवाली सभा के सभासदों के लिये मत देने के अधिक आवश्यक विषय में उसे स्वीकार

मतस्थल इतने अधिक होने चाहियें कि सब मतधारी वहां आसानी से जा सकें और किसी बहाने उमेदवार की तरफ से सवारी खर्च मतधारी को लेजाने के लिये स्वीकार नहीं करना चाहिये। अशक्त को और उसे भी वैद्य के प्रमाण पत्र से ही सरकारी खर्च या स्थानिक खर्च से उचित

करने के पक्ष में बहस उठायी जाती है। परन्तु जिस बुनियाद पर इस युक्ति के काम का भरोसा है उसके सम्बन्ध में ये दो विषय मुझे एक दूसरे से अलग होते जान पड़ते हैं। जिस प्रकार के इन्तजामी काम में मुख्य करके एक सार्वजनिक कोष की व्यवस्था है उसके लिये होने वाले स्थानिक निर्वाचन में जो लोग हस्तक्षेप करने को आगे बढ़ते है अकेले उन्हीं के हाथ में चुनाव का काम आ पड़ने से रोकने का उद्देश्य होता है; क्योंकि यह चुनाव सम्बन्धी सार्वजनिक उत्साह नियमित प्रकार का और बहुत अवसरों पर साधारण दर्जे का होता है इससे जो लोग अपने हस्तक्षेप से अपना निज का स्वार्थ साधने की आशा रखते होंगे उनमें इस विषय में हस्तक्षेप करने की वृत्ति का बहुत अंश में सुप्त रहना सम्भव है। और यह निज का स्वार्थ दबा देने का ही उद्देश्य हो तो भी उस में दूसरे लोगों का हस्तक्षेप, जैसे हो वैसे कम हानिकारक करना बहुत इष्ट हो जायगा। परन्तु जब प्रस्तुत विषय राष्ट्रीय राज्य तंत्र का महान कार्य है और उसमें जो लोग अपने से अतिरिक्त विषय में भी कुछ परवा रखते हों या जो अपने विषय में भी परवा रखते हों उन सब के शामिल होने की आवश्यकता है तब जो लोग उस विषय से बेपरवा हों उन्हें उनके सुस्त मन को जाग्रत करने के उपाय के सिवा दूसरे उपाय से मत देने को ललचाने के बदले मत देने से रोकने का उद्देश्य विशेष होता है। जो मतधारी मतस्थल तक जाने के इतना भी चुनाव की परवा नहीं

सवारी मांगने का हक होना चाहिये। मतस्थल, मत दर्ज करने वाले मुहर्रिर और चुनाव के सब जरूरी सामान का प्रबन्ध सरकारी खर्च से होना चाहिये। उमेदवार को अपने चुनाव के लिये नियमित और अदना खर्च के सिवा दूसरा खर्च नहीं करना चाहिये; इतना ही नहीं वरंच उसे करने न देना चाहिये। मि० हेयर सोचते हैं कि जिनको सफलता की सम्भावना न हो या वास्तव में प्रयत्न करने का इरादा न हो उन मनुष्यों को मजाक के लिये या महज मशहूर होने के शौक के लिये उमेदवार बनकर, दूसरे अधिक इच्छुक मनुष्यों के चुनाव में काम आ सकने योग्य कुछ मत खींचने से रोकने के वास्ते उमेदवारों की सूची में जो जो अपना नाम लिखावें उनमें से हर एक से ५० पौण्ड की रकम लेना उचित है। जिस एक खर्च से उमेदवार या उसके सहायकों को, छुटकारा नहीं है वह विज्ञापनों, पटरियों (साइनबोर्डों) और विनय-

---

करता वह अवश्य ऐसा मनुष्य होगा जो अपना मत पहिले मांगने वाले मनुष्य को अथवा सब से तुच्छ और निकम्मे लालच में आकर दे देगा। जिस मनुष्य को अपना मत देने या न देने की परवा नहीं है वह स्वयं किस रास्ते मत देता है इसकी परवा करना उसके लिये सम्भव नहीं है; और जिस के मन की ऐसी स्थिति होती है उसे कुछ भी मत देने का कुछ भी सात्विक अधिकार नहीं है; क्योंकि वह ऐसा मत देता है जो किसी दृढ़ निर्णय का द्योतक नहीं है फिर भी वह एक सारी जिन्दगी का विचार और उद्देश्य प्रगट करने वाले मत के बराबर गिना जाता है और परिणाम का निश्चय करने में उसी के इतना वजनदार हो जाता है। 'पार्लमेन्ट में सुधार पर विचार' पृष्ठ ३९-ग्रंथकार।

पत्रों द्वारा उमेदवार की योग्यता मतधारियों को जताने का खर्च है और यह खर्च जो जो उमेदवार मांगें उन सब के लिये सरकार की तरफ से देने की कम ही आशा रखी जा सकती है। मि० हेयर का सूचित किया हुआ ५० पौण्ड अगर इस कारण से वसूल किया जाय तो उतने में ही इस किस्म का सब जरूरी खर्च हो जाना चाहिये (और अगर आवश्यक जंचे तो इसे १०० पौण्ड कर दें) अगर उमेदवार सभायें बुलाने और मन हासिल करने की वावत खर्च करना चाहें तो उनको रोकने का कोई उपाय नहीं है; परन्तु ऐसे उमेदवार की गांट का खर्च, अथवा ५० (या १०० , पौण्ड की अमानत के सिवा कोई खर्च वेकानूनी और सजा के काबिल होना चाहिये। अगर धोखे का कुछ खटका हो तो प्रत्येक सभासद से आसन ग्रहण करते समय शपथ या प्रतिज्ञा द्वारा यह स्पष्ट स्वीकार करा लेना चाहिये कि उसने अपने चुनाव में प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से ५० पौण्ड के सिवा रुपया या रुपये के ऐसा कुछ खर्च नहीं किया है और करेगा भी नहीं। अगर यह स्वीकृति झूठी या प्रतिज्ञा टूटी साबित हो तो उसे झूठी शपथ का दण्ड मिलना चाहिये। इन सजाओं से यह प्रगट होगा कि इस विषय में पार्लीमेण्ट का विचार दृढ़ है; और लोकमत की गति भी उसी दिशा में झुकेगी और जन समाज के सामने इस सब से गहरे अपराध का मामूली बुरी खसलत समझा जाना,जैसा कि अभी तक समझा गया है, रुकेगा। जहां एक वार यह असर हुआ कि शपथ या प्रतिज्ञा द्वारा की हुई स्वीकृति लाजिमी हो जायगी, इस बात में कुछ सन्देह रखने की जरूरत नहीं है। * "जब लोकमत अस्वीकार की

---

* रिश्वतखोरी रोकने का कानून जांचने को नियुक्त १८६०

हुई वस्तु से आंख छिपाता है तभी वह झूठे ला दावा आदमी से आंख छिपाता है यानी देखकर मटिया जाता है।" चुनाव के घूस के सम्बन्ध में यह बात जगत्प्रसिद्ध है। राजनीतिज्ञ पुरुषों की तरफ से अभीतक कभी घूस रोकने का कुछ वास्तविक और गहरा प्रयत्न नहीं हुआ। और इसका कारण यह है कि यह कभी इच्छा ही नहीं हुई कि चुनाव खर्चीला न हो।

ईसवी की आम सभा की कमेटी के सामने गुजरे हुए गवाहों में से (जिनमें कितने ही चुनाव के काम में कार्यतः बड़ अनुभवी थे) कुछ जन (एक स्वतंत्र नियम के तौर पर या अन्तिम उपाय के तौर पर) पार्लीमेण्ट के सभासदों से स्वीकृति लेने के नियम के पक्ष में थे और उनकी यह राय थी कि अगर इस में सजा का सहारा हो तो उसका बहुत बड़ा असर हो (गवाही पृष्ठ ४६, ५४-७, ६७, १२३, १९८-२०२, २०८) वेकफील्ड की जांच करनेवाली कमेटी के अध्यक्ष ने (अवश्य ही एक दूसरे प्रस्ताव के सम्बन्ध में) कहा था— "अगर वे यह देखें कि कानून सभा का विचार दृढ़ है तो यंत्र-सामग्री अपना काम करेगी......मुझे पक्का विश्वास है कि घूस साबित होने से कुछ व्यक्तिगत कलंक लगे तो इससे लोकमत का प्रवाह बदल जायगा।" (पृ० २६ और ३२) कमेटी के (और अब मंत्री सभा के) एक सभासद ने यह विचार प्रगट किया था कि भावी वाचक प्रतिज्ञा को भूतवाचक प्रतिज्ञा से भिन्न प्रकार की है उसमें झूठी शपथ की सजा जोड़ना बहुत आपत्तिजनक है; परन्तु उनको स्मरण दिलाया गया था कि न्यायालय में साक्षी जो शपथ करता है वह भावी वाचक अर्थात् भविष्य के लिये है और उनका दिया हुआ प्रत्युत्तर (कि साक्षी की प्रतिज्ञा तत्काल होनेवाले कार्य के सम्बन्ध में है परन्तु सभासद की प्रतिज्ञा सदा भाविष्यकाल के लिये रहेगी) उसी दशा

जो लोग खर्च कर सकते हैं उनको उनका खर्चीलापन बहुत से प्रतिद्वन्दियों का मुंह बन्द करने से लाभकारी है; और चाहे

में उपयोगी है जब यह सोचा जाय कि शपथ लेने वाला स्वयं स्वीकार किया हुआ कर्त्तव्य भूल जायगा अथवा अनजान में उसका भंग करेगा; परन्तु जैसी हाल की अवस्था है उस में यह अवसर प्रश्न के बाहर है।

बहुत बड़ी आपत्ति यह है कि चुनाव का खर्च सब से अधिक बार जो स्वरूप पकड़ता है उसमें एक स्थानिक धर्मखाते या दूसरे स्थानिक उपदेशों में चन्दे की मदद का है; और यह कानून बनाना दर असल कड़ा उपाय माना जायगा कि कोई सभासद अपनी मत समिति की सीमा में धर्मार्थ पैसा न दे। जब ऐसा चन्दा शुद्ध बुद्धि से दिया जायगा तब उससे उत्पन्न होनेवाली लोकप्रियता के लाभ की श्रेष्ठ सम्पत्ति से इनकार करना असम्भव सा जँचता है। परन्तु इस बात में बड़ा भारी अनर्थ है कि यह दिया हुआ चन्दा सभासद का लाभ बनाये रखने के शुभ नाम से घूस में आता है। इससे बचने के लिये प्रतिज्ञा-वचन का एक भाग ऐसा होना चाहिये कि मत स्थल पर जो खर्च हो अथवा उस स्थल के या वहां के किसी निवासी के सम्बन्ध में किसी कारण से जो कुछ खर्च हो (शायद उसके डेरा खर्च के सिवा) वह रकम चुनाव के हिसाब परीक्षक के हाथ से जाय और उसके हाथ से (न कि सभासद या उसके मित्रों के हाथ से) उन कहे हुए कामों में लगे।

चुनाव का कानून के रू से होनेवाला सब खर्च उमेदवार के सिर पर नहीं वरंच उस स्थान के सिर पर डालने के नियम का सब से अच्छे गवाहों में से दो ने समर्थन किया था। (पृ० २०,६९,-७०, २७७) ग्रन्थकार।

जैसी दुःखदायी वस्तु हो अगर। यह धनवान पुरुषों के सिवा दूसरे किसी के लिये पार्लामेण्ट का मार्ग बंद करती होगी तो उसका संरक्षक रूप है यह मानकर उसका समर्थन किया जायगा। हमारे दोनों पक्षों के कानून बनानेवालों के मन में यह वृत्ति जम कर बैठ गयी है और मैं विश्वास करता हूं कि प्रायः इस एक ही बात में उनकी सचमुच बुरी धारणा है। जब तक उनके मन में यह भरोसा रहता है कि उनके अपने वर्ग के बाहर का कोई पुरुष चुना नहीं जा सकता तब तक कौन मत देता है इसकी उन्हें एक तरह से थोड़ी ही परवा रहती है। वे जानते हैं कि वे अपने वर्ग के पुरुषों में परस्पर बंधुभाव का भरोसा रख सकते हैं और जो नये धनवान उनके वर्ग का दरवाजा खटखटाया करते हैं उनकी अधीनता इस से भी अधिक पक्का भरोसा है, और जब तक जन सत्ता के पक्षपाती पार्लामेंट में निर्वाचित होने से रोके जा सकेंगे तब तक सब से अधिक जनसत्ताक मत की तरफ से धनवानों के वर्गीय स्वार्थ या वृत्तियों को किसी भारी विरोध का डर रखने की जरूरत नहीं है। परन्तु खास उनके पक्ष की ओर से देखने पर भी दिन के साथ हित पाने के बदले दोष के सामने दोष रख कर सामंजस्य रखने की नीति अधम है। उद्देश्य तो ऐसा होना चाहिये कि बहुतों की वर्गीय वृत्तियों को मत समितियों में सम्पूर्ण सत्ता देकर, यह सत्ता कुछ के वर्गीय वृत्ति वाले पुरुषों के हाथ से काम में लाने का उनके ऊपर प्रतिबन्धन डालने के बदले दोनों वर्गों के सब से श्रेष्ठ मनुष्यों को ऐसे सम्बन्ध में इकट्ठा कर दें कि उनको उनका वर्गीय अभिलाष अलग कर के साधारण लाभ से अंकित यह मार्ग एक शामिल होकर चलायें।

राजकार्य एक कृपा समान देने योग्य वस्तु है और उसे

पानेवाला मानो अपने लिये पाना चाहता हो तथा मानो उस में उसकी सम्पत्ति बढ़ाने का उद्देश्य हो ऐसी पैसा खर्चने योग्य भी वस्तु है यह दृश्य दिखाने से राजनीतिक नियम जितना नैतिक हानिकारक हो जाता है और उसके जीवन सत्व मार्ग से जितना अनर्थ उपजाता है उसकी अपेक्षा और किसी रीति से शायद ही करता होगा। मनुष्य कोई भारी कर्त्तव्य पालने की परवानगी के लिये बड़ी रकम देने को तत्पर नहीं होता। प्लेटो ने जो यह निर्णय किया है कि जिन पुरुषों को राजनीतिक सत्ता से व्यक्तिगत चिढ़ हो उन्हीं को ढूंढ़ कर वह सत्ता सौंपनी चाहिये और सब से योग्य पुरुषों को राज्यतंत्र का भार अपने सिर पर लेने को ललचाने के लिये जिस एक उद्देश्य पर भरोसा रखा जा सकता है वह सिर्फ उनके ऊपर खराब मनुष्यों द्वारा राज्य चलाने का भय ही है यह निर्णय अच्छे राज्यतंत्र की शर्तों का बहुत उचित विचार प्रगट करता है। जिन तीन चार में से कोई गृहस्थ पहले नि स्वार्थ परोपकार के काम में खुले हाथ रुपया खर्चते न देखा गया हो वे अगर अपने नाम के साथ एम० पी० (*M P* पार्लीमेंट के मेम्बर) लिखवाने के लिये रुपया खर्चने में एक दूसरे से चढ़ाऊपरी करते देखे जायं तो मतधारी क्या सोचेगा? क्या उसका यह सोचना सम्भव है कि वे जो कुछ खर्च करते हैं वह उसके लाभ के लिये? और वह जब इस काम में उनके भाग के विषय में ऐसी प्रतिकूल राय कायम करता है तो क्या उसे अपने भाग के विषय में सात्विक बन्धन लगाना सम्भव है? मत समिति कभी शुद्ध होगी इस बात को राजनीतिक पुरुष जोशदारों का स्वप्न समझने के शौकीन हैं; और वास्तव में जब तक वे स्वयं शुद्ध होने को राजी नहीं हैं तब तक वह भी बदलने को नहीं;

क्योंकि मतधारी का नैतिक बल उमेदवारों के नैतिक बल पर ही निर्भर करता है। जब तक निर्वाचित सभासद अपने आसन के लिये किसी ढंग से रुपया खर्च करेगा तब तक चुनाव के काम को सब तरफ से स्वार्थी सौदे की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार की वस्तु बनाने का सारा प्रयत्न व्यर्थ जायगा। "जब तक उमेदवार स्वयं और दुनिया का रिवाज ऐसा मानता दिखाई देगा कि पार्लामेण्ट के सभासद का काम, पालने योग्य कर्त्तव्य के बदले दीनता के साथ मांग लेने योग्य कृपा है तब तक पार्लामेण्ट के सभासद का चुनाव भी एक कर्त्तव्य है और मतधारी व्यक्तिगत योग्यता के सिवा दूसरे किसी विषय के विचार से मत देने को स्वतंत्र नहीं है, ऐसी वृत्ति साधारण मतधारी के मन में जमा देने का कोई प्रयत्न सफल नहीं होगा।"

जो मूलतत्त्व ऐसा लगता है कि निर्वाचित पुरुष से चुनाव की बाबत कोई खर्च मांगना या स्वीकार करना नहीं चाहिये उसी से एक दूसरा अनुमान निकलता है और यह अनुमान यद्यपि देखने में उलटे रूप का है तथापि वास्तव में उसी उद्देश्य की ओर ढला हुआ है। सब श्रेणियों और अवस्थाओं के पुरुषों के लिये पार्लामेण्ट का मार्ग सुगम करने के उपाय के तौर पर पार्लामेण्ट के सभासदों को वेतन देने का जो कई बार प्रस्ताव हुआ है उसे यह अनुमान रद करता है। जैसा कि हमारे कुछ टापुओं में है, जब ऐसे पुरुष मुश्किल से मिल सकते हों जो बिना वेतन के धंधे पर ध्यान दे सकें तब निश्चित वेतन नहीं वरंच समय या धन के खर्च का बदला दिया जाना चाहिये। बंधी हुई तलब से पसन्द के विस्तार में वृद्धि होने का लाभ एक भ्रम है। पार्लामेण्ट की मेम्बरी के लिये कोई मनुष्य चाहे जितनी तलब सोचे, परन्तु उसकी

श्रोर उन लोगों का ध्यान नहीं खिंचेगा जो दूसरे लाभदायक रोजगार में सच्चे दिल से लगे होंगे श्रौर उसमें सफलता पाने की आशा रखते होंगे। इससे पार्लीमेण्ट के सभासद का काम एक तरह का अलग रोजगार हो जायगा श्रौर यह रोजगार करने में दूसरे रोजगारों की तरह मुख्य करके उसके धन सम्बन्धी लाभ पर विचार रहेगा श्रौर उसके साथ तत्वतः अनिश्चित रोज़गार का हानिकारक असर भी जारी रहेगा छोटे दरजे के साहसी पुरुषों के लिये यह एक लुभाने वाली वस्तु हो जायगी; श्रौर ६५८ पाने वाले श्रौर इससे दस बीस गुना आशावान पुरुष सब कामों के लिये ईमानदारी या बेईमानी से सम्भव या असम्भव वचन देकर श्रौर जन समूह में सब से ओछे दरजे की सब से नीच वृत्तियों श्रौर सब से अज्ञान वहमों का कुटनापन करने में एक दूसरे से चढ़ाऊपरी करके *मतधारियों का मत अपनी ओर खींचने* या बनाये रखने के लिये लगातार कोशिश करते जायँगे। जो सिलसिला जारी होगा उसका असली चित्र एरीस्टोफ * के क्लियोन श्रौर भठियारे के बीच नीलाम की डाक है। यह नियम मनुष्य प्रकृति के सब से दूषित तत्वों पर हमेशा के लिये फफोला डालने के समान होगा। इसका अर्थ है अपने देशवासियों में सब से बढ़ कर खुशामदी, सब से बढ़ कर फुसलाने वाले मनुष्यों के लिये ६५८ इनाम जारी करना। दुष्ट दरबारी चाल को खूब चमकाने के लिये किसी स्वेच्छा-

* ईस्वी सन् से पहले पांचवीं सदी का ग्रीस का एक प्रहसन-लेखक। इसके नाटक स्पष्ट नामों के साथ हू बहू लिखे हैं और उन में से एक में क्लियोन का लक्षण प्रत्यक्ष चित्रित किया गया है। दूसरे में सोक्रेटिस की बड़ी गहरी हंसी उड़ायी है।

सारी राज्य में भी ऐसी व्यवस्थित शिक्षा की पद्धति न थी। † जब स्थावर सम्पत्ति या किसी दूसरे रोजगार धंधे की आमदनी वाले स्वतंत्र साधन से रहित किसी पुरुष को उसके परम उत्कृष्ट गुणों के कारण, जो सेवा उसकी तरह अच्छी रीति से करने वाले दूसरे पुरुष न मिलते हों वह सेवा कराने के लिये पार्लमेण्ट में लाना अभीष्ट हो (और ऐसा प्रसंग चाहे जिस समय आ सकता है) तो साधारण चन्दे का उपाय सच्चा है। जब तक वह पार्लमेण्ट में रहे तब तक उसके चुनने वाले एंड्रूमार्वेल की तरह चन्दे से उसका पोषण करें। यह रीति बेहतर की है। यह प्रतिष्ठा कभी केवल खुशामदी को नहीं मिलेगी; क्योंकि एक या दूसरे खुशामदी के बीच में मौजूद भेद की जन समाएं इतनी अधिक परवा नहीं करतीं

---

† जैसा कि मि० लोरिमर टिप्पणी करते है, जब ग़रीब दरजे के मनुष्यों को अपने नई राजकार्य में अर्पण करने के लिये लालच उत्पन्न करने से जनता में नियमित धंधा आरम्भ होगा, राज्यतंत्र को उसकी स्वाभाविक क्रिया के मार्ग में टकराने से केवल दुरों की टोली का निकृष्ट स्वार्थ पुष्ट देने से बढ़ कर और कुछ निन्दनीय नहीं है। केवल अपने ही दोषों को प्रेरणा के वशीभूत हुए जन समूह या पृथक जन में जो चिन्ह प्रगट होते हैं वे जो दोष हजारों खुशामदियों के चाल चलने से जो स्वरूप धारण करेंगे उनका आभास कुछ करते हैं। अज्ञान जन के इतना ही अच्छा है और ज्ञान से भी अच्छा है यह जन समूह को समझाने से चाहे जैसे साधारण को भी निश्चय लक्ष्य की ६५८ जगहें मिलने वाली हों तो वे सब इस उपदेश को मानेंगे। और उस पर चलेंगे।" (१८५९ के अप्रैल के फ्रेज़र्स मेगेज़ीन में सुधार के विषय में ताज़ा लेखक शीर्षक लेख) ग्रंथकार।

कि वे किसी खास पुरुष से खुशामद कराने के लिये उसके पोषण का खर्च दें। यह सहारा केवल लाक्षणिक और आकर्षक व्यक्तिगत गुणों के विचार से दिया जायगा और यद्यपि ये गुण राष्ट्रीय प्रतिनिधि होने की योग्यता के सम्पूर्ण प्रमाण नहीं हैं तो भी उसके कुछ द्योतक हैं और अधिक नहीं तो स्वतंत्र अभिप्राय और संकल्प होने की कुछ जमानत हैं।

ग्यारहवां अध्याय।

पार्लीमेण्ट की मुद्दत के विषय में।

पार्लीमेण्ट के सभासदों का, कितनी मुद्दत के बाद फिर से, चुनाव लाजिमी होना चाहिये? इसमें सन्निविष्ट मूलतत्त्व स्पष्ट है; कठिनाई उस के प्रयोग में है मेम्बर की मेम्बरी की मुद्दत एक ओर इतनी लम्बी न होनी चाहिये कि वह अपनी जिम्मेवारी भूल जाय, अपने कर्त्तव्य को बहुत परवा न रखे उसे पालने में अपने निज के लाभ पर दृष्टि रखे और अपने निर्वाचकों से एक मत हो या न हो, उनसे जी खोल कर मिलने और सभाएँ करने में, जो प्रतिनिधि राज्य का एक लाभ गिना जाता है, लापरवा हो। दूसरी ओर उसको अपने ओहदे की इतनी लम्ब मुद्दत की आशा रहनी चाहिये कि उसकी परीक्षा उसके केवल एक कृत्य से नहीं वरंच कृत्यों से हो सके। जरूरी बात यह है कि उस को अपनी राय और विचार की बाबत इसी कदर स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वह स्वतंत्र राज्यतंत्र सम्बन्धी लोकप्रिय अंकुश के प्रतिकूल न हो जाय। और इस कारण से इतना आवश्यक है कि उसमें जो जो गुण हों उन सब को दिखाने का और अपने निर्वाचकों की दृष्टि में एक इष्ट और मान्य प्रतिनिधि हो सकने के लिये

उन्हीं की राय का केवल एक तावेदार कथक और पैरोकार बने रहने की अपेक्षा एक दूसरा अधिक अच्छा मार्ग है, यह साबित कर देने का उसे काफी वक्त देने के बाद ही निर्वाचकों की अंकुश सत्ता का अमल होना चाहिये और हर हालत में इसके मुताबिक अमल होना सब से अच्छा है।

इन दो तत्वों के बीच की सीमा किसी सार्वत्रिक नियम से निश्चित करना असम्भव है। जहां राज्यतंत्र में लोक सत्ता निर्बल और बेहद उदासीन होती है और उत्तेजन की अपेक्षा रखती है; जहां प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों को छोड़ते समय, जिस दरबारी या शिष्ट वातावरण में एक दम प्रवेश करता है उसके संसर्ग का सारा असर ऐसा होता है कि उसकी गति जनमार्ग से भिन्न मार्ग को भुकती है, वह अपने साथ जो कुछ लोक वृत्ति लाया रहता है वह मंद पड़ जाती है और वह अपने निर्वाचकों की इच्छाएँ भूल जाता है तथा उनके लाभ की ओर से ढीला पड़ जाता है; वहां उसकी प्रकृति और प्रतिष्ठा असली स्वरूप में बनाये रखने के लिये उसको उनके पास, अपना निर्वाचन ताजा कराने के निमित्त, फिर से आने को लाचार करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में तीन वर्ष भी करीब करीब बेहद लम्बी मुद्दत है; और इस से लम्बी मुद्दत तो बिलकुल स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसके विरुद्ध जहां जनसत्ता का प्रभाव विशेष होता है और उस से भी अधिक हो जाने का रुख रखता है और उस को अधिक उत्तेजन देने के बदले प्रयोग में सीमा बद्ध करने की आवश्यकता होती है; जहां निरंकुश प्रकाशन और विद्यमान समाचार पत्र प्रतिनिधि को विश्वास दिलाया करते हैं कि उसकी हर एक कारवाई उसके निर्वाचकों की जानकारी में तुरंत आ जाती है, वे लोग उस पर चर्चा और विचार

करते हैं और उनकी गणना में वह हमेशा घटता बढ़ता है—और उन्हीं साधनों द्वारा उनके विचारों का असर और दूसरा सब जनसत्ताक असर उसके मन में निरंतर जागृत और सचेतन रहता है—वहाँ कायर दीनता रोकने के लिये पांच वर्ष से कम की मुद्दत शायद ही काफी होगी। अंगरेज़ी राज्यनीति में इन सब विषयों के सम्बन्ध में जो फेर बदल हो गया है उससे समझ में आता है कि चालीस वर्ष पहिले बहुत आगे बढ़े हुए सुधारकों के लक्ष्य के सामने जो वार्षिक पार्लीमेंएट नाचती रहती थी उसकी अब इतनी कम परवा क्यों की जाती है और क्यों कम ही सुनी जाती है। मुद्दत लम्बी हो चाहे थोड़ी इतनी बात ध्यान में रखने योग्य है कि मुद्दत के अन्तिम वर्ष में पार्लीमेंएट की स्थिति वार्षिक पार्लीमेंएट की सी होती है; इससे अगर मुद्दत बहुत थोड़ी हो तो समूचे समय के बड़े भाग के अरसे में यह दर असल वार्षिक पार्लीमेंएट हो जाय। हाल की स्थिति में यद्यपि सात वर्ष का समय अकारण लम्बा है तथापि किसी संभवित लाभ के लिये बदलना कम ही लाभदायक है; और खास कर तब जब कि बहुत जल्द पार्लीमेंएट भंग होने की सम्भावना हमेशा सिर पर झूमते रहने से सभासद की नज़र के सामने मतधारियों से अच्छा सम्बन्ध रखने का उद्देश्य नाचता रहता है।

निर्वाचन की मुद्दत के लिये चाहे जितना समय सब से अधिक योग्य समझा जाय यह बात स्वाभाविक जंचेगी कि कोई मेम्बर अपने चुनाव के दिन से यह मुद्दत पूरी होते ही अपना आसन छोड़ दे और सारी सभा का कोई साधारण नया चुनाव न हो। इस नियम का अनुमोदन करने में कुछ व्यावहारिक उद्देश्य हो तो इसके पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है।

परन्तु इसके समर्थन के कारणों की अपेक्षा इसको अग्राह्य ठहराने के कारण कहीं अधिक सबल हैं। एक तो यह कि जो बहुमत राष्ट्र के अरुचिकर मार्ग को पकड़े उसको तत्काल दूर करने का कोई उपाय नहीं रहेगा। अगर सभा के बड़े भाग की मुद्दत के कुछ वर्ष हमेशा बाकी रहें—जिन नये मेम्बरों का, जिस समुदाय में वे मिलें उसका गुण बदलने के बदले स्वयं उसे ग्रहण करना अधिक सम्भव है वे अगर धीरे धीरे आते रहें—तो सभा और मत समिति की वृत्तियों के बीच में जो भारी विरोध अनिश्चित काल तक बना रहना सम्भव जान पड़ता है उसके रोकने का साधन यही है कि खास मुद्दत के बाद और बहुधा प्रायः सारी नियत मुद्दत पूरी होने के बाद, साधारण चुनाव आवश्यक हो और फिर जब मन्त्री अपने लाभ के लिये अथवा देश में स्वयं लोकप्रिय होने की आशा से चाहे जब साधारण चुनाव कराना चाहे तब वह करा सके। नामाङ्कित पुरुषों को अपनी मेम्बरी का हक खोये बिना जनमत विरुद्ध विचार स्वतन्त्रता से प्रगट करने को शक्तिमान करने की जितनी जरूरत है उतनी ही जरूरत सभा का साधारण विचार राष्ट्रमत को मिलते रहने की भी है। प्रतिनिधि सभा का धीरे धीरे और टुकड़े टुकड़े चुनाव करने के विरुद्ध एक दूसरा बहुत वजनदार कारण है। सामाजिक मत की पड़ताल करने के लिये और भिन्न भिन्न पक्षों और अभिप्रायों का परस्पर बल निर्विवाद रूप से निश्चय करने के लिये प्रतिद्वन्द्वी सैन्यों की समय समय पर साधारण तुलना करना उपयोगी है। किसी फुटकर चुनाव से और कुछ फ्रांसीसी तंत्रों की तरह जहां एक दम एक तिहाई या पांचवां भाग जैसा बड़ा भाग निकल जाता है वहां यह काम निर्णय पूर्वक नहीं होता।

शासन-समिति को विसर्जन की सत्ता देने के कारणों के विषय में प्रतिनिधि राज्य में उसके गठन और कर्त्तव्य सम्बन्धी आलोचना आगे के अध्याय में करेंगे।

बारहवाँ अध्याय।

पार्लीमेण्ट के सभासदों से प्रतिज्ञा करानी चाहिये या नहीं?

क्या कानून बनानेवाली सभा के सभासद को अपने निर्वाचकों की आज्ञा का बंधन होना चाहिये? उसको उनके विचार का प्रकाशक होना चाहिये या अपने विचार का? उसको उनकी तरफ से राज्य सभा में एलची होना चाहिये या उनकी तरफ से सिर्फ काम करने का नहीं बरंच क्या करना उचित है इसका भी निर्णय करने का अधिकार रखने वाला उनका व्यवहार कुशल मुख्तार होना चाहिये? प्रतिनिधि राज्य में कानून बनाने वाले के कर्त्तव्य के विषय में इन दो पक्षों में से प्रत्येक के पक्षपाती हैं और प्रत्येक मत को कितने ही प्रतिनिधि राज्यों ने स्वीकार किया है। डच संयुक्त प्रान्तों में साधारण राज्यसभा के सभासद केवल एलची थे; और उनमें यह मत इतनी सीमा तक पहुंचा था कि जब उनकी सूचनाओं में न आया हुआ कोई जरूरी नया प्रश्न उठता तब, जैसे एक एलची को जिस राज्यों की ओर से उसकी नियुक्ति हुई रहती है उसकी सलाह लेनी पड़ती है, वैसे ही उनको अपने निर्वाचकों की सलाह लेनी पड़ती थी। इस देश में और दूसरे बहुतेरे देशों में जहां प्रतिनिधि राज्य-तंत्र है वहां पार्लीमेंट के सभासद का अभिप्राय अपने

निर्वाचकों के अभिप्राय से भिन्न हो तो भी उसे अपने सच्चे अभिप्राय के अनुसार मत देने की, कानून और रिवाज से परवानगी है; परन्तु इससे जो एक उलटे ढंग का विचार भी जारी है उसकी बहुतों के मन पर और पार्लीमेण्ट के सभासदों के मन पर भी, व्यवहार में बड़ी छाप पड़ी रहती है और इस कारण से अगर हम उनकी लोकप्रियता की उत्कंठा और फिर से चुने जाने की आशा का विचार अलग रख दें तो भी जिन प्रश्नों के सम्बन्ध में उसके निर्वाचक कुछ दृढ़ निर्णय पर आये रहते हैं उनके विषय में वे अपनी राय के बदले निर्वाचकों की राय पर चलने को सच्चे दिल से अपने को बाध्य समझते हैं। प्रत्यक्ष नियम और किसी खास जनता के ऐतिहासिक रिवाजका सम्बन्ध न देखने पर प्रतिनिधि के कर्त्तव्य के विषय में इन दो विचारों में से वास्तवमें कौन सत्य है?

हमने अब तक जिन प्रश्नों पर विचार किया है उनकी तरह यह प्रश्न नियम व्यवस्था सम्बन्धी नहीं है; परन्तु जिसको अधिक उपयुक्त रीति से राज्यतंत्र की सात्विक नीति कह सकते हैं उसके सम्बन्ध में अर्थात् प्रतिनिधि राज्य के नीति शास्त्र के सम्बन्ध में है। मतधारियों को अपना कर्त्तव्य पालने में जो मानसिक वृत्ति रखनी चाहिये, उनके सात्विक कर्त्तव्य के विषय में जो मनोभाव प्रबल होना चाहिये उसके साथ इसका जितना सम्बन्ध है उतना नियमतंत्र से नहीं है; क्योंकि प्रतिनिधि तत्व की पद्धति चाहे जैसी हो अगर मतधारी चाहें तो उसको केवल पलची सभा बना डालेंगे। जब तक उन (मतधारियों) को मत न देने की स्वतंत्रता है और फिर चाहे जिस ढंग से मत देने की स्वतंत्रता है तब तक उनको अपने मत के साथ कुछ शर्त, (जिसे वे उचित समझें) लगाने से रोक नहीं सकते। उनकी सब राय मंजूर करने को अथवा उनकी ऐसी

मरजी हो कि किसी अनसोचे आवश्यक विषय पर मत देने के पहले उनकी सलाह ली जाय तो ऐसा करने को जो उमेदवार पाबन्द न हो उसे चुनने से इनकार करने से वे लोग अपने प्रतिनिधि को अपने हाथ का खिलौना सा ही बना सकते हैं और यह जब ऐसी स्थिति में अधिक बार काम करने से नाराजी दिखावे तब उससे इज्जत के लिये अपने आसन से इस्तीफा दिलवा सकते हैं। जब उनको ऐसा करने की सत्ता है तब राज्यतंत्र सम्बन्धी सिद्धान्त में यह कल्पना करनी चाहिये कि वे ऐसा करना चाहेंगे; क्योंकि राज्यतंत्र का मूल आधार तत्व ही यह कल्पना कराता है कि राजनीतिक सत्ता का भोक्ता अपने खास उद्देश्य साधन में उस सत्ता का दुरुपयोग करेगा; और उसका कारण यह नहीं है कि हमेशा होता है वरंच वस्तु मात्र का ऐसा स्वभाविक रूप होता है और उससे रक्षा करने में स्वतंत्र नियम तंत्र का खास प्रयोजन है; इससे मतधारियों का अपने प्रतिनिधि को अपना एलची बना डालना चाहे जैसा बुरा या मूर्खतायुक्त समझें तो भी मतधारियों के हक का इतना विस्तार होना स्वाभाविक होने और असंभव न होने से उसको निश्चित मान कर सावधानी का उपाय करना चाहिये। हम यह आशा रख सकते हैं कि मतधारी मत का उपयोग करने में ऐसे विचार के अनुसार नहीं चलेंगे, तथापि प्रतिनिधि राज्य का ऐसा संगठन होना चाहिये कि वे चलें तो भी जो वस्तु किसी मनुष्य सभा की सत्ता में न होनी चाहिये उसे करने को अर्थात् अपने निज के लाभ के लिये वर्गीय क़ानून बनाने को वे समर्थ न हों।

जब यह कहा जाता है कि यह प्रश्न केवल राजनीतिक आचार का है तो इससे उसकी आवश्यकता कुछ घट नहीं जाती। राज्यतंत्र का आचार सम्बन्धी प्रश्न राज्यतंत्र के निज के प्रश्नों

से व्यवहार में कम आवश्यक नहीं है। राजनीतिक आचार के सिद्धान्तों पर अर्थात् संगठित सत्ताधिकारियों के मन में मौजूद जो रूढ़ विचार उनकी सत्ता के भिन्न रीति से होने वाले अमल को अंकुश में रखता है उसके ऊपर कितने राज्यतंत्रों के बिलकुल अस्तित्व का और दूसरों की स्थायिता बनाये रखने वाले सब तत्वों का आधार है। सामञ्जस्य रहित राजतंत्रों में—शुद्ध राजसत्ता में, शुद्ध शिष्टसत्ता में या शुद्ध जनसत्ता में—राज्यतंत्र को उसके लाक्षणिक रूप की दिशा में सीमा पार करके जाने से जो रोकता है वह सिर्फ ऐसे नियमों का ही अंकुश है। अपूर्ण सामञ्जस्य वाले राज्यतंत्रों में, जहाँ प्रबल सत्ता के जोश को कानून की मर्यादा में रखने का कुछ प्रयत्न हुआ रहता है, परन्तु जहां उस सत्ता का इतना बड़ा प्रभाव होता है कि वह कुछ समय बिना जोखिम के सीमा पार कर सकता है वहां राज्यतंत्र के अंकुश और सीमा की तरफ कुछ भी मानवृत्ति बनी रहती है तो वह सिर्फ जनमत के स्वीकार और समर्थन किये हुए राजनीतिक आचार के सिद्धान्तों के लिये ही। अच्छे सामञ्जस्य वाले राज्यतंत्रों में, जहाँ सर्वोपरि सत्ता बंटी हुई होती है और जहां हर एक हिस्सेदार को दूसरों के हमले से बचने के लिये जो एक मात्र उपाय सम्भव है वह अर्थात् दूसरे हमला करने में जितना जबरदस्त हथियार चला सकें उतना ही जबरदस्त हथियार उसे अपने बचाव के लिये देने का उपाय बना रहता है, वहां सब पक्षों की तरफ से इन अन्तिम सत्ताओं के दूसरे किसी हिस्सेदार के इतना ही भीतर से उसकाये बिना, अमल में लाने में चुप रहने से राज्य प्रबन्ध चलाया जा सकता है। और इस प्रसङ्ग में हमारा यह कहना गलत नहीं है कि राजनीतिक आचार के नियमों

को ही मान देने से राज्यतंत्र का अस्तित्व रहता है। प्रतिज्ञा का प्रश्न प्रतिनिधि राज्य के अस्तित्व से आवश्यक सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों में नहीं है; तो भी उसके लाभदायक प्रबन्ध के लिये बड़ा जरूरी है, मतधारी अपनी पसन्द में किस नियम पर चलें यह उनके लिये कानून तय नहीं कर सकता परन्तु किस नियम पर चलना वे उचित समझते हैं इससे व्यवहार में बड़ा भेद पड़ जाता है और यह पूरा महान प्रश्न इसी जांच में समाप्त हो जाता है कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों के निर्धारित किये हुए खास अभिप्राय से जुड़े रहने की शर्त करे कि नहीं।

इस निबन्ध में जिन सामान्य मूल तत्वों को स्वीकार किया है उनसे इस विषय में क्या अनुमान निकलता है इस बारे में उसके किसी पाठक को सन्देह नहीं रह सकता। हम ने आरम्भ से ही राज्यतंत्र के महान अंगीभूत तत्वों को स्वीकार किया है और अचल मन से ध्यान में रखा है। वे तत्व ये हैं—राजनीतिक सत्ता को जिनके लाभ में लगाना चाहिये और लगाने का दावा किया जाता है उनके सामने जवाबदेही और उसके साथ राज्यकार्य के लिये, इस विषय में लम्बे मनन और अनुभव वाली शिक्षा से मंजी हुई बुद्धि का लाभ यथा साध्य अधिक परिमाण में प्राप्त करना। यह दूसरा उद्देश्य अगर साधने योग्य हो तो वह यथोचित मूल्य का पात्र है। श्रेष्ठ मानसिक शक्ति और गहन अध्ययन अगर मनुष्य को कितनी ही बार अनपढ़ साधारण मानसिक शक्ति के लगाये हुए अनुमान से भिन्न अनुमान पर नहीं चलावे तो वह निरर्थक है; और अगर बुद्धि के विषय में साधारण मतधारी की अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ प्रतिनिधि पाने की कल्पना हो तो यह आशा रखनी चाहिये कि प्रतिनिधि कितनी ही बार

अपने निर्वाचकों के बड़े भाग से राय में भिन्न होगा और जब ऐसा होगा तब दोनों में से उसका अभिप्राय बहुधा ठीक होना सम्भव है। इसका नतीजा यह निकलता है कि मत-धारी अगर उसकी पदवी बनाये रखने की शर्त के तौर पर उसको अपने अभिप्राय के अनुसार पूर्ण रूप से चलने का आग्रह करें तो इसमें उनकी बुद्धिमानी नहीं होगी।

यह नियम यहाँ तक स्पष्ट है; परन्तु असली कठिनाइयां इसके प्रयोग में हैं। हम इन कठिनाइयों को पूरे जोर के साथ बताना शुरू करेंगे। यद्यपि मतधारियों को अपने से अधिक ऊँची शिक्षा पाया हुआ प्रतिनिधि पसंद करना आवश्यक है तथापि उस विशेष सयाने पुरुष को उनके सामने जवाबदेह रहने की कुछ कम आवश्यकता नहीं है। दूसरे शब्दों में कहिये तो वे इस बात के विचारक हैं कि उनके विश्वास को वह किस तरह पूरा करता है। वे अपने अभिप्राय के सिवा और किस विधि से परीक्षा करेंगे? पहली ही बार अगर उसको पसन्द करेंगे तो इस विधि से नहीं तो और किस विधि से? केवल तेजस्विता से—आडम्बरी बुद्धि की श्रेष्ठता से पसन्द करने में कुछ लाभ नहीं है। एक साधारण मनुष्य को, पहले प्रसङ्ग में केवल बुद्धि की परीक्षा कर सकने के साधन बहुत अपूर्ण हैं, जो हैं उनका प्रायः केवल विवेचन की कलाओं से सम्बन्ध है। परन्तु विवेचित वस्तु की सारासारता से कम ही सम्बन्ध है या बिलकुल नहीं है। पहले विषय से दूसरे का अनुमान नहीं हो सकता; अगर मतधारी अपने ही अभिप्राय का उपयोग न करें तो उनके हाथ में, अच्छी तरह राज्य चलाने की शक्ति देखने की क्या कसौटी रहती है? फिर वे अगर बिना कुछ भूल किये भी निश्चय कर सकें कि सब से समर्थ पुरुष कौन है तो भी क्या वे अपनी राय

का कुछ भी ख्याल किये बिना ही उसको अपनी तरफ से निर्णय करने की पूरी स्वतंत्रता दे दें? सम्भव है कि सब से समर्थ उमेदवार संरक्षक (कंसरवेटिव) हो और वे मतधारी स्वयं सुधारक (लिबरल) हों अथवा वह सुधारक हो और वे स्वयं संरक्षक हों; वर्तमान राजनीतिक प्रश्न धर्म सम्बन्धी हो और वह (प्रतिनिधि) अधिकार वादी (यह मानने वाला कि धर्म के ऊपर राजा की सर्वोपरि सत्ता है) या हेतुवादी (यह माननेवाला कि विवेक को जो सत्य लगे वह धर्म है) हो और वे (मतधारी) स्वयं विसंवादी (इंगलैण्ड के राज्यधर्म से अलग हुए पंथ के) या नवीन स्थापनावादी (बाइबल को याहूवाला विभाग नहीं वरंच ईशू खृष्ट का विभाग ही मानने वाले) हों अथवा इसका उलटा हो। इन प्रसङ्गों में प्रतिनिधि की बुद्धि—जिसको मतधारी अपने अन्तःकरण में गलत रास्ता मानते होंगे उसके सम्बन्ध में उसको सिर्फ अधिक हद पार जाने और अधिक सफलता से वर्ताव करने को समर्थ कर सकती है। और वे शायद अपने मत के शुद्ध संकल्प के आधार पर यह विचारने को वाध्य हो सकते हैं कि उन्हें साधारण से अधिक बुद्धिवाले पुरुष को अपना प्रतिनिधि बनाने की अपेक्षा अपने प्रतिनिधि को, उन विषयों में जिसको वे फर्ज का फरमान मानते हैं, उसकी हद में रखने की ज्यादा जरूरत है। फिर वह सब से समर्थ प्रतिनिधि किस रीति से मिल सकता है, इतना ही नहीं वरंच उनकी खास सात्विक स्थिति और मानसिक विचार पद्धति भी किस रीति से दरसायी जा सकती है इसका भी शायद विचार करना हो। जन समूह में चलनेवाली प्रत्येक विचार पद्धति का असर कानून बनानेवाली सभा में जताना चाहिये और यह कल्पना की गयी है कि राज्यतंत्र ने दूसरी विचार-

पद्धतियों के लिये प्रतिनिधि का योग्य प्रबन्ध किया होगा इस से उन्हें भी अपनी पद्धति के लिये योग्य प्रतिनिधि प्राप्त करना खास मौके पर मतधारियों के हृदय में रखने योग्य सब से आवश्यक विषय हो सकता है। फिर कितने ही प्रसङ्गों में प्रतिनिधि उनके लाभ का या जिसको वे सामाजिक लाभ गिनते हों उसका सच्चा समर्थक रहे इसके लिये उससे शर्त करा लेने की भी जरूरत जान पड़ती है। जिस राजनीतिक पद्धति में उन्हें बहुत से ईमानदार और निष्पक्ष उमेदवारों में चुनाव करने का भरोसा हो उस में ऐसे बंधन की जरूरत नहीं है; परन्तु विद्यमान पद्धति में, जहां चुनाव के खर्च और जनता की साधारण स्थिति के कारण मतधारियों को अपने से भिन्न सामाजिक स्थिति के और भिन्न धर्मवाले पुरुषों में से अपना प्रतिनिधि पसन्द करने को प्रायः सदा बाध्य होना पड़ता है वहां कौन कह सकेगा कि उन्हें सब कुछ उसी के न्याय पर छोड़ देना चाहिये? बहुत गरीब वर्ग के मतधारियों को सिर्फ दो या तीन धनवान मनुष्यों में से ही पसन्द करना होता है इस से वे जिन कामों को धनवानों के वर्ग-लाभ से छुटकारे का साधन समझते हों उनका समर्थन करने के लिये, अगर जिस को मत दें उस से वचन मांगें तो क्या हम उनको दोष दे सकते हैं? फिर हमेशा ऐसा होता है कि मत समिति के कुछ मनुष्यों को अपने पक्ष के बहुमत से पसंद किये हुए प्रतिनिधि को स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु उनके अपने पसन्द के उमेदवार के सफल मनोरथ होने की सम्भावना नहीं रहती तथापि उनके लिये पसंद किये हुए उमेदवार की सफलता के निमित्त उनके मत की जरूरत पड़ सकती है और उनके भविष्य के बर्ताव पर अपने हिस्से की सत्ता चलाने का उपाय तो इतना ही है कि वह कुछ खास शर्तें

मानने का वचन दे तो उसी के आधार पर उसको अपने मत का सहारा दे।

ये विचार और इनके प्रतिद्वन्दी विचार एक दूसरे से इस तरह उलझे हुए हैं। यह आवश्यक है कि मतधारी अपने से अधिक बुद्धिमान पुरुषों को प्रतिनिधि चुनें और उनकी श्रेष्ठ बुद्धिमानी के अनुसार राज्य चलने दें फिर इसके साथ किसमें अधिक बुद्धिमानी है और उस सोचे हुए बुद्धिमान पुरुष ने अपने वर्ताव से वह कल्पना कहां तक पूरी की है इसका निर्णय करने में मतधारियों का जो कुछ निज का अभिप्राय होगा उसके साथ उमेदवार के अभिप्राय की एकरूपता का कुछ बहुत असर न होना ऐसा असम्भव है कि उससे मतधारी के कर्त्तव्य के विषय में कुछ प्रत्यक्ष नियम बनाना बिलकुल असाध्य जान पड़ता है, और मानसिक श्रेष्ठता के प्रति सम्मान-वृत्ति के आवश्यक गुण के सम्बन्ध में उस परिणाम का जितना आधार मतधारी समिति के मन की साधारण वृत्ति पर रहेगा उतना राजनीतिक आचार के किसी खास नियम या प्रत्यक्ष सिद्धान्त पर नहीं रहेगा। जिन पुरुषों और जनता को श्रेष्ठ बुद्धिमानी की बारीक बूझ होती है उनके लिये तो यह जहां विद्यमान होगी वहां से अपने ही जैसे विचार के चिन्ह से नहीं वरंच दूसरे चिन्ह से भारी मतभेद होते हुए भी परख निकालना सम्भव है; और अगर उन्हों ने उसकी परीक्षा की होगी तो वे किसी उचित मूल्य पर उसे प्राप्त करने को यहां तक तत्पर होंगे कि जिसको अपने से अधिक चतुर समझ कर मान देते होंगे उस पुरुष पर अपनी राय के मुताबिक, चलने का बंधन लगाने की रुचि नहीं रखेंगे। इसके विरुद्ध एक ऐसी प्रकृति का मन होता है जो किसी की तरफ मान-वृत्ति नहीं रखता और दूसरे किसी पुरुष के अभिप्राय को

अपने अभिप्राय से बहुत अच्छा अथवा अपने जैसे सौ या हजार मनुष्यों के अभिप्राय के अनुसार भी अच्छा नहीं समझना। मतधारियों के मन का जहां ऐसा रुख होता है वहां जो उनके विचारों की ही प्रतिमा नहीं है अथवा प्रतिमा होने का ढंग भी नहीं दिखाता उस किस्म के किसी पुरुष को वे पसन्द नहीं करेंगे और जब तक वह उन्हीं के विचार दरसाया करेगा तब तक उसे रखेंगे, नहीं तो रखेंगे भी नहीं। और जैसा कि प्लेटो अपनी पुस्तक गोर्जियस में कहता है, राजनीतिक प्रतिष्ठा के सभी अभिलाषी अपना बर्ताव जन समूह के नमूने पर चलाने और यथा साध्य उसके ऐसा बने रहने का ही प्रयत्न करेंगे। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सम्पूर्ण जन-सत्ताक राज्य में मतधारियों के विचार इस पद्धति पर चलने का रुख रखते हैं। जन-सत्ताक राज्य मानवृत्ति के अनुकूल नहीं है। केवल सामाजिक पदवी की तरफ की मानवृत्ति का जो यह नाश करता है उसको उसका अच्छा असर समझना न कि बुरा। परन्तु ऐसा करके वह संसार में जो (केवल मनुष्य सम्बन्धी विषयों में) मानवृत्ति की मुख्य शाला विद्यमान है उसको बन्द करता है। फिर जन-सत्ताक राज्य के मूलतत्त्व में ही, जिन विषयों में एक पुरुष दूसरे से अधिक वजनदार गिना जाता है उनकी अपेक्षा, जिस में सभी समान वजनदार गिने जाते हैं उसका इतना बड़ा आग्रह घुसा हुआ है कि व्यक्तिगत श्रेष्टता के प्रति मानवृत्ति भी घट जाना सम्भव रहता है। देश के नियम कम शिक्षित की राय की अपेक्षा अधिक शिक्षित वर्ग की राय को अधिक वजनदार ठहरावें इस पर जो मैं इतना अधिक जोर देता हूं उसके दूसरे कारणों में एक यह भी है। और किसी प्रत्यक्ष राजनीतिक परिणाम को ध्यान में न लेने पर भी

अगर केवल सामाजिक वृत्ति की शुद्धि करने के लिये ही हो तो भी मैं ज्ञान श्रेष्ठता को अनेक मत देने का पक्ष करूंगा।

जब मत समिति में भिन्न भिन्न पुरुषों के बीच के असाधारण गुणभेद की काफी समझ रहती है तब जिन पुरुषों में उसके उद्देश्य सम्बन्धी सब से अधिक योग्यता होगी उनको परखने के चिन्ह की कचाई नहीं पड़ती। स्वयं राज्यकार्य किये हुए होना स्वभावतः एक सब से बढ़ कर चिन्ह है। जैसे—ऊंचे ओहदे पर काम किये रहना और उसमें भी ऐसे जरूरी काम जिनके परिणाम में बुद्धिमानी प्रत्यक्ष दीख पड़ी हो; ऐसे उपायों का करने वाला होना जो अपने परिणाम से बुद्धिमत्ता पूर्ण जान पड़ते हों; ऐसे भविष्य कहे हुए होना जो परिणाम में अधिक बार सत्य ठहरे हों और शायद ही कभी असत्य हुए हों; ऐसी सलाह दिये रहना जिसको मानने से अच्छा और न मानने से बुरा परिणाम निकला हो। बुद्धिमानी के ये चिन्ह बेशक बहुत अंश में संशय भरे हैं परन्तु हम ऐसे चिन्ह ढूंढ़ते हैं जिनका उपयोग साधारण समझवाले मनुष्य कर सकें। उनमें से किसी एक चिन्ह को बाकी का सहारा न हो तो उसी एक पर भरोसा न रखना और किसी व्यवहारी प्रयत्न की सफलता या योग्यता की गणना करते समय प्रस्तुत विषय पर प्रवीण और निःस्वार्थ पुरुष के साधारण अभिप्राय पर अधिक जोर देना बहुत अच्छा है। मैंने जिन परीक्षाओं के विषय में कहा है वे सिर्फ कार्य किये हुए मनुष्यों के लिये हैं; परन्तु जो लोग कार्य में परीक्षित नहीं हुए हैं वरंच सिद्धान्त में हुए हैं अर्थात् जिन्होंने सार्वजनिक भाषण या लेख में राज्य कार्य की आलोचना करके सिद्ध किया है कि उन्होंने उसका खूब मनन किया है उनको भी उसमें गिनना चाहिये। ऐसे पुरुष अपने शुद्ध राजनीतिक

तत्वज्ञानी की पदवी में, शायद अनुभवी राजनीतिक पुरुषों की पदवी में भी कार्य किये हुए पुरुषों के समान विश्वास पात्र जंच सकते हैं। जब बिलकुल नया मनुष्य पसन्द करने की जरूरत हो, तब जो लोग उसको स्वयं जानते हों, उनमें उसकी बुद्धिमानी के विषय में बनी हुई प्रतिष्ठा और जो पुरुष प्रतिष्ठित माना जा चुका हो उस पर उनका किया हुआ विश्वास और उनकी की हुई उसके लिये सिफारिश सब से अच्छी कसौटी है। जो मत समितियां मानसिक बुद्धि बल की पूरी कदर जानती होंगी और उसे पाने को आतुर होंगी वे ऐसी परीक्षाओं से साधारण की अपेक्षा ऊंचे दरजे की बुद्धि वाले मनुष्यों को पाने में समर्थ होंगी; और बहुधा ऐसे मनुष्यों को जिनके ऊपर अपने निरंकुश अभिप्राय के अनुसार राज्यकार्य चलाने का विश्वास रखा जा सकता है और जिनसे यह कहना अपमान जनक होगा कि वे अपना अभिप्राय अपने से ज्ञान में घटिया मनुष्यों की आज्ञा से छोड़ दें। ईमानदारी से ढूँढ़ने पर भी ऐसे पुरुष न मिलें तो मतधारियों को दूसरी सावधानी से काम लेना उचित है; क्योंकि अपने से श्रेष्ठ ज्ञान वाले पुरुष के हाथ से अपना कार्य कराने का कारण न हो तो उनसे अपना खास अभिप्राय मुलतबी करने की आशा नहीं की जा सकती। ऐसे मौके पर उन्हें यह याद रखना बेशक अच्छा है कि प्रतिनिधि एक बार चुने जाने के बाद अगर अपने काम में लगा रहे तो कोई मूल झूठा विचार सुधारने के लिये जैसे प्रसङ्ग, उसके बहुतेरे निर्वाचकों के मार्ग में आ पड़ते हैं उनकी अपेक्षा कहीं अधिक उसको आ पड़ते हैं; और यह विचार ध्यान में रखने से वे (जब तक ऐसे पुरुष को चुनने को बाध्य न होना पड़े जिसके निष्पक्ष पात का उन्हें पूरा भरोसा न हो तब तक) प्रतिनिधि से उसका

अभिप्राय न बदलने का या अभिप्राय बदले तो इस्तीफा का वचन मांगने से रुकेंगे। परन्तु जब कोई ऐसा अनजान मनुष्य पहिले पहल चुना जाय जिसके बारे में किसी बड़े मातबर आदमी ने खुल्लम खुल्ला विश्वास न दिलाया हो तो मतधारी की तरफ से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने विचारों के अनुसार चलना कर्त्तव्य नहीं मानेगा। अब अगर इन विचारों में पीछे से फेर बदल हो और वह फेर बदल उसके स्पष्ट रीति से जताये हुए कारणों सहित ईमानदारी से प्रगट किया जाय तो उतनी ही बात को अपना विश्वास उठा लेने का अलंघ्य कारण न मान लेना यथेष्ट है।

यह मान लिया जाय कि प्रतिनिधि में सब से परीक्षित बुद्धि और स्वीकार की हुई उत्कृष्ट प्रकृति है तो भी मतधारियों के खास अभिप्राय को बिलकुल ताक पर ही न रख देना चाहिये। मानसिक श्रेष्ठता के प्रति मानवृत्ति (प्रतिष्ठा का ख्याल) एक दम उस सीमा तक न पहुंचना चाहिये कि जिससे आत्मवध हो जाय, व्यक्तिगत अभिप्राय के नाम पर शून्य हो जाय। परन्तु जब राज्यनीति के मूलतत्व के विषय में भेद न पड़ता हो तब मतधारी का अपना विचार चाहे जैसा दृढ़ बना हो तथापि उसे विचारना चाहिये कि जब एक चतुर मनुष्य उससे भिन्न राय दे रहा है तब बहुत करके अपनी ही भूल होना सम्भव है। और इसका उलटा हो तो भी जिन कितने ही विषयों में वह स्वयं राय कायम करने के लायक नहीं है उनमें अपनी ओर से काम करने देने के लिये एक चतुर मनुष्य पाने के लाभ के निमित्त जो विषय बिलकुल जरूरी न हों उन में अपनी राय को छोड़ देना उचित है। ऐसे मौकों पर वह अपनी दोनों इच्छाओं का सामञ्जस्य करने के लिये उस चतुर मनुष्य को भेद के विषय

में अपनी राय छोड़ देने के लिये समझाता है। परन्तु चतुर मनुष्य का ऐसे सामञ्जस्य में सहायभूत होना अपने खास कर्त्तव्य से द्रोह करना है—मानसिक श्रेष्ठता के खास कर्त्तव्यों का परित्याग करना है। क्योंकि जिस पक्ष के विरुद्ध पुकार मच रही हो उसको न छोड़ना और अपने जिन अभिप्रायों के लिये उसको सेवा की सब से अधिक जरूरत है उनसे वंचित न होना एक सब से पवित्र कर्त्तव्य है। शुद्ध अन्तःकरण और प्रसिद्ध योग्यता वाले मनुष्य को, जो कुछ अपनी राय में सब से अच्छा जंचे उसके अनुसार चलने की सम्पूर्ण स्वतंत्रता का आग्रह करना चाहिये और दूसरी किसी शर्त पर काम करने को तय्यार न होना चाहिये। परन्तु वह किस रीति पर बर्ताव करना चाहता है—अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य सम्बन्धी सब विषयों में वह किन किन बातों पर अपनी कारखाई चलाने का इरादा रखता है, यह जानने का मत-धारियों को हक है। अगर उनमें से कुछ बात उन्हें अरुचि-कर हो तो उमेदवार को उन्हें विश्वास दिला देना चाहिये कि इतने पर भी वह उनका प्रतिनिधि होने के योग्य है। अगर वे लोग चतुर होंगे तो उसकी साधारण योग्यता के लिये उसके और अपने बीच के बहुत बड़े भेद का भी कुछ ख्याल नहीं करेंगे। फिर भी कुछ भेद ऐसा है कि उनकी ओर से उसका ख्याल न करने की आशा नहीं की जा सकती। जिनका अपने देश के राज्यतंत्र में, जैसा कि स्वतंत्र मनुष्य को चाहिये वैसा, मन लगता है उन सब की राष्ट्रीय कामों के विषय में कुछ पक्की राय बंधी होती है और वे उसको अपने प्राण समान समझते हैं तथा उसकी सत्यता के विषय में उनकी श्रद्धा इतनी प्रबल होती है और उसके साथ वे उसकी आवश्यकता इतनी बड़ी समझते हैं कि वे उसको सामञ्जस्य करने योग्य या अपने से किसने ही

श्रेष्ठ पुरुष की राय के सामने भी अलग रखने योग्य विषय नहीं मानते। जब ऐसा दृढ़ निर्णय किसी जनता या उसके किसी वज़नदार विभाग में विद्यमान होता है तब वह केवल सत्य के आधार पर होने के ख्याल से नहीं वरंच केवल विद्यमान होने से वजन का पात्र है। किसी जनता के सत्य सम्बन्धी ठहराये हुए मूल विचार कई अंश में भ्रमयुक्त हों तो भी उनके विरुद्ध जाकर उस पर अच्छी तरह राज्य नहीं चलाया जा सकता। राज्यकर्त्ता और प्रजा के बीच में जो सम्बन्ध रहना चाहिये उसका यह मतलब नहीं निकलता कि मतधारी उसको अपना प्रतिनिधि मानें जो उनके ऊपर उन के मूल निर्णय के विरुद्ध शासन होने देना चाहे। जिन विषयों में उसका उन लोगों के साथ मूल तत्त्व में ही विरोध है उनके बारे में बहस करना सम्भव न होने की दशा में वे लोग उसकी दूसरे विषयों में उपयोगी सेवा करने की शक्ति से अगर लाभ उठावें तो भी जब ऐसा प्रश्न उठे जिसमें ये विरोधी विषय आ जायं और उसमें जिसको वे सत्य समझते हों उसके पक्ष में बहुमत का इतना भरोसा न हो कि उस खास पुरुष का विरुद्ध मत अनावश्यक ठहरे तब उसको तत्काल विदा कर देना ही उन्हें उचित है। इस प्रकार (मैं जो नाम देता हूं वह किसी खास मनुष्य के उद्देश्य से नहीं; वरंच अपने भावार्थ का स्पष्टीकरण करने के लिये) विदेशी प्रभाव की वृद्धि रोकने के सम्बन्ध में मि० ब्राइट * और मि० कोबडेन +

* (१८११–८९) अबाध वाणिज्य के प्रचारक मि० कोबडेन और इनके प्रयत्न से १८४६ में अन्न की आमदनी के ऊपर का कर उठ गया। ये दोनों पुरुष स्वतंत्रता के पक्षपाती थे परन्तु व्यापार के नाम पर भी युद्ध चलाने के विरोधी थे। + (१८०४—१८६५) इन्होंने

जो विचार सोचें हुए थे वह क्रीमिया की लड़ाई के समय (१८५४—५६) मानने योग्य नहीं हो सकता था; क्योंकि विरुद्ध में राष्ट्रीय वृत्ति का वल वेहद था, परन्तु इतने पर भी चीन की लड़ाई के समय (१८५६ में—यद्यपि यह प्रश्न स्वयं विशेष सन्देहजनक था तो भी) उसको मतधारियों का नामंजूर करने की ओर झुकना बहुत उचित था; कारण कि बहुत समय तक इस बात में सन्देह था कि इस विषय में उनका विचार सफलता प्राप्त करेगा।

ऊपर जो कुछ कह आये उसके साधारण परिणाम के तौर पर हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि अगर प्रतिकूल राष्ट्रीय स्थिति या भूल भरे विषयों के कारण मतधारियों की पसन्द इतनी अधिक संकीर्ण न हो जाय कि उन्हें अपने लाभ से विरुद्ध रुख की स्पष्ट सत्ता के वश में पड़े हुए पुरुष को पसन्द करने को लाचार होना पड़े तो प्रत्यक्ष प्रतिज्ञा की इच्छा न करनी चाहिये; उनको उमेदवार के राजनीतिक अभिप्राय और विचार जानने का हक है और उनके राजनीतिक मत के थोड़े से आधारभूत तत्त्वों के विषय में जो उन से भिन्न हो उसे नापसन्द करने का हक ही नहीं वरंच अनेक वार कर्त्तव्य है। उमेदवार की मानसिक श्रेष्ठता के विषय में उनका जैसा अभिप्राय हो उसके अनुसार उनके मत के आधारभूत तत्त्वों में आने वाले चाहे जितने विषय हों उनमें उसको अपने अभिप्राय से भिन्न अभिप्राय प्रगट करने और उसके अनुसार चलने देना चाहिये। जिसको

अपने प्रयत्न से १८४६ में अबाध वाणिज्य के पक्ष में विजय पाने के बाद १८५९—६० में फ्रांस से व्यापार सम्बन्धी सन्धि

अपने विवेक की प्रेरणाओं के अनुसार चलने की सम्पूर्ण सत्ता सोंप सकें ऐसी प्रकृति के प्रतिनिधि की खोज में उन्हें निरंतर लगे रहना चाहिये; उन्हें यह मानना चाहिये कि कानून बनाने वाली सभा में ऐसे गुण वाले पुरुष दाखिल करने की तरफ यथा शक्ति प्रयत्न करना अपने देश बान्धवों के प्रति एक कर्त्तव्य पालन करना है; और जो उनके अभिप्राय से बहुत बातों में एकमत हो उनकी अपेक्षा ऐसे पुरुष को अपना प्रतिनिधि बनाना उनके लिये बहुत आवश्यक है; क्योंकि उसकी बुद्धि से होने वाले लाभ का भरोसा है; परन्तु भेद के विषय में उसके गलत होने और आप सही होने के विचार में बहुत सन्देह है।

इस प्रश्न का विवेचन करते हुए मैंने यह कल्पना की है कि जिनका आधार प्रत्यक्ष गठन पर है उन सब के विषय में मत पद्धति पिछले अध्यायों में स्वीकार किये हुए मूल तत्त्वों का अनुसरण करती है। इस धारणा के अनुसार भी मुझे प्रतिनिधितत्त्व में बलवी सम्बन्धी सिद्धान्त गलत जान पड़ता है और इस प्रसङ्ग में यद्यपि जो हानि होगी वह खास सीमा में दबी रहेगी तथापि उसका व्यावहारिक परिणाम हानिकारक निकलेगा। परन्तु जिन बन्धनों द्वारा मैं ने प्रतिनिधितत्त्व की रक्षा करने का प्रयत्न किया है उनको अगर राज्यतंत्र ने स्वीकार न किया होगा, अगर छोटे पक्षों को प्रतिनिधि देने का प्रबन्ध न हुआ होगा तथा मतधारियों की पायी हुई शिक्षा की स्थिति की किसी तरह की कसौटी से मत के संख्या-बल में कुछ भेद न स्वीकार किया गया होगा तो ऐसे प्रसङ्ग में प्रतिनिधि को निरंकुश विचार स्वातंत्र्य देने की तात्त्विक आवश्यकता के विषय में जो कुछ कहा जाय वह थोड़ा है; क्योंकि ऐसे समय और सार्वत्रिक मत के उपयोग में

बहुमत के अभिप्राय से किसी भिन्न अभिप्राय का ही पार्लामेंट में सुना जाना सम्भव है। जो झूटमूट जनसत्ताक राज्य कहलाता है परन्तु वास्तव में केवल मजदूर वर्ग का राज्य है उसमें दूसरों के प्रतिनिधि न होने से और उनकी बात न सुनी जाने से, सब से संकीर्ण विचार के वर्गीय कानून से और सब से भयंकर स्वरूप के राजनीतिक अज्ञान से मुक्त रहने का मार्ग सिर्फ अशिक्षित लोगों के प्रतिनिधि के प्रति और उनके अभिप्राय का आदर करने के प्रति जो रुख हो उसी में बुसा रह सकता है। ऐसा करने की कुछ मरजी की वास्तविक रीति से आशा रखी जा सकती है और इस मरजी को पूर्ण रूप से खिलने देने पर सारी बात निर्भर कर सकती है। परन्तु एक बार सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के बाद अगर मजदूर दल इस या दूसरे किसी अपने अहंभाव और स्वच्छन्दता के ऊपर कुछ भारी अंकुश डालना अपनी खुशी से कबूल करे तो कोई भी निरंकुश सत्तावाला वर्ग ऐसे हानिकारक प्रभाव से जितनी बुद्धिमानी दिखा चुका है अथवा हम कहने की हिम्मत करेंगे कि कभी दिखा सकता है उसकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमानी दिखायेगा।

तेरहवां अध्याय।

दूसरी सभा के विषय में।

प्रतिनिधि-शासन सम्बन्धी सिद्धान्त के सब विषयों में जो प्रश्न दो सभा के नाम से परिचित हुआ है उसकी अपेक्षा दूसरे किसी प्रश्न पर, विशेष कर के युरोपखण्ड में, अधिक चर्चा नहीं चलती है। इसने अपने से दस गुने आवश्यक कितने ही प्रश्नों की अपेक्षा तत्वज्ञानियों का ध्यान अपनी

और अधिक खींचा है और निरंकुश जनसत्ताक राज्य के पक्षपातियों से अंकुशित (नियंत्रित) जनसत्ताक राज्य के पक्षपातियों को पहचानने की यह एक किस्म की कसौटी माना गया है। मुझसे पूछा जाय तो जो जनसत्ताक राज्य दूसरी तरह से निरंकुश होगा उसके ऊपर दूसरी सभा जो कुछ अंकुश डाल सकती है उसको मैं कम ही आवश्यक समझता हूं; और मेरे विचार में ऐसा आता है कि अगर राज्यतन्त्र के दूसरे सब प्रश्नों का निर्णय योग्य रीति से होता होगा तो पार्लीमेण्ट एक सभा की बनी है या दो सभाओं की यह बात गौणरूप से आवश्यक है।

अगर दो सभाएं होंगी तो उनमें समान तत्व मिले हुए होंगे या असमान तत्व। अगर ये समान तत्वों की बनी होंगी तो दोनों एक ही सत्ता के वश होंगी और जिसका एक सभा में बहुमत होगा उसी का दूसरे में भी होना सम्भव है। यह बात सच है कि किसी काम की मंजूरी के लिये दोनों की सम्मति दरकार होगी, इस से कितनी ही बार सुधार के मार्ग में भारी विघ्न पड़ेगा; क्योंकि अगर सोचें कि दोनों सभाएं प्रतिनिधियों की बनी हैं और संख्या में एक समान हैं तो सब प्रतिनिधियों की एक चौथाई से कुछ ही अधिक संख्या मसविदे को मंजूर होने से रोक सकेगी; परन्तु अगर फकत एक ही सभा होगी तो बहुमत सिर्फ नाम का होने पर भी मसविदे के मंजूर होने का भरोसा रहेगा। किन्तु यद्यपि सोचा हुआ प्रसङ्ग सिद्धान्त में सम्भव है तथापि अनुभव में आना सम्भव नहीं है। ऐसा बहुधा नहीं होगा कि समान तत्ववाली दो सभाओं में से एक लगभग एकमत हो और दूसरी लगभग बराबर में बट जाय। अगर किसी काम को एक सभा का बहुमत रद करे तो दूसरी में उस काम के विरुद्ध का छोटा

पक्ष भी बहुत कर के बड़ा होगा; इस से जो कुछ सुधार यों रुक जायगा वह प्रायः सब प्रसङ्गों में ऐसा होगा कि उसको सारी जनता में कुछ से बहुत बेशी बहुमत नहीं होगा और सब से बुरा परिणाम यही हो सकेगा कि वह काम कुछ समय तक मंजूर होने से अटकेगा अथवा पार्लामेण्ट का छोटा बहुमत देश के असली बहुमत का अनुसरण करता है कि नहीं इसका निश्चय करने के लिये मतधारियों को फिर से अर्ज करने को लाचार होना पड़ेगा।

दो सभाएं रखने के विषय में, जो अंधी उतावली रोकने और दूसरी सभा का विचार करने को लाचार करने की दलील सब से अधिक बार पेश की जाती है उस पर मैं कम ही जोर देता हूं; क्योंकि जिस प्रतिनिधि सभा में कार्यव्यवहार सम्बन्धी स्थापित नियमों से दो से अधिक विवेचन की जरूरत न पड़े उसकी व्यवस्था अवश्य ही बहुत खराब होगी। मेरे विचार के अनुसार तो जो कारण दो सभाओं के पक्ष में अधिक वजनदार हो जाता है (और जिसको मैं कुछ आवश्यक समझता हूं) वह यह है कि किसी सत्ताधारी पृथक् पुरुष या सभा के मत पर दूसरे किसी की सलाह लेने की लाचारी न होने के विचार से बुरा असर होता है। जरूरी बात यह है कि मनुष्यों का कोई दल दूसरे किसी की सम्मति लिये बिना बड़े विषयों में अपनी मनमानी न करने पावे। किसी एक ही सभा का बहुमत जब कुछ स्थायी स्वरूप धारण कर चुकता है—जब वह साधारण तौर पर एक ही, और साथ रहकर, काम करनेवाले पुरुषों का बना हुआ होता है और उसको अपनी सभा में हमेशा विजय का भरोसा होता है तब अगर उसका काम दूसरी कोई नियम बद्ध सत्ता स्वीकार करेगी कि नहीं यह विचारने की जरूरत से छुट्टी पाये रहेगा

तो वह आसानी से निरंकुश और अहंमानी हो जायगा। जिस कारण ने रोमनों को दो कंसल (रोम के जनसत्तक राज्य के मुख्य अधिकारी) रखने का लालच दिया उसी से दो सभाएं रखना अभीष्ट हो जाता है कि जिससे केवल एक वर्ष की मुद्दत तक भी दो में से एक भी अविभक्त सत्ता के असली असर का शिकार न हो। राज्यनीति की व्यवहार व्यवस्था में और विशेष कर स्वतंत्र राज्यतंत्र की व्यवस्था में जो एक गुण सब से अधिक आवश्यक है वह सामञ्जस्य करने की तत्परता अर्थात् प्रतिपक्षियों को कुछ स्वतंत्रता देने और विरुद्ध विचार के पुरुषों का मन यथासाध्य कम दुखे इस रीति से शुभ कार्य की रचना करने की इच्छा है; और दो सभाओं के बीच में परस्पर दी हुई यह हितकारिणी वृत्ति की पाठशाला है। ऐसी पाठशाला की हैसियत से यह अब भी उपयोगी है और कानून बनानेवाली सभा के अधिक जन-सत्ताक गठन में इसकी उपयोगिता इससे भी अधिक जान पड़ना सम्भव है।

परन्तु दोनों सभाओं के एक ही तत्व की—एक ही मेल की होने की जरूरत नहीं है। वे एक दूसरे पर अंकुश के तौर पर बनायी जा सकती हैं। यह मान लिया जाय कि एक सभा में लोकतत्त्व की प्रधानता है तो दूसरी का गठन स्वभावतः उस लोकतत्व पर कुछ अंकुश डालने के विचार से किया गया होगा। परन्तु इस विषय में उसकी सफलता का सारा भरोसा, वह सभा, बाहर का जो सामाजिक अनुमोदन पा सकती है उसके ऊपर रहता है। जिस सभा को देश की किसी बलवान सत्ता का आधार नहीं होता वह जिसको आधार होता है, उसके सामने अशक्त है। शिष्टप्रधान (जिसमें शिष्ट जन या अमीर वर्ग का प्रभाव होता है) सभा शिष्टप्रधान स्थिति में ही

प्रबल होती है। अमीर सभा एक बार राज्यतंत्र में सब से जबरदस्त थी और आम सभा केवल अंकुश रखने वाली सत्ता थी। मैं यह नहीं मान सकता कि जनसत्ताक सामाजिक स्थिति में अमीर सभा जनसत्ता पर अंकुश रखने में कुछ असली वजन रखेगी। जब एक पक्ष की सेना दूसरे पक्ष की सेना के मुकाबले में थोड़ी हो तब छोटी सेना को बलवान बनाने का यह मार्ग नहीं है कि दोनों को आमने सामने करके मैदान में भिड़ा दें। ऐसी व्यूहरचना से कम बलवाली की अवश्य पराजय होगी। वह अगर कुछ भी लाभदायक काम कर सकती है तो स्वयं अलग रह कर और प्रत्येक जन को अपने पक्ष में या विपक्ष में होने की घोषणा करने को लाचार करने से नहीं, वरंच अपना स्थान जनसमूह की विरुद्धता के बदले उसके मध्य में ले जाकर किसी खास विषय पर अपने साथ सब से अधिक मिलजुल जाने वाले तत्वों को अपनी ओर खींचने से; प्रतिपक्षी संस्था का चेहरा धारण करके अपने विरुद्ध साधारण एकता खड़ी करने से नहीं, वरंच मिश्रित समूह के एक अंग के तौर पर काम करने से, उसमें अपना सिक्का जमाने से और जो बहुत दुर्बल हो जाय उस अंग को अपने बल की सहायता द्वारा बहुधा प्रबल करने से। जन सत्ताक राज्यतंत्र में असली अंकुश रखने वाली सभा को तो लोकसभा के अन्दर रहकर उसी की मार्फत काम करना चाहिये।

यह मैं साबित कर चुका हूं कि प्रत्येक शासन-पद्धति में जो प्रबल सत्ता हो उस पर अंकुश रखने के लिये एक मध्य बिन्दु और जनसत्ताक राज्य में जनसत्ता पर अंकुश रखने के लिये मध्य स्थल होना चाहिये। और इसको मैं राज्यतंत्र का आधारभूत नियम मानता हूं। अगर कोई जनता, जिसका प्रति-

निधि तत्व जनसत्ताक हो यह अपने पिछले ऐतिहासिक चरित्र के कारण, ऐसा अंकुश स्थान अन्य की अपेक्षा दूसरी सभा या अमीर सभा के स्वरूप में रखने को राजी हो तो उसके उस स्वरूप में रखने का सबल कारण है, परन्तु मुझे तो यह स्वरूप स्वयं सब से अच्छा या अपने उद्देश्य के लिये किसी रीति से सब से प्रभावशाली नहीं दिखाई देता। अगर दो सभाएँ हों और उनमें एक प्रतिनिधि वाली और दूसरी सिर्फ वर्ग प्रतिनिधि वाली या केवल वे प्रतिनिधि की हो तो मैं नहीं समझता कि जहाँ समाज में प्रबल सत्ता जन-दल की होगी वहां दूसरी सभा पहिली की भूलें रोकने में भी कुछ वस्तुतः समर्थ होगी। यह अगर रखी जायगी तो उस का परिचय और अभ्यास हो जाने से, न कि एक सबल अंकुश के तौर पर। वह अगर अपनी स्वतंत्र इच्छा से लेना चाहेगी तो उसका दूसरी सभा की तरह सामान्य वृत्ति से ही वैसा करने को, उसी की तरह जनसत्ता प्रधान रहने को, और कानून बनाने वाली सभा की अधिक लोकप्रिय शाखा की अचानक भूलें सुधारने या लोकप्रिय कार्यों में उसके साथ चढ़ा ऊपरी करने में ही सन्तोष मान लेने को लाचार होना पड़ेगा।

बहुमत के प्रभाव पर जिस असली अंकुश का आधार अब से रहेगा वह शासन करने वाली संस्था की सब से लोकप्रिय शाखा के बल के विभाग पर; और मेरे सब से दृढ़ विचार के अनुसार जिस पद्धति के ऊपर उसके बल का सब से लाभकारी सामञ्जस्य किया जा सकता है उसको मैं पहिले सूचित कर चुका हूं। मैं ने यह भी दिखाया है कि बहुमत अपने मुकाबले की पार्लमेण्ट के बहुमत के बल द्वारा सम्पूर्ण सत्ता चलावे तो भी अगर छोटे वर्गों को भी उनकी

संख्या के हिसाब से शुद्ध जन सत्ताक राज्य के नियम पर मिलने योग्य प्रतिनिधि पाने का समान हक भोगने दिया जाय तो ऐसे प्रबन्ध से दूसरे सभासदों की तरह लोकप्रिय हक के जरिये सभा के अन्दर देश के इतने बड़े उत्कृष्ट बुद्धि के पुरुषों की स्थायी उपस्थिति का भरोसा रहेगा कि जन प्रतिनिधि का यह विभाग किसी तरह अलग दल बाँधे विना या कुछ भी द्वेषजनक हक पाये विना अपने संख्या बल की अपेक्षा परिमाण में बहुत अधिक वजन हासिल करेगा और आवश्यक अंकुश का सबल मध्यस्थल हो पड़ेगा। इस से इस उद्देश्य के लिये दूसरी सभा की जरूरत नहीं है और हो भी तो इस उद्देश्य को सहायक नहीं होगी वरंच कभी उसके साधन के मार्ग में किसी सम्भवित रीति से बाधक भी हो जायगी। इतने पर भी, अगर ऊपर बताये हुए दूसरे कारणों से यह ठहराव किया जाय कि ऐसी सभा चाहिये तो इतनी बात इष्ट है कि वह ऐसे तत्वों की बनायी जाय कि स्वयं बहुमत के प्रतिकूल आने योग्य वर्ग स्वार्थ साधने के दोष का पात्र न होकर बहुमत के वर्ग स्वार्थ का सामना करने और उसकी भूलों तथा त्रुटियों के विरुद्ध अपनी जोरदार आवाज उठाने को उमड़े। हमारी अमीर सभा (हाउस आव लार्ड्स) के ढंग पर बनी हुई संस्था में ये शर्त्तें खुले तौर पर देखने में नहीं आतीं। प्रचारित पदवी और व्यक्तिगत धन का जनसत्ता पर दबाव पड़ना बंद होता है इस से अमीर सभा निर्जीव हो जाती है।

जनसत्ता के प्रभाव को सीमा और नियम में रखने को निर्द्धारित किसी प्रवीण संरक्षक वृत्ति वाली संस्था का जिन मूल तत्वों पर गठन करना सम्भव है उन सब में सर्व श्रेष्ठ मूलतत्व रोम की वृद्धि-सभा में उदाहृत हुआ जान पड़ता

है, क्योंकि अब तक जो संस्थाएँ राज्यकार्य का प्रबन्ध कर चुकी हैं उनमें यह सब से नियमबद्ध, बुद्धिमती और दूरदर्शी संस्था थी। लोक-सभा जिस साधारण जनता का प्रतिनिधि है उसकी त्रुटियां उस लोक-सभा की अपनी त्रुटियां होती हैं—जैसे विशेष शिक्षा और ज्ञान का अभाव। इसका उचित उपाय यह है कि विशेष शिक्षा और ज्ञान का गुण जिस संस्था में हो उस को उस के शामिल कर दें। अगर एक सभा लोगों का भाव प्रगट करती हो तो दूसरी को स्वयं की हुई राज्यसेवा में परीक्षित और स्वीकृत और व्यवहार सिद्ध अनुभव में पक्की हुई अपनी योग्यता दिखाना चाहिये। अगर एक लोक सभा हो तो दूसरी राजनीतिक पुरुषों की सभा—जो जरूरी सरकारी ओहदों या नौकरियों पर रहे हों उन सभी जीवित सरकारी पुरुषों की बनी सभा—होनी चाहिये। ऐसी सभा केवल अंकुश रखने वाली सभा नहीं होगी वरंच दूसरे बहुत से कामों के लायक भी हो जायगी। यह केवल अंकुश-बल ही नहीं वरंच प्रेरक बल वाली भी हो जायगी। लोगों को अंकुश में रखने की उस के हाथ में सौंपी हुई सत्ता जो उन्हें किसी सन्मार्ग में आगे बढ़ाने को सब से समर्थ और बहुत कर के सब से तत्पर होते हैं उन्हीं के हाथ में आवेगी। जिस सभा को लोगों की भूलें सुधारने का काम सौंपा जायगा वह उन के लाभ के विरुद्ध जाने वाले वर्ग का प्रतिनिधि नहीं गिनी जायगी, वरंच उन्नति के मार्ग में उस के स्वाभाविक नेताओं की बनी हुई मानी जायगी। अंकुश के काम को वजनदार और प्रभावशाली करने में और किसी रीति का गठन इस के बराबर नहीं उतरेगा। जो संस्था हमेशा सुधार कराने में अग्र भाग लेगी वह चाहे जिस कदर अनर्थ के मार्ग में बाधक हो

तथापि उस के विरुद्ध केवल रोचक-सख्या के नाम से चिल्लाहट मचा कर उसे बन्द देना असम्भव हो जायगा।

इंगलेण्ड में अगर ऐसी वृद्धसभा बनाने की नौबत आवे (मुझे यह कहने की जरूरत नहीं है कि यह सिर्फ कल्पना है) तो वह नीचे लिखे तत्त्वों द्वारा बनेगी—पिछले एक अध्याय में वर्णित कानून सभा (लेजिसलेटिव कमीशन) के (जिसको मैं सुगठित जनसत्ताक राज्यतंत्र का एक आवश्यक अंग गिनता हूं) जो समासद हों या रह चुके हों वे सब। जो प्रधान विचारपति अथवा कानून या न्याय * की किसी अदालत के अध्यक्ष हों या रह चुके हों वे सब। जिन्हों ने पांच वर्ष विचारपति का काम किया हो वे सब। जो दो वर्ष किसी गुप्त मंत्री के पद पर रह हों वे सब; परन्तु उनको आम सभा में चुने जाने की भी स्वतंत्रता रहनी चाहिये और अगर वे उसके समासद चुने जायं तो तब तक के लिये उनकी अमीर की पदवी या वृद्ध समासद का पद मुलतवी रहना चाहिये; किसी पुरुष को सिर्फ वृद्ध सभा में स्थान देने के लिये गुप्त मंत्री चुने जाने से रोकने के निमित्त मुद्दत की शर्त की जरूरत है और दो वर्ष की मुद्दत बताने का कारण यह है कि जो मुद्दत उनको वर्षासन (पेंशन) के योग्य बनाती है वही उनको वृद्ध समासद के पात्र बनावे। जो प्रधान सेनापति के ओहदे पर रहे हों वे सब—जिन्हों ने स्थल या जल सेनापति होकर, स्थल या जल में विजय पाने के निमित्त पार्लामेण्ट से शाबाशी पायी हो

* Courts of Law and Courts of Equity—जो बनाये हुए कानून के रू से इंसाफ करे वह कानून की अदालत है और जो न्याय के स्वाभाविक नियम के अनुसार इन्साफ करे वह न्याय की अदालत है।

वे सब। जो हिन्दुस्थान या ब्रिटिश अमेरिका के बड़े लाट रहे हों वे सब और जो दस वर्ष तक किसी टापू के लाट रहे हों वे सब। स्थायी मुल्की (सिविल) विभाग के प्रतिनिधि भी होने चाहियें। जो राज्य कोष के उपमंत्री, राज्य के स्थायी उपमंत्री के जरूरी ओहदे या ऐसे ही दूसरे ऊंचे और जिम्मेवारी के ओहदे पर दस वर्ष तक रहे हों उन सब को वृद्ध सभासद होना चाहिये। इस प्रकार जिन्हों ने राज्यकार्य के प्रबन्ध में प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया हो उनके साथ अगर तत्वज्ञानी वर्गका कोई प्रतिनिधि लेना हो—और ऐसा करना वस्तुतः इष्ट है—तो यह विचारने योग्य बात है कि खास राष्ट्रीय विद्यालय में खास अध्यापकों के ओहदों पर कुछ वर्ष रहने से मनुष्य वृद्धसभा में स्थान पाने के पात्र हो सकते हैं कि नहीं। केवल शास्त्र या साहित्य के विषय में उत्कृष्टता तो बेहद अनिश्चित और विवादग्रस्त योग्यता है, वह निर्वाचन की शक्ति सूचित करती है परन्तु दूसरे गुण तो स्वयं प्रकाश हैं; जिन लेखों के द्वारा उन्हों ने प्रतिष्ठा पायी है, उनका अगर राज्यनीति से सम्बन्ध नहीं होगा तो वे वांछित खास गुणों के सबूत नहीं हैं; और अगर वे राजनीतिक होंगे तो उत्तरोत्तर मंत्रीमण्डल को पार्लामेण्ट में पक्षशस्त्र बरसाने को शक्तिमान करेंगे।

इंगलेण्ड के पुराने ऐतिहासिक चरित्र से प्रायः निश्चय होता है कि विद्यमान राज्यतंत्र का बलात्कार उच्छेद होने का असम्भव प्रसङ्ग न सोचें तो अगर कोई दूसरी सभा अस्तित्व में आवेगी तो उसका गठन अमीर (लार्ड) सभा के ढांचे पर करना पड़ेगा। अमीर सभा के स्थान में, जैसा कि मैंने ऊपर चित्रित किया है, वैसी वृद्धसभा या दूसरी कोई सभा बनाने के लिये उस सभा को वस्तुतः तोड़ डालने का

विचार करना प्रश्न के बाहर की बात है, परन्तु ऊपर कहे हुए वर्गों या महावर्गों को विद्यमान मण्डल में जीवन भर अमीर के नाम से शामिल करने में शायद उतनी ही अलंघ्य कठिनाई नहीं पड़ेगी। एक अन्तिम और इस कल्पना के अनुसार एक आवश्यक काम शायद यह करना होगा कि वंश परम्परा के अमीरों को सभा में स्वयं उपस्थित रहने के बदले प्रतिनिधि चुनना पड़ेगा; यह रिवाज स्काच और आइरिश अमीरों के विषय में जारी हो चुका है और इस वर्ग की सिर्फ वृद्धि के कारण कदाचित किसी समय यह आवश्यक हो जायगा। मि० हेयर की पद्धति का कुछ अनुकरण करने से, अमीरों में जिस पक्ष का बहुमत होगा केवल उसी का प्रतिनिधि चुना जाना रुकेगा जैसे—प्रति दस अमीर पीछे एक प्रतिनिधि दिया जाय तो चाहे जिस दस को एक प्रतिनिधि चुनने दिया जा सकता है और इस कारण से अमीरों को अपनी इच्छानुसार जथाबंध होने की स्वतंत्रता दी जा सकती है। चुनाव इस प्रकार किया जा सकता है—जो अमीर अपने वर्ग की तरफ से प्रतिनिधि चुने जाने के लिये उमेदवार हों उनसे इसकी घोषणा करायी जाय और एक सूची में नाम दर्ज करवाया जाय। एक दिन और एक स्थान नियत किया जाय और मत देने की इच्छा रखने वाले अमीर उस दिन उस स्थान पर स्वयं अथवा पार्लामेण्ट की साधारण रीति के अनुसार अपने मुख्तार की मार्फत हाजिर हों। मत लिया जाय और उसमें हर एक अमीर सिर्फ एक के लिये मत दे। जिस उमेदवार को पूरे दस मत मिलें वह निर्वाचित हुआ प्रगट किया जाय। अगर किसी को अधिक मत मिलें तो दस के सिवा और सब मतधारियों को अपना मत वापस लेने को कहा जाय अथवा उस संख्या में से चिट्ठी

डाल कर दस आदमी पसंद किये जायं। वे दस अपनी मत समिति बनावें और बाकी मतदाता अपना मत फिर से दूसरे किसी को देने की छुट्टी पावें। (यथा सम्भव) जब तक स्वयं या मुख्तार की मार्फत उपस्थित हर एक अमीर को प्रतिनिधि मिले तब तक इसी तरह बार बार किया जाय। जब दस से कम संख्या बाकी रहे तब अगर वह पांच तक हो तो उन मतधारियों को अब भी एक प्रतिनिधि के लिये एक राय होने दें और अगर वे पाच से कम हों तो उनका मत रद समझा जाय या किसी निर्वाचित उमेदवार के पक्ष में देने दिया जाय। इस अल्प अपवाद के सिवा प्रत्येक अमीर प्रतिनिधि अमीर वर्ग में से दस जनों का प्रतिनिधि होगा और उसके लिये उन सब ने मत दिया होगा, इतना ही नहीं, वरंच यह समझ कर उसे पसन्द किया होगा कि पसंद के लिये सामने खड़े हुए सब उमेदवारों में से उसको वे अपना प्रतिनिधि बनाने की सब से अधिक इच्छा रखते हैं। जो अमीर अपने वर्ग की तरफ से प्रतिनिधि न चुना जाय उसको इसके बदले आम सभा की छूट दी जाय। यह न्याय इस समय स्काच और आइरिश अमीरों के साथ उनके अपने राज्य विभाग में नहीं किया जाता। फिर अमीर-वर्ग के सब से बड़ी संख्यावाले पक्ष के सिवा दूसरे किसी को अमीर सभा का प्रतिनिधि न मिल सकने का बन्धन दोनों के लिये एक समान है।

यहां जिस वृद्ध सभा की सलाह दी गयी है उसके गठन की पद्धति ही स्वयं सब से अच्छी जान पड़ती है, इतना ही नहीं वरंच इसके समर्थन में ऐतिहासिक दृष्टान्त और वास्तविक फकड़ीलो सफलता की दलील भी सब से बढ़कर लागू पड़ सकती है। दूसरी सभा के गठन के लिये एक दूसरी साध्य पद्धति यह है कि उसको पहली सभा के हाथ से चुनवावें।

प्रतिबन्धन सिर्फ इतना रखें कि वह अपने समासदों में से किसी को न चुने। ऐसी सभा, अमेरिकन वृद्ध सभा की तरह सिर्फ पदान्तर से भिन्न लोगों की पसन्द से उत्पन्न होने के कारण, जनसत्ताक नियमों में बाधा डालने वाली नहीं गिनी जायगी और सम्भवतः पुष्कल लोक सत्ता प्राप्त करेगी। अपनी निर्वाचन पद्धति से उसको लोक सभा की ईर्ष्या भड़काने या उससे भिड़ जाने की सम्भावना खाम करके नहीं रहेगी। फिर (छोटे वर्गों को प्रतिनिधि देने की उचित व्यवस्था होने से) उसका गठन अवश्य अच्छा होगा और जो अकस्मात् या दिखाऊ गुणों के अभाव से मत समिति का मत मांगने से अनिच्छुक या पाने में अशक्त होंगे उन ऊंची शक्ति वाले पुरुषों के वर्ग में से बहुतेरे उसमें प्रवेश कर जायंगे।

दूसरी सभा के जिस गठन में ऐसे तत्त्व विशेषता से होंगे जो बहुमत के वर्ग स्वार्थ और बहम से मुक्त तथा लोकवृत्ति के अरुचिकर अंश से बिलकुल रहित रहेंगे वह सब से श्रेष्ठ है। मैं फिर कहता हूं कि बहुमत के प्रभाव को नियम में रखने का मुख्य आधार किसी किस्म की दूसरी सभा को नहीं बना सकते। लोक सभा के गठन से प्रतिनिधि राज्य की प्रकृति का निर्णय होता है। इसके सामने शासन पद्धति सम्बन्धी दूसरे सभी प्रश्न निर्जीव हैं।

चौदहवां अध्याय।

प्रतिनिधि शासन में कार्य कारिणी सभा।

इस निबन्ध में इस प्रश्न को छेड़ना अप्रासंगिक होगा कि राज्य तंत्र के शासन सम्बन्धी काम को किस विभाग या शाखा में बांटना सब से सुगम पड़ेगा। इस विषय में भिन्न

भिन्न राज्यतंत्रों की आवश्यकताएं भिन्न भिन्न होती हैं; और जब मनुष्य आरम्भ से आरम्भ करना चाहते हैं तथा जब हमारे यहां के जैसे पुराने राज्यतंत्र में जिन लगातार घटनाओं ने राज्य कार्य की वर्तमान व्यवस्था उत्पन्न की है उन से अपने को वाध्य न समझें तब तो कार्य का विभाग करने में कुछ भारी भूल होना कम ही सम्भव है। सिर्फ इतना कहना यथेष्ट है कि अधिकारियों का विभाग विषयों के विभाग के अनुसार होना चाहिये और जैसा कि हमारे यहां के सेना विभाग में बहुत हाल तक था और अब भी किसी कदर है, स्वभावत. एक ही, अभिन्न विषय के भिन्न भिन्न विभागों पर निगरानी रखने के लिये भिन्न भिन्न और एक दूसरे से स्वतंत्र विभाग न होने चाहियें। जहां साध्य उद्देश्य एक है (जैसे कि सबल सैन्य रखने का) वहां उसके ऊपर निगरानी रखने को नियुक्त सत्ता भी एक होनी चाहिये। एक ही उद्देश्य के लिये योजित साधनों का सारा समूह एक ही सत्ता और जिम्मेवारी के अधीन रहना चाहिये। जब उनका स्वतंत्र सत्ताओं के बीच विभाग होता है तब प्रत्येक सत्ता के हाथ में जो साधन आते हैं वे उसके मन का उद्देश्य बन जाते हैं और वास्तव में उद्देश्य की सम्हाल रखने का काम राज्यतंत्र के प्रधान के सिवा और किसी के सिर पर नहीं रहता, और उस प्रधान को कभी कभी विभाग का यथोचित अनुभव भी नहीं होता। भिन्न भिन्न प्रकार के साधनों को किसी एक मुख्य भावना की प्रेरणा के अनुसार एक दूसरे से मिलाकर उनकी सुगठित व्यवस्था नहीं की जाती। जब प्रत्येक विभाग अपनी जरूरतों को आगे ढकेलता है तब केवल काम की खातिर काम के उद्देश्य का निरंतर त्याग होता है।

साधारण नियम से प्रत्येक उत्तम या मध्यम शासन कार्य

किसी खास पुरुष का निर्द्धारित कर्त्तव्य होना चाहिये । हर एक काम कौन करता है और अगर यह कुछ बे किये रह गया तो किस के कसूर से, यह सारी दुनिया को मालूम होना चाहिये । जब कोई नहीं जानता कि कौन जिम्मेवार है तब जिम्मेवारी रहती ही नहीं । फिर जब हर असल जिम्मेवारी होती है तब भी उसका विभाग करने से वह कमजोर पड़े बिना नहीं रहती । उसको उसके पूर्ण रूप में बनाये रखने के लिये एक ऐसा पुरुष चाहिये जो अच्छा काम होने पर उसके सारे यश का और खराब होने पर उसके सारे अपयश का पात्र गिना जाय । इतने पर भी जिम्मेवारी बांटने की रीतियाँ हैं । उन में से एक में तो यह (जिम्मेवारी) निर्बल होती है परन्तु दूसरी में नष्ट हो जाती है । जब एक ही काम के लिये एक से अधिक पदाधिकारियों की मंजूरी की जरूरत हो तब यह निर्बल होती है । तो भी उन में से प्रत्येक को कुछ असली जिम्मेवारी है; जब कुछ बुराई होती है तब उन पदाधिकारियों में से कोई यह नहीं कह सकता कि 'मैं ने नहीं किया।' जितना अपराधी का साथी अपराध में हिस्सेदार है उतना ही वे पदाधिकारी उस बुरे काम में हिस्सेदार हैं, अगर उस में कानून विरुद्ध अपराध हो तो कानून के रू से उन सब की सजा की सकती है । अगर उस में एक ही पुरुष का सम्बन्ध होता तो उसको जैसी सख्त सजा होती उससे उनकी कम सजा होना उचित नहीं है; परन्तु लोकमत की शाबाशी और सजा के विषय में ऐसा कोई धोरण नहीं है इससे यह सजा बटवारे के साथ घट जाती है। जहां कुछ घूस या कपट के ऐसा कानून विरुद्ध निश्चित अपराध नहीं होता, सिर्फ भूल या अविचार या इसी श्रेणी का कुछ होता है वहां प्रत्येक हिस्सेदार को अपने और दुनिया के सामने इस बात का

बहाना मिलता है कि हमारे साथ दूसरे मनुष्य भी लिपटे हुए हैं। रुपये पैसे की बेईमानी तक का कोई विषय शायद ही ऐसा होगा कि उसमें जिसको अंकुश रखने या उलहना देने का कर्त्तव्य है उसने अगर वैसा करने में भूल की होगी और विशेष कर अगर उसकी मंजूरी दी होगी तो सम्बद्ध पुरुष अपने को प्रायः दोष मुक्त न समझेगा।

इतने पर भी यद्यपि इस मामले में जिम्मेवारी दुर्बल हो गयी है तो भी है। उसमें शामिल हर एक आदमी ने अपनी तरफ से उस काम में मंजूरी दी है और भाग लिया है। परन्तु जब वह कृत्य ही स्वयं बन्द कोठरी में परामर्श करने वाली शासन समिति के बहुमत का होता है और कोई नहीं जानता या किसी अन्तिम प्रसङ्ग बिना जानना सम्भव नहीं है कि किसी खास सभासद ने उस कारस्वाई के पक्ष में मत दिया है या विरुद्ध, तब इस से भी बहुत बुरी स्थिति हो जाती है। ऐसे प्रसङ्ग में जिम्मेवारी सिर्फ नाम की है। बेन्थम का कथन यथार्थ है कि "व्यवस्था समिति परदा है"। 'व्यवस्था समिति' का किया हुआ काम किसी एक आदमी की कारगुजारी नहीं है और उस के लिये किसी को भी जिम्मेवार नहीं बना सकते। व्यवस्था समिति की प्रतिष्ठा में भी जो कुछ बट्टा लगता है वह उसकी समष्टि की पदवी में। और किसी स्वतंत्र सभासद की दृष्टि में वह अपनी प्रतिष्ठा समिति की प्रतिष्ठा से जुड़ी हुई समझने का जितना ख्याल रखता है उससे वह विशेष नहीं जानती। यह ख्याल तो जब समिति स्थायी होती है और उसके साथ अच्छे या बुरे दोनों में सभासद का सम्बन्ध जुड़ा रहता है तभी बहुधा जबरदस्त होता है; परन्तु आधुनिक अधिकार पद की उथल पुथल में ऐसा पंक्ति भाव बनाने का कुछ भी समय नहीं मिलता; और अगर यह

कुछ भी विद्यमान है तो अधीनस्थ स्थायी नौकरों की अनजान पंक्तियों में ही है; इससे व्यवस्था समिति शासन कार्य का योग्य साधन नहीं है और जब दूसरे कारणों से एक ही मंत्री को सम्पूर्ण सत्ता की स्वतंत्रता देना बहुत खराब होता हो तभी इसका उपयोग करना उचित है।

दूसरी ओर यह भी एक अनुभव सिद्ध नियम है कि अनेक के परामर्श में बुद्धिमानी है; और मनुष्य जब अपने या किसी एकाध सलाहकार के सिवा दूसरे किसी के ज्ञान का साधारण उपयोग नहीं करता तब वह अपने विषय में भी और विशेष कर सार्वजनिक विषयों में शायद ही सच्चा निर्णय करता है। इस नियम और उस दूसरे के बीच में कुछ भी आवश्यक विरोध नहीं है। एक ही मनुष्य को सारी विधायक सत्ता सौंपकर उस के सिर सारी जवाबदेही डाल देना और उसके साथ जरूरत होनेपर सलाहकार सौंपना, परन्तु उनमें से प्रत्येक को अपने ही दिये हुए अभिप्राय के लिये जवाबदेह बनाना, सहज है।

साधारण तौर पर शासन प्रबन्ध के किसी विभाग का प्रधान केवल नीतिवेत्ता होता है। वह अच्छा नीतिवेत्ता और योग्यता वाला मनुष्य भी हो सकता है। अगर साधारण स्थिति इस प्रकार की न हो तो राज्यतंत्र को खराब समझना। परन्तु उसकी साधारण बुद्धिमानी और देश के सामान्य लाभ के विषय में उसका वांछित ज्ञान के साथ उसकी प्रधानता में सौंपे हुए विभाग का यथेष्ट और व्यवहार कुशल कहलाने वाला ज्ञान होने की सम्भावना सिर्फ प्रासंगिक अकस्मात पर है, इससे, इसके लिये व्यवहार कुशल परामर्श दाताओं के प्रबन्ध की जरूरत है। जहां जहां केवल अनुभव और ज्ञान सम्पत्ति यथेष्ट होती है—जहां जहां व्यवहार कुशल

परामर्शदाता में वांछित गुण अच्छी रीति से चुनकर निकाले हुए (न्यायाधिकारी जैसे) पुरुष में एकत्र मिलना सम्भव हो वहां साधारण उद्देश्यों के लिये ऐसा एक पुरुष और विस्तृत प्रचलित विषयों का ज्ञान कराने के लिये क्लर्कों का स्टाफ प्रस्तुत प्रसंग के लिये काफी है। परन्तु बहुधा यह सम्भव है कि मंत्री किसी एकही बुद्धिमान पुरुष की सलाह ले। अगर वह स्वयं उस विषय में प्रवीण न हो तो उस एक ही पुरुष की सलाह पर पूरा भरोसा रख कर उसके अनुसार चलना यथेष्ट नहीं है। बहुधा, मौके मौके पर नहीं, वरंच साधारण तौर पर, उसे विविध अभिप्राय सुनने और परामर्श सभा में चली हुई चर्चा से अपना मत ठहराने की जरूरत पड़ती है। दृष्टान्त के तौर पर, यह स्पष्ट है कि स्थल और जल सेना सम्बन्धी विषयों में अवश्य कर के ऐसा होना चाहिये। इस से स्थल और जल सेना सम्बन्धी मंत्रियों के लिये और सम्भवतः दूसरे कितनों के लिये परामर्श सभा की व्यवस्था होनी चाहिये और उन सभाओं में और प्रथमोक्त दो विभागों की सभाओं में तो अवश्य कर के बुद्धिमान और अनुभवी व्यवहार कुशल मनुष्य होने चाहियें। शासन (कार्यकारिणी) सभा के प्रत्येक परिवर्तन में भी इसलिये कि सब से श्रेष्ठ मनुष्य प्राप्त करने का उपाय रहे; उनकी नियुक्ति स्थायी होनी चाहिये। और ऐसा कहने से मेरा मतलब यह है कि जिस मंत्री दल ने उनको नियुक्त किया हो उस के साथ जलसेना विभाग के लार्डों की तरह उनकी तरफ से इस्तीफा देने की आशा न रखनी चाहिये; वरंच जो नियम इस समय ब्रिटिश सेना के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्तिके सम्बन्ध में चलता है वह अच्छा है। अर्थात् जो लोग दरजे ब दरजे पदोन्नति के साधारण क्रम से नहीं, वरंच मनोनीत होकर

ऊंचे ओहदों पर आये हों वे सब फिर से नियुक्त न हों तो उनकी नियुक्ति सिर्फ खास मुद्दत तक हो। इस नियम से नियुक्ति मौरूसी न होने से उसका सट्टा होने की कुछ कम सम्भावना रहती है और इस के साथ ही जो लोग स्थायी रखने के सब से कम लायक मालूम हों उनको दूर करने से किसी को बुरा लगने का भय नहीं रहता और जिन थोड़ी मुद्दत के मगर ऊंची लियाकत के नौकरों को मृत्यु से खाली होनेवाली जगहों की या खुशी से इस्तीफा देने की बाट देखने में कभी मौका न मिल सके उनको नियुक्त करने का साधन मिलता है

परामर्श सभा जो केवल सलाहकार ही रहे तो इस रीति से कि अन्तिम निर्णय मन्त्री की अपनी निरकुंश सत्ता में रहना चाहिये—उसकी खुशी पर रहना चाहिये। परन्तु उसको ऐसा न समझना चाहिये कि वह सभा दूसरे के मन से या अपने मन से सचमुच शून्यवत् हो जाय अथवा मन्त्री की इच्छानुसार शून्यवत् की जा सके। एक प्रबल और शायद स्वच्छन्दी मनुष्य के साथ जुड़े हुए सलाहकारों को ऐसी शर्तें देनी चाहियें कि वे अपनी प्रतिष्ठा में बट्टा लगाये बिना राय देने से इनकार न कर सकें और उनकी सिफारिश मंत्री स्वीकार करे चाहे न करे परन्तु उसको बिना सुने और बिना विचारे न चले। जो सम्बन्ध प्रधान और उसके इस किस्म के सलाहकारों में होना चाहिये उसका विचार हिन्दुस्थान के गवर्नर जेनरल की और भिन्न भिन्न सूबों की मन्त्री (कार्यकारिणी) सभाएं बहुत ठीक तौर पर देती हैं। जो व्यवहारी ज्ञान गवर्नर जेनरल और गवर्नरों को बहुधा नहीं होता और जो उन में चाहना भी अभीष्ट नहीं गिना जाता वह जिन में हो उन पुरुषों की ये मन्त्री सभाएं बनी होती हैं। साधारण नियमा-

नुसार मन्त्री सभा के प्रत्येक सभासद् से राय देने की आशा की जाती है और बहुधा वह केवल सम्मति ही होती है, परन्तु जब मत भेद पड़ता है तब प्रत्येक सभासद को अपनी राय के लिए कारण दिखाने की छूट है। यह हमेशे का *रिवाज भी है और गवर्नर जेनरल या गवर्नर भी ऐसा ही* करते हैं। साधारण प्रसङ्गों में बहुमत से निर्णय होता है और इस से मन्त्री सभा को शासन प्रबन्ध में कुछ वास्तविक भाग मिलता है, परन्तु अगर गवनर जेनरल या गवर्नर उचित समझें तो उनको अपना कारण बताकर उनका संयुक्त मत *भी न मानने की स्वाधीनता है। परिणाम यह होता है कि* राज्य प्रबन्ध के प्रत्येक कृत्य के लिये प्रधान स्वयं पूर्ण रूप से जिम्मेवार रहता है। मंत्री सभा के सभासदों की सिर्फ सलाहकार की जिम्मेवारी रहती है: परन्तु उन में से प्रत्येक ने *क्या सलाह दी है और अपनी सलाह के लिये क्या कारण* दिखाया है वह जो लेख रूप में प्रकाशित करने योग्य होता है और पार्लीमेण्ट या लोक मत के अनुरोध से हमेशा प्रकाशित किया जाता है उस से सदा मालूम होता है। फिर उनका ऊंचा दरजा और राज्यप्रबन्ध के सब कामों में प्रत्यक्ष भाग होने से राजकाज में मन लगाने के लिये और उस के प्रत्येक विभाग पर अच्छी तरह विचारी हुई राय कायम करने तथा जानने के लिये उनको प्रायः ऐसा प्रबल हेतु है मानो सारी जिम्मेवारी उन्हीं के सिर पर है।

सब से ऊंचे दरजे के शासनप्रबन्ध का काम करने की यह पद्धति साध्य वस्तुओं के लिये अनुकूल साधनों का योग प्राप्त करने का एक सब से सफलतापूर्ण दृष्टान्त है; परन्तु राजनीतिक इतिहास अभी तक कुशलता और युक्ति की काररवाइयों में बहुत फलदायक नहीं हुआ है इससे उसको ऐसे

दूसरे दृष्टान्त दिखाना बाकी है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अमलदारी के अनुभव से राज्यनीति की कला में जो वृद्धि हुई है उसमें से यह एक है और जिन और बहुत सी बुद्धिमत्ता पूर्ण योजनाओं से हिन्दुस्थान इस देश के हाथ में रक्षित है और स्थिति तथा साधनों के लिहाज़ से सचमुच उसका विस्मय उपजाने वाला अच्छा राज्य प्रबन्ध चल रहा है उन योजनाओं की तरह, यह भी सम्भवतः जिस साधारण होम में हिन्दुस्थानी राज्यतंत्र के रीति रिवाज हमने को जान पड़ते हैं उसमें नष्ट होने को बनी है; क्योंकि वह सार्वजनिक अज्ञान और राजनीतिक पुरुषों के उद्धत और मिथ्या अभिमान के आश्रित है। मंत्री सभाओं को राज्यप्रबन्ध के पहियों में एक निकम्मी और खर्चीली कील मानकर निकाल डालने की पहले से चिल्लाहट मची हुई है; फिर जो मुलकी (सिविल) नौकरी इस मंत्री सभा में बैठने वाले सभासदों को शिक्षित करती है और जिसके रहने से उस सभा के कुछ भी वज़नदार होने की जमानत है उसको भी तोड़ डालने को कुछ समय से जबरदस्त पुकार मच रही है और प्रति दिन सबसे ऊंचे स्थानों में अधिक कृपा पाती जाती है।

जनसम्मत राज्यतंत्र में अच्छे राज्यप्रबन्ध का एक सबसे आवश्यक नियम यह है कि शासन विभाग का कोई हाकिम लोक निर्वाचन से—लोगों के खास मत से या उनके प्रतिनिधि के मत से—नियुक्त न होना चाहिये। राज्यप्रबन्ध का सारा व्यवहार कुशलता का काम है उसे करने के लिये आवश्यक गुण ऐसे खास और व्यवहारी पंक्ति के हैं कि जिसमें उन गुणों का कुछ अंश होगा या कोई प्रबन्ध का अनुभव रखता होगा उसी से उन गुणों की उचित परीक्षा हो सकती है, दूसरे से नहीं। सरकारी ओहदे सौंपने के लिये सबसे योग्य पुरुष ढूंढ़ निका-

रखने का काम—जो अपने सामने आवें उन्हीं में से सबसे अच्छे को चुनने का नहीं, वरंच सबसे अच्छे को ढूंढ़ने का और जब चाहे तब मिल सके इसके लिये जिन जिन योग्य पुरुषों का समागम हो उन सबकी याददाश्त बनाने का काम बड़ी मिहनत का है और उसमें सूक्ष्म तथा अति प्रामाणिक दृष्टि दरकार है। और ऐसा कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं है जिसका इसकी अपेक्षा साधारणतः बहुत बुरी तरह पालन होता हो और इसकी अपेक्षा जिसमें भिन्न भिन्न विभागों के मुखियों के सिर यथासाध्य पूरी जिम्मेवारी रखने और उनसे एक खास फर्ज के तौर पर अदा करने की बहुत जरूरत हो। जो किसी साधारण चढ़ाऊपरी की परीक्षा द्वारा नियुक्त नहीं होते उन सब नीचे के ओहदे वालों को जिसकी मातहती में वे काम करते हों उस मंत्री की प्रत्यक्ष जिम्मेवारी पर नियुक्त करना चाहिये। प्रधान मंत्री के सिवा और सब मंत्रियों को स्वाभाविक तौर पर उनका प्रधान मंत्री चुनता है और प्रधान मंत्री स्वयं भी यद्यपि वस्तुतः पार्लामेण्ट से चुना जाता है तथापि राजसत्ता में उसकी नियमपूर्वक नियुक्ति तो राजा के हाथ से ही होनी चाहिये। अगर कोई मातहत कर्मचारी हटाने योग्य हो तो जो हाकिम उसे नियत करता हो उसी के हाथ में उसे हटाने की सत्ता होनी चाहिये; परन्तु ऐसे कर्मचारियों की अधिक संख्या खास अपने अनुचित व्यवहार के बिना हटाने योग्य न होनी चाहिये; क्योंकि जिनके हाथ से राज्यकार्य का सारा विस्तृत प्रबन्ध होता है और जिनके गुण मंत्री के निज गुण की अपेक्षा जनता के लिये साधारणतः बहुत अधिक जरूरी हैं उन मनुष्यों का समूह, इस गरज से कि मंत्री अपनी इच्छानुसार चल सके या दूसरे किसी को नियुक्त कर अपने राजनीतिक लाभ की वृद्धि कर सके, बिना किसी कसूर के

हटा देने योग्य हो तो भी ऐसी आशा रखना व्यर्थ है कि यह अपने काम में मन लगावेगा और जिस ज्ञान और कुशलता पर मंत्री को बहुत पूरा भरोसा रखना पड़ता है उसे प्राप्त करेगा।

जो नियम लोकमत द्वारा शासन विभाग के हाकिमों की नियुक्ति को निन्दनीय ठहराता है उसमें जनसत्ताक राज्य के शासन विभाग का मुख्य अधिकारी अपवाद रूप होना चाहिये या नहीं? अमेरिकन राज्यतंत्र में सारी जनता के हाथ से राष्ट्रपति के चुनाव के लिये हर चौथे वर्ष का जो कायदा रखा है यह अच्छा है या नहीं? यह प्रश्न कठिनाई से खाली नहीं है। अमेरिका जैसे देश में तो बेशक कुछ सुभीता है; क्योंकि यहां एकाध अनसोची युक्ति द्वारा प्रधान मंत्री को कानून बनाने वाली सभा से कानून के रूप से स्वतंत्र हो जाने का और राज्य तंत्र की दोनों बड़ी शाखाएँ जब तक अपनी उत्पत्ति और जिम्मेवारी में एक समान लोकप्रिय हैं, तब तक उनमें एक दूसरी की अमलदार निगरां बने रहने का भय करने की जरूरत नहीं है। महान सत्ताओं को एक ही हाथ में संचय न होने देने का जो आग्रही संकल्प अमेरिकन राज्यसंयोग का एक लाक्षणिक चिन्ह है उसके लिये यह योजना अनुकूल है; परन्तु इस दृष्टान्त में यह लाभ लेने के लिये जो मूल्य देना पड़ता है वह उसके सब वास्तविक हिसाब से बाहर का है। जैसे नियंत्रित राजसत्ता में प्रधान मंत्री को नियुक्त करनेवाली वास्तव में प्रतिनिधि सभा है वैसे यह बहुत अच्छा जान पड़ता है कि जनसत्ताक राज्य में भी मुख्य अधिकारी (चीफ मजिस्ट्रेट) को स्पष्ट रूप से वही नियत करे। पहले तो अगर वह इस तरह नियुक्त होगा तो अवश्य करके बहुत उत्तम मनुष्य होगा। जिस पक्ष का पार्लामेंट में बहुमत होगा वह नियम पूर्वक अपने नेता को नियुक्त

करेगा और वह नेता राजनीतिक जगत में हमेशा एक अगुआ और बहुधा सब में अगुआ होगा; परन्तु अमेरिकन संयुक्त राज्य के संस्थापकों में से सब से पिछला मनुष्य जब से अन्तर्द्धान हुआ तब से उसका अध्यक्ष तो प्रायः सदा एक अपरिचित पुरुष होता है अथवा अगर वह कुछ भी प्रतिष्ठा पाये रहता है तो राज्यनीति से किसी भिन्न ही विषय में। और जैसा कि मैं ने कहा है, यह कुछ अकस्मात नहीं है वरंच वर्त्तमान स्थिति का स्वाभाविक परिणाम है। चुनाव का जो ढंग सारे देश में फैल रहा है उसमें पक्ष के सब से उत्कृष्ट पुरुषों की उमेदवारी कभी सब से लाभकारी नहीं निकलती। सब उत्कृष्ट पुरुष अपने सिर पर शत्रु खड़े किये रहते हैं अथवा उन्हों ने ऐसा कोई काम किया होगा जिससे जनता के एक या दूसरे बड़े स्थानिक विभाग का मन दुखी हुआ होगा और मत संख्या पर हानिकारक असर पड़ना संभव होगा, अथवा और कुछ नहीं तो ऐसी कोई राय ही जाहिर की होगी। परन्तु जो मनुष्य अपना पहिले का कुछ प्रसिद्ध चरित्र नहीं रखता, जिस के विषय में कुछ जानकारी नहीं है सिवा इसके कि वह अपने पक्ष का मत रखता है, उसके लिये पक्ष की सारी सेना तत्परता से मत देती है। जब राज्य का सब से उच्च पद प्रति कुछ वर्षों पर लोक निर्वाचन से देने को होता है तब सारा बचा हुआ समय मत की याचना में जाता है। राष्ट्रपति मंत्री, पक्ष के मुखिया और उनके अनुयायी सभी मत-याचक हैं; राज्य नीति के सम्बन्ध में सारी जनता का ध्यान केवल पुरुष-लक्षण पर लगा रहता है और प्रत्येक सार्वजनिक प्रश्न के विषय में चर्चा चलाने और निर्णय करने में उसके अध्यक्ष के चुनाव पर होने वाले कल्पित प्रभाव का जितना विचार रखा जाता है उसकी अपेक्षा उसके गुण दोष

का विचार कम रखा जाता है। अगर सब राज्यकार्यों में पक्षापक्ष भाव को एकही प्रधान क्रिया-प्रणाली बना डालने के लिये और हर एक प्रश्न को सिर्फ पक्ष प्रश्न बनाने के नहीं बरंच नया पक्ष कायम करने के मतलब से नया प्रश्न खड़ा करने का भी लालच उत्पन्न करने के लिये एक नयी पद्धति चलायी गयी होती तो उस उद्देश्य के अनुकूल आने की अपेक्षा कुछ भी अधिक अच्छा उपाय करना मुश्किल हो जाता।

मैं निश्चय पूवक यह नहीं कहूंगा कि जैसे इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री का सारा दारमदार प्रतिनिधि सभा के मत पर है और इसमें कुछ अड़चल नहीं पड़ती वैसा ही सब स्थानों में और सब समय शासन विभाग के प्रधान का दारमदार मानना उचित होगा अगर इससे बचने का मार्ग सब से अच्छा लगता हो तो ऐसा रखें कि उसकी नियुक्ति तो पार्लीमेण्ट करे परन्तु वह अपने पद पर निर्द्धारित और पार्लीमेण्ट के मत से स्वतंत्र मुद्दत तक रह सके और यह रीति लोकनिर्वाचन और उसके दोषों से मुक्त अमेरिकन पद्धति हो जायगी। शासन विभाग के प्रधान को कानून बनानेवाली सभा से स्वतंत्र, राज्यतंत्र के अंगीभूत तत्त्वों के अनुकूल आने योग्य स्वतंत्रता देने की एक दूसरी रीति है। जैसे ब्रिटिश प्रधान मंत्री को पार्लीमेण्ट भंग करने और जनता से प्रार्थना करने की वास्तविक सत्ता है वैसी सत्ता अगर उसको हो और अगर सभा के विरुद्ध मत से पद से अलग हो जाने के बदले उसको इस्तीफा देने या सभा विसर्जित करने के दो में से एक रास्ता पकड़ने की ही छूट रहे तो उसके ऊपर पार्लीमेण्ट की अनुचित सत्ता कभी नहीं रह सकेगी। यह मैं उचित समझता हूं कि जिस पद्धति में उसका अपने पद का उपभोग खास मुद्दत तक निर्भय रहता हो उसमें भी उसके हाथ में पार्लीमेण्ट भंग

करने की सत्ता होनी चाहिये। सभापति और सभा दोनों में से एक को कभी वर्षों की लम्बी मुद्दत तक एक दूसरे से अलग होने का कोई कानून के रू से उपाय न हो तो उन दोनों में झगड़ा उठने पर ऐसी कोई सम्भावना न रहनी चाहिये कि राज्यकार्य में भारी अड़चल पड़ जाय। इतनी लम्बी मुद्दत तक दो में से एक या दोनों तरफ से कुछ कूट युक्ति आजमाये विना यों ही सुगमता से काम चलाते रहने के लिये तो स्वतंत्रता के जिस प्रेम का और मनोनिग्रह के जिस अभ्यास का योग मिलने की जरूरत है उसके पात्र अब तक थोड़े ही समाज मालूम हुए हैं। और यह अन्तिम परिणाम न निकले तो भी दोनों सत्ताओं की तरफ से एक दूसरे के काम को तोड़ न डालने की आशा रखना यह मान लेने के बराबर है कि उनमें परस्पर मौन और सावधानता की ऐसी वृत्ति व्याप्त रहेगी कि राजनीतिक व्यवहार में तीव्र पक्ष विरोध का विकार और उत्तेजना उन्हें कभी वेध नहीं सकेगी। ऐसी वृत्ति कभी हो भी तो जहां हो वहां भी उसको सीमा से बाहर आजमाने में मूर्खता है।

दूसरे कारणों से भी यह इष्ट जान पड़ता है कि राज्य में किसी सत्ता को (और वह सिर्फ शासन सभा हो सकती है) चाहे जिस समय जैसा उचित जंचे उसके अनुसार नयी पार्लामेण्ट बुलाने की छूट होनी चाहिये। दो विरोधी पक्षों में से किसको प्रबल सहारा है इसमें जब सचमुच सन्देह हो तब इस विषय का, तुरत परीक्षा कर, निर्णय करने का कानून के रू से उपाय होना जरूरी है। जब तक यह विषय अनिश्चित रहता है तब तक दूसरे किसी राजनीतिक विषय पर उचित ध्यान देना सम्भव नहीं है; और यह देर कानून सम्बन्धी या शासन सम्बन्धी सुधार के विषय में राज्य-

व्याघात (खलल) समान है; क्योंकि प्रस्तुत विवाद में जिसका कुछ भी प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध होता है उस जगह जिसमें विरोध उपजने की सम्भावना रहती है उस विषय को हाथ में लेने लायक विश्वास किसी पक्ष को अपने बल पर नहीं होता।

जहां मुख्य अधिकारी के हाथ में अधिक सत्ता का अभाव होने से और स्वतंत्र राज्यतंत्र पर जनता की अपूर्ण प्रीति होने से उसे राज्यतंत्र उलट कर सर्वोपरि सत्ता हथिया लेने के प्रयत्न में सफलता पाने की सम्भावना होती है उस प्रसङ्ग को मैंने हिसाब में नहीं लिया है। जहां ऐसा जोखिम मौजूद हो वहां ऐसा मुख्य अधिकारी—हाकिम काम का नहीं है जिसको पार्लमेण्ट अपने पहिले ही प्रहार से बरखास्त न कर सके। जहां सब प्रकार के विश्वासघात में इन सब से उच्छृङ्खल और निर्लज्ज विश्वासघात को कुछ भी उत्तेजन की आशा रहती हो उस स्थिति में मुख्य अधिकारी की ऐसी पूर्ण नियमित पराधीनता की रक्षा भी व्यर्थ ही है।

राज्यतंत्र के सब हाकिमों में से न्याय के अधिकारी की नियुक्ति में तो जन-मत के कुछ भी भाग लेने में सब से भारी उज्र है। जहां ऐसा और कोई अधिकारी नहीं है जिसके खास और व्यवहारी गुण को समझने के लिये जनमत कम लायक हो वहां ऐसा भी नहीं है कि जिसमें उसी के इतना सम्पूर्ण निष्पक्षपात और राजनीतिक पुरुष या राजनीतिक पक्ष के साथ सम्बन्ध का अभाव हो। कितने ही तत्त्वज्ञानियों का और उनमें मि० बेन्थम का यह अभिप्राय है कि यद्यपि न्यायाधीश का लोकनिर्वाचन से नियुक्त न होना अधिक अच्छा है तथापि यथेष्ट अनुभव के बाद उनको अधिकार से अलग करने की सत्ता उनके जिले के लोगों को होना चाहिये। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि जिस सरकारी

अफसर के हाथ में भारी लाभ सौंपा गया हो उसको दूर करने की अशक्ति स्वयं ही एक दोष है। यह वाञ्छनीय नहीं है कि किसी खराब या अयोग्य न्यायाधीश को-- ऐसे अनुचित बर्ताव के सिवा, जिसके लिये फौजदारी सपुर्द कर सकते हैं; और किसी कारण से दूर करने का कोई उपाय न हो और जिसके ऊपर इतना अधिक दारमदार रहता है वह अफसर जनमत या अपने ही अन्तःकरण के सिवा दूसरे किसी जवाबदेही से अपने को बरी समझे। फिर भी प्रश्न यह है कि न्यायाधीश की खास पदवी में, और ईमानदारी की नियुक्ति के लिये यथाशक्ति सब उपाय किये गये मान लें तो सरकार या लोकमत के सामने जवाबदेही की अपेक्षा अपने और सामाजिक अन्तःकरण के सिवा दूसरी किसी वेजिम्मेवारी की स्थिति में उसका बर्ताव बिगड़ने का क्या एक तरह से कम रुख रहता है? शासनविभाग की जिम्मेवारी के सम्बन्ध में तो अनुभव से निश्चय हुआ है कि ऐसा है। और उसके ऊपर जो जवाबदेही डालना चाहते हैं वह चुनने वाले के मत की हो तो भी दलील उतनी ही मजबूत रहती है। न्यायाधीश में खास करके आवश्यक शान्तता और निष्पक्षपात के गुण लोकमत समितियों के गुणों में नहीं गिने जाते। सौभाग्य से स्वतन्त्रता पर भी जिस लोकमत के अंकुश की आवश्यकता है उसमें इन गुणों की जरूरत नहीं है। न्याय का गुण भी यद्यपि सब मनुष्यों के लिये और इससे सब मतधारियों के लिये जरूरी है तथापि यह किसी चुनाव में निर्वाचित करने वाली वृत्ति नहीं है। न्याय और निष्पक्षपात पार्लीमेण्ट के सभासद में उतना ही कम आवश्यक है जितना मनुष्य के किसी साधारण कार्य व्यवहार में। मतधारियों का काम हकदार उमेदवार को हक देने या प्रतिद्वन्द्वियों के सामान्य

गुणों के विषय में निर्णय करने का नहीं है वरंच इतना ही प्रगट करने का है कि उनमें से किस उमेदवार पर उनको सब से अधिक विश्वास है और कौन उनके राजनीतिक अभिप्रायों का सब से अच्छा प्रतिनिधि है। न्यायाधीश तो दूसरे मनुष्यों के साथ जैसा बर्ताव करता है वैसा ही बर्ताव अपने राजनीतिक मित्र या अपने निकटस्थ परिचित पुरुष के साथ करने को बाध्य है; परन्तु अगर मतधारी ऐसा करें तो मूर्खता और कर्त्तव्य भङ्ग भी समझा जाय। लोकमत के सात्विक अंकुश से जैसे दूसरे हाकिमों पर हितकारी असर होता है वैसे न्यायाधीशों पर होगा इस बुनियाद पर कोई दलील नहीं कायम की जा सकती, क्योंकि इस विषय में जो न्यायाधीश अपने न्याय के काम के लिये लायक होता है उसके काम पर भी जिसका सचमुच उपयोगी अंकुश रहता है यह (कितनी ही बार राजनीतिक मुकद्दमों में जैसा होता है उसके सिवा) साधारण जनता का अभिप्राय नहीं है, वरंच जो एक मात्र सार्वजनिक संस्था उस न्यायाधीश के बर्ताव और गुणों की योग्य परीक्षा कर सकती है उसका अर्थात् उसकी अपनी ही अदालत की वकील सभा का अभिप्राय है। मेरे कहने का मतलब यह न समझना चाहिये कि साधारण जनता का न्याय प्रबन्ध में भाग लेना कुछ जरूरी नहीं है; यह तो सब से अधिक जरूरी है। परन्तु किस तरह? न्याय-पंच (जुरी) की हैसियत से न्याय के काम का कुछ भाग स्वयं करके। जिन थोड़े से प्रसङ्गों में लोगों को अपने प्रतिनिधि की मार्फत काम करने की अपेक्षा स्वयं करना बहुत अच्छा है उनमें से एक यह है; और यही एक प्रसङ्ग ऐसा है कि जिस में हुकूमत चलाने वाले पुरुष की की हुई भूलों के लिये उसे जवाबदेह बनाने से जो परिणाम निकलता

है उसकी अपेक्षा उन भूलों को स्वयं सहन करना अधिक अच्छा है। अगर न्यायाधीश को अपने ओहदे से लोकमत द्वारा दूर कर सकते हों तो जो लोग उसे मौकूफ कराना चाहते होंगे उनमें से प्रत्येक जन इस मतलब से उसके इन्साफ के फैसले से उपाय ढूंढ़ निकालेगा। मुकद्दमे न सुने हुए होने से अथवा न्यायश्रवण में वांछित सावधानी या निष्पक्ष वृत्ति विना सुने हुए होने से कुछ भी राय कायम करने को बिलकुल असमर्थ जनता के सामने अनियमित प्रार्थना के रूप में वे लोग यथासाध्य उन सब उपायों को पेश करेंगे; जहां क्रोध और विरुद्ध भाव होगा वहां उसको भड़कावेंगे और जहां नहीं होगा वहां नये रूप से जगाने की कोशिश करेंगे। अगर प्रसङ्ग रोचक होगा और वे मनुष्य पूरी मिहनत करेंगे और उनके विरुद्ध न्यायाधीश या उसके मित्र रंगभूमि में उतर कर विरुद्ध पक्ष में वैसा ही मजबूत कारण नहीं दिखावेंगे तो वे अपने उद्देश्य में अवश्य विजय पावेंगे। परिणाम यह होगा कि न्यायाधीश सोचेगा कि सामाजिक स्वार्थ सम्बन्धी हर एक मुकद्दमे में उसका किया हुआ फैसला उसके ओहदे को जोखिम में डालेगा और उसे जिस बात का विचार करना अधिक आवश्यक है वह यह नहीं कि कौन सा फैसला न्याय पूर्वक है वरंच कौन सा फैसला लोगों में सब से अधिक बखाना जायगा अथवा दुष्ट छल कपट चलाने में सब से कम साधनभूत होगा। अमेरिका में कुछ माण्डलिक राज्यों के नये या सुधरे हुए राज्यतन्त्रों ने न्यायाधिकारियों को नियत मुद्दत पर नये लोक निर्वाचन के लिये पेश करने का जो रिवाज जारी किया है, मैं तो समझता हूं कि वह एक इतनी बड़ी भूल साबित होगी कि जितनी बड़ी भूल जनसत्ताक राज्य ने अभी तक नहीं की होगी। और

व्यवहार सम्बन्धी जो अच्छी समझ संयुक्त राज्य (अमेरिका) के लोगों को कभी पूर्ण रूप से नहीं छोड़ती वह इसके विरुद्ध आन्दोलन करने लगी है और इससे अन्त में यह भूल सुधरना सम्भव है यह जो कहा जाता है यह न होता तो यह समझा जाता कि आधुनिक जनसत्ताक राज्य की अधोगति की ओर सचमुच बहुत बड़ा पहला कदम बढ़ाया गया है। *

जिस बड़े और आवश्यक मण्डल में सरकारी नौकरी का स्थायी दल है अर्थात् जो लोग राज्यनीति के परिवर्त्तन से नहीं बदलते वरंच जो प्रत्येक मंत्री को अपने अनुभव और प्रबन्ध सम्बन्धी ज्ञान की मदद देते, उसे कार्य व्यवहार की जानकारी से जानकार बनाते और उसकी साधारण निग-

* फिर भी मुझे खबर मिली है कि जिन माण्डलिक राज्यों में न्यायाधीश लोक निर्वाचन से नियुक्त हुए हैं वहां उनका निर्वाचन वास्तव में जन समूह नहीं करता वरंच पक्षों के नेता करते हैं; कोई मतधारी पक्ष उमेदवार के सिवा दूसरे किसी को मत देने का ख्याल करता ही नहीं; इस कारण से राष्ट्रपति या माण्डलिक राज्य के गवर्नर के हाथ से जो पुरुष नियुक्त होता वही बहुत करके असल में चुना जाता है। इस प्रकार एक बुरा रिवाज दूसरे बुरे रिवाज को अंकुश में रखता है या सुधारता है। और पक्ष के झंडे तले सदा बांध कर मत देने का जो रिवाज (जहां चुनाव का काम हर समस्त जन समूह को सौंपा हुआ रहता है उन सब प्रसंगों में ऐसे दोष से भरा है, वही रिवाज) जहां चुने जाने वाले ओहदेदार लोगों के हाथ से नहीं वरंच उनकी तरफ से दूसरों के द्वारा पसन्द किये जाने चाहियें उस प्रसंग में उससे भी भारी दोष का बल दबाने का बल रखता है। ग्रंथकार।

रानी में महकमे का फुटकर काम करने के लिये कायम रहते हैं—सारांश यह कि जिन से व्यवहार कुशल सरकारी नौकरों का समूह बना है और जो दूसरे लोगों की तरह, ज्यों ज्यों उमर में बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों ऊंचे ओहदे पर पहुंचन की आशा रखकर अपना काम छोटी उमर से, आरम्भ करते हैं—उनके सम्बन्ध में तो स्पष्ट है कि उनको प्रत्यक्ष साबित और गहरे अनुचित बर्ताव बिना हटाने और अपनी पुरानी नौकरी के सारे लाभ से हाथ धोने का पात्र ठहराना अनुचित है। अलबत्ता यह भूल वही नहीं है जिसके लिये उन पर कानूनी कारवाई की जा सकती है वरंच कर्त्तव्य पालन में जान बूझ कर की हुई लापरवाही, या जिन उद्देश्यों से उनको काम सौंपा जाता है उनके सम्बन्ध में वे एतबारी सूचित करनेवाला बर्ताव भी उसमें शामिल है। इस से अगर उनके ऊपर व्यक्तिगत अपराध लगाने का मौका न हो तो उन से बचने का मार्ग इतना ही है कि उनको पेंशनियों के तौर पर जनता के मत्थे ठोंक दें अर्थात् पेंशन देकर काम से अलग कर दें। अतएव सब से आवश्यक बात यह है कि आरम्भ में ही नियुक्ति अच्छे ढङ्ग से की जाय; और इस से विचारने को यह रहता है कि किस प्रकार की नियुक्ति से यह उद्देश्य भली भांति सधेगा।

पहले पहल नियुक्त करने में, पसन्द करने में खास होशियारी और ज्ञान के अभाव का भय थोड़ा ही है परन्तु पक्षपात और निज के या राजनीतिक स्वार्थ का भय अधिक है। वे लोग साधारण तौर पर अपना काम सीखे हुए होने के कारण नहीं, वरंच सिखाने के उद्देश्य से जवानी के आरम्भ में नियुक्त किये जाते हैं इस से अच्छा उमेदवार परख निकालने का जो एक ही साधन है वह उच्च शिक्षा की साधारण शाखाओं में प्रवीणता है, और इसकी परीक्षा करने के लिये

जो लोग नियुक्त किये जायं वे अगर उचित ध्यान और निष्पक्ष भाव रखेंगे तो विना कठिनाई के निश्चय कर सकेंगे। इन दो में से किसी एक गुण की वास्तविक आशा मन्त्री में नहीं रखी जा सकती; क्योंकि उसको सारा भरोसा सिफारिश पर रखना पड़ेगा और वह अपने मन से चाहे जैसा निःस्पृह हो तो भी जिस मनुष्य को उसके चुनाव पर प्रभाव डालने की सत्ता होगी अथवा जिस का राजनीतिक सम्बन्ध वह जिस मन्त्री दल में है उसके लिये आवश्यक होगा उसकी प्रार्थना के विरुद्ध वह कभी नहीं ठहर सकेगा। इन कारणों से राजनीतिक मामले में न पड़ने वाले और विश्वविद्यालयों की सम्मानित पदवियों (आनर की डिगरियों) के लिये नियुक्त होनेवाले परीक्षकों के समान वर्ग और गुणवाले पुरुषों द्वारा ली जानेवाली सार्वजनिक परीक्षा में सभी पहली नियुक्ति के उमेदवारों को शामिल करने का रिवाज जारी हुआ है। चाहे जो पद्धति हो उसमें यह युक्ति सम्भवतः सब से अच्छी जंचेगी और हमारे पार्लामेण्टरी राज्यतंत्र (गवर्नमेण्ट) की,—मैं सिर्फ प्रामाणिक नियुक्ति की सम्भावना की बात नहीं कहता बरंच स्पष्टरूप से और खुल्लमखुल्ला उच्छृंखल नियुक्तियों को रोकने की सम्भावना भी इसी युक्ति में दिखाई देती है।

फिर सब से जरूरी बात यह है कि ये परीक्षायें चढ़ा ऊपरी की होनी चाहियें और इनमें जो बहुत सफलता के साथ उत्तीर्ण हों उन्हीं को जगहें मिलनी चाहियें। केवल मामूली परीक्षा अन्त में मूर्खों को छांटने के सिवा और कुछ नहीं करती। जब परीक्षक के मन में यह प्रश्न उठता है कि किसी मनुष्य के भविष्य पर पानी फेरें या सार्वजनिक कर्त्तव्य को जो उसके किसी खास दृष्टान्त में तो मुश्किल से पहले

दरजे का जरूरी जंचता है छोड़ दें, जब पहली कारर्वाई के लिये उसे उलहना मिलने का भरोसा रहता है और दूसरा कर्त्तव्य इसने पाला है कि नहीं यह साधारणतः कोई जानता भी नहीं या इसकी परवा भी नहीं करता तब अगर वह परीक्षक कुछ असाधारण प्रकृति का नहीं होगा तो उसका मन भलाई की तरफ झुकेगा। एक दृष्टान्त में कृपा करने से दूसरों के विषय में यह कृपा हक मांगती है और प्रत्येक नयी नयी कृपा से इस वृत्ति को रोकना दिन दिन कठिन होता जाता है, बार बार जितनी ही कृपा की जाती है उतनी अधिक कृपा के लिये दृष्टान्त बनते जाते हैं और अन्त को योग्यता का दरजा गिरते गिरते इतना नीचे आ जाता है कि तिरस्कार का पात्र हो जाता है। हमारे दो बड़े विश्व-विद्यालयों में सम्मानित उपाधि की परीक्षाएं आवश्यक विषयों में जितनी भारी और करारी हैं उतनी ही साधारण उपाधि की परीक्षाएं सहज हैं। जहां कम से कम जरूरी नम्बर से बढ़ने का कुछ लोभ नहीं होता वहां वह कम से कम नम्बर अधिक से अधिक हो जाता है, उससे अधिक की आशा न रखने का साधारण रिवाज पड़ जाता है और प्रत्येक विषय में कितने ऐसे होते हैं कि जो सोचे हुए होते हैं उन सब का सम्पादन नहीं करते। इस से धोरण चाहे जितना हलका रखा जाय तो भी कितने ऐसे होंगे जो कभी उस हद तक पहुंचने के नहीं। इसके विरुद्ध जब उमेदवारों की बड़ी संख्या में से जो सब से अच्छे निकलते हैं उन्हीं की नियुक्ति की जाती है और सफलता प्राप्त प्रतिद्वन्द्वियों की योग्यता के अनुक्रम से श्रेणी बनायी जाती है तब प्रत्येक जन यथाशक्ति सब से अधिक प्रयत्न करने को उत्साहित होता है; इतना ही नहीं, बरंच सारे देश की उच्च शिक्षा के प्रत्येक स्थान में उसका असर होता है।

इन प्रतिद्वन्द्वियों में ऊंचा ओहदा पाने वाले शिष्य तय्यार किये रहने से प्रत्येक विद्यालय के शिक्षक को अधिक उत्साह मिलता है और सफलता का मार्ग खुलता है। राज्यतंत्र (सरकार) के लिये सारे देश की शिक्षा के स्थानों की योग्यता में इतनी बड़ी वृद्धि करने का दूसरा मार्ग शायद ही होगा। सरकारी नौकरी के लिये चढ़ा ऊपरी की परीक्षा का नियम इस देश में यद्यपि इतना ताजा है और अभी तक इतनी अपूर्णता से अमल में आया है—और अगर अपने पूर्णरूप में है तो प्रायः केवल हिन्दुस्थान की मुलकी नौकरी (इंडियन सिविल सर्विस) के विषय में है (इसके प्रत्येक विषय में निर्दिष्ट नम्बर के सिवा जोड़ में सब से अधिक नम्बर लाने वालों में से कुछ चुने जाते हैं) और इन परीक्षाओं ने देश की शिक्षा की जिस वर्तमान लज्जापूर्ण ओछी स्थिति पर प्रकाश डाला है उसकी तरफ से इस नियम को रुकावट पहुंची है; तथापि माध्यमिक शिक्षा के स्थानों पर उसका अब से कुछ जानने योग्य असर हुआ है। मंत्री के पसंद करने योग्य जवानों में उमेदवारी का हकदार मानने के लिये, जो ज्ञान सम्पत्ति मांगी जाती है उस का धोरण उनमें ऐसा हीन मालूम हुआ है कि ऐसे उमेदवारों की चढ़ा ऊपरी का परिणाम मामूली परीक्षा के परिणाम से भी प्रायः घटिया निकलता है; क्योंकि जो धोरण ऐसे एक युवक को अपने साथी उमेदवारों की अपेक्षा अधिक अच्छा निकलने में प्रत्यक्ष रीति पर यथेष्ट देखने में आया है वैसा हलका धोरण तो मामूली परीक्षा के लिये मुकर्रर करने का विचार भी नहीं किया जाता। इस से यह कहा जाता है कि औसत से ज्ञान सम्पत्ति में प्रति वर्ष घाटा पड़ता दिखाई देता है; क्योंकि पहले किये हुए प्रयत्न उद्देश्य साधने के लिये उचित से अधिक भारी थे यह बात पहली परीक्षाओं के परि-

णाम से साबित हुई है इस से कम प्रयत्न किया जाता है। किसी कदर इस प्रयत्न के घटने से और किसी कदर जिस परीक्षा में ऐसी पहली पसन्द की जरूरत नहीं है उसमें भी अपनी अज्ञानता की जानकारी से, प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या सिर्फ मुट्ठी भर हो जाने से ऐसा हुआ है कि यद्यपि अच्छी प्रवीणता के थोड़े से दृष्टान्त हमेशा मिल गये हैं तथापि सफलता प्राप्त उमेदवारों की सूची के निचले भाग ने सिर्फ बहुत मामूली ज्ञान दिखाया है; और हम परीक्षकों के कहने से जानते हैं कि छात्रों के फेल होने का कारण ज्ञान की सब से ऊंची शाखाओं का नहीं, वरञ्च सब से हलके मूल तत्त्वों (अच्छरौटी और अंकगणित) का अज्ञान था।

लोक मत के कुछ मुख पत्रों की तरफ से इन परीक्षाओं के विरुद्ध जो चिल्लाहट मचायी जाती है उसके विषय में मैं खेद के साथ कहता हूँ कि वह बहुधा चिल्लाहट मचाने वालों की अच्छी समझ के लिये तथा उनकी शुद्ध बुद्धि के लिये कम ही प्रतिष्ठा जनक है। जिस किस्म का अज्ञान परीक्षाओं में निष्फल होने का अवश्य कर के प्रत्यक्ष कारण है उसको पहले वे किसी कदर झूठे रूप में दरसाना आरम्भ करते हैं। जो सब गूढ़ प्रश्न * कभी पूछे जाते हैं और इस के दृष्टान्त दिये जा सकते हैं, उन सबको उद्धृत करके उन पर ज़ोर दिया जाता है और यह दिखाया जाता है मानो उन सब का बेधड़क

---

* फिर भी हमेशा बहुत गूढ़ नहीं होते; क्योंकि चढ़ाऊपरी की परीक्षा के विषय में आम सभा में एक ताजा उज्र उठाने वाला ऐसा भलेमानस था कि परीक्षक जो बेहद ऊंचे दरजे का वैज्ञानिक ज्ञान मांगने की मूर्खता करते हैं उस के सबूत में उसने बीजगणित, इतिहास और भूगोल के प्रायः मूल तत्व सम्बन्धी प्रश्नों का पुलिन्दा पेश किया था।

उत्तर देना ही सफलता की आवश्यक अवस्था रखी है। फिर भी इसके उत्तर में बार बार यह कहने में उठा नहीं रखा गया कि ऐसे जो प्रश्न पूछे जाते हैं वे इस आशा से नहीं कि प्रत्येक जन की ओर से उसका उत्तर मिलेगा वरंच जो कोई उत्तर देने को समर्थ हो उसको अपने ज्ञान के उस विभाग का सबूत देने और उसका लाभ लेने का मौका देने के लिये। यह जो मौका दिया जाता है वह निष्फल करने के उद्देश्य से नहीं, वरंच सफलता की वृद्धि के साधन के तौर पर। इसके बाद हम से यह पूछा जाता है कि इस या उस या और किसी प्रश्न में जिस किस्म का ज्ञान चाहा गया है वह उमेद-वार के एक बार अपना मतलब सिद्ध करने के बाद उसके किसी काम आ सकता है या नहीं? कौन सा ज्ञान काम का है इस विषय में भिन्न भिन्न मनुष्यों के अभिप्राय भिन्न भिन्न होते हैं। कितने विद्यमान पुरुष, जिन में परराष्ट्र विभाग के एक भूतपूर्व मंत्री भी हैं, यह समझते हैं कि एलची के मुसाहिब या सरकारी दफ्तर के क्लर्क को अंगरेजी अक्षरौटी (स्पेलिंग) का ज्ञान व्यर्थ है। जिस एक विषय पर सब उज्र उठाने वाले एकमत जान पड़ते हैं वह यह है कि इन नौकरियों में और कुछ भले ही उपयोगी हो परन्तु मानसिक शिक्षा उपयोगी नहीं है। फिर भी अगर (जैसा कि मैं सोचने की हिम्मत करता हूं) यह उपयोगी है अथवा किसी तरह की शिक्षा कुछ भी उपयोगी है तो ऐसी परीक्षा लेनी चाहिये जिस से अच्छी तरह मालूम हो सके कि वह उमेदवार में है कि नहीं। वह अगर अच्छी तरह से शिक्षित हो तो जिन विषयों को वह जानता हो उन से उस काम का जिस पर वह नियुक्त होने को है, प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने पर भी उसने अच्छी तरह सीखा है कि नहीं इसका निश्चय करने के लिये उसकी उन विषयों

में परीक्षा लेने की जरूरत है। जिस देश में केवल संस्कारी (क्लासिक) भाषा और गणित के विषय ही नियम से सिखाये जाते हों वहां उन से संस्कारी भाषा और गणित में प्रश्न पूछने के विषय में जो लोग उज्र करते हैं वे क्या हम को बतावेंगे कि वे उन से किस विषय में प्रश्न करना चाहते हैं? परन्तु जान पड़ता है कि इन विषयों में या इनके सिवा दूसरे किसी विषय में पूछने देने में उनको एक समान आपत्ति है। जिन्हों ने व्याकरण शाला का पाठ्यक्रम पूरा न किया हो अथवा जो लोग वहां जो कुछ सिखाया जाता है उसमें अपने अल्प ज्ञान की कमी दूसरे किसी विषय के अधिक ज्ञान से पूरा कर सकते हैं उनके प्रवेश के लिये मार्ग खोलने की आतुरता में अगर परीक्षक दूसरे किसी वास्तविक उपयोग के विषय में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये नम्बर हासिल करने दें तो उस के लिये भी उन को उलहना मिलता है। उज्र उठाने वाले तो सम्पूर्ण अज्ञान के लिये प्रवेश का मार्ग खुलवाये बिना और किसी तरह सन्तुष्ट होने के नहीं।

हम से गर्व के साथ कहा जाता है कि सैनिक यंत्रविद्या के अभ्यासक की पदवी (इंजीनियरी) के उमेदवार के लिये जो परीक्षा नियत की गयी है उस में क्लाइव * या वेलिंगटन † उत्तीर्ण न हो सकते। मानो क्लाइव और वेलिंगटन से जो चाहा नहीं गया वह उन्हों ने नहीं किया, इससे अगर उनसे चाहा गया होता तो वे न कर सकते। अगर कहने का मतलब इतना ही हो कि इन वस्तुओं के बिना महान सेनापति होना

* (१७२५-७४) १७५७ ईस्वी के प्लासी के युद्ध से हिन्दुस्थान में ब्रिटिश राज्य की नींव डालने वाला और पीछे बंगाल का गवर्नर।

† (१७६९-१८५२) इंगलैण्ड का एक महान सेनापति। इसने

सम्भव है तो जो दूसरी बहुत सी वस्तुएं महान सेनापतियों के लिये उपयोगी हैं उनके विना भी सम्भव है। महान् सिकन्दर * ने वावन † के नियम कभी नहीं सुने थे और जूलियस सीज़र ‡ फ्रांसीसी भाषा नहीं बोल सकता था। इसके बाद हम से यह कहा जाता है कि पुस्तक के कीड़े शारीरिक अभ्यास में अच्छे नहीं होते अथवा उनमें भद्र पुरुष के लक्षण नहीं होते । ऐसा जान पड़ता है कि जिन को पुस्तक ज्ञान का कुछ भी चसका लगा होता है उन सब के लिये यही नाम रखा जाता है। ऐसी नुक्ताचीनी की रीति आम तौर पर बड़े कुल के बेशऊरों में होती है। बेशऊर चाहे जो समझें परन्तु भद्रता के लक्षणों का या शारीरिक चपलता का उन्हें कुल पट्टा नहीं मिल गया है। जहां इस गुण की जरूरत है वहां उसकी खोज करना या अलग प्रबन्ध करना चाहिये परन्तु मानसिक गुणों को उससे अलग करके नहीं वरंच उनके शामिल हो। इस बीच में मुझे विश्वास जनक समाचार मिला है कि वूलिच की सैनिक शाला में

हिन्दुस्थान में मराठों पर विजय पाकर अंगरेजी राज्य दृढ़ किया और युरोप में पहले स्पेन में जीत कर और अंत को वाटर्लू की लड़ाई फतह कर नेपोलियन की सत्ता तोड़ी ।

* (३५६–३२३ ईस्वी सन् से पूर्व) मेसिडोनिया का राजा। इसने ईरानी राज्य पर चढ़ाई कर उस साम्राज्य को तोड़ा । † फ्रांस का एक प्रख्यात सेनापति और सैनिक यांत्रिक (इंजीनियर)। इसने बहुत से फौजी इंजीनियरी के काम किये थे। ‡ (१००–४४ ईस्वी सन् से पूर्व) यह रोम का पहला सम्राट् भी कहलाता है। यह जैसा सेनापति था वैसा ही वक्ता, ग्रंथकार और कानून बनाने वाला भी था।

पुरानी प्रणाली से भरती किये गये सैनिक छात्रों की अपेक्षा चढ़ाऊपरी वाले छात्र जितने श्रेष्ठ और विषयों में हैं उतने इन विषयों में भी। वे अपनी कवायद बड़ी तेजी से सीखते हैं और सचमुच ऐसी आशा भी रखी जाती है; क्योंकि जड़ की अपेक्षा बुद्धिमान पुरुष सब विषय बड़ी फुर्ती से सीखता है। और साधारण बर्ताव में भी वे लोग पुरानों के मुकाबले ऐसे बढ़े चढ़े मालूम होते हैं कि उस शाला के अधिकारी वहां से पुरानी प्रणाली का अन्तिम चिन्ह गायब करने वाले दिन की बाट देखते हैं। अगर ऐसा है—और ऐसा है कि नहीं यह निश्चय करना सहज है—तो आशा रखी जायगी कि सैनिक कार्य के विषय में तथा अधिक सबल कारण से दूसरे प्रत्येक धंधे में यह जो बार बार सुनने में आता है कि "ज्ञान से अज्ञान अच्छी योग्यता है" अथवा "उच्च शिक्षा के साथ चाहे जैसा प्रत्यक्ष में कम सम्बन्ध रखनेवाला अच्छा गुण ज्ञान के संसर्ग से अलग रहने से बढ़ने की सम्भावना है" उसका अन्त आवेगा।

यद्यपि सरकारी नौकरी में प्रथम प्रवेश का निर्णय चढ़ा ऊपरी की परीक्षा से होगा तथापि उसके बाद पदोन्नति का निर्णय भी उसी प्रकार करना बहुत बातों में असम्भव हो जायगा। यह तो, जैसा कि इस समय बहुत कर के होता है, नौकरी की मुद्दत और पसन्द की संयुक्त पद्धति से होना चाहिये। यही उचित जंचता है। जिनका काम दस्तूर के मुताबिक हो उनको उस किस्म के काम में जहां तक तरक्की दे सकें वहां तक उनकी नौकरी की मुद्दत के क्रम से उस किस्म के सब से ऊंचे ओहदे तक चढ़ाया करें। परन्तु जिनको खास विश्वास और कुशलता की आवश्यकता वाला काम सौंपा गया हो उन्हें तो विभाग के अध्यक्ष को चाहिये कि अपने स्वतंत्र

विचार के अनुसार नौकर समूह से चुन निकाले। अगर मूल चुनाव खुल्लम खुल्ला चढ़ाऊपरी से हुआ होगा तो यह चुनाव बहुत करके ईमानदारी से होगा; क्योंकि इस पद्धति में उसका नौकर समूह साधारण तौर पर ऐसे पुरुषों का होगा कि अगर उसका उनके साथ विभाग का सम्बन्ध न होता तो वे उस से अपरिचित रह जाते। उन में अगर कोई उसके या उसके राजनीतिक मित्रों या मददगारों के वर्ग का मनुष्य होगा तो वह सिर्फ कभी कभी होगा और फिर इस सम्बन्ध के साथ प्रवेशिका परीक्षा देने योग्य एक समान योग्यता तो उसने पायी ही होगी। और इन नियुक्तियों का जहां तक सौदा करने के लिये बहुत जबरदस्त उद्देश्य न हो वहां तक सब से योग्य पुरुष को—अर्थात् जो मनुष्य अपने अफसर को सब से उपयोगी सहायता दे, उसकी सब से ज्यादा मिहनत बचाये और जो राज्यकार्य की अच्छी व्यवस्था की कीर्त्ति (जो प्रत्यक्ष में उसके अधीनस्थ नौकरों के गुण के कारण हो तो भी, अवश्य कर के और वास्तविक रीति पर मन्त्री की प्रतिष्ठा बढ़ाती है उस कीर्ति) की नींव डालने में उसका सब से अधिक सहायक हो उस पुरुष को—नियुक्त करने का हमेशा प्रबल हेतु रहेगा।

पन्द्रहवाँ अध्याय।

स्थानिक प्रतिनिधि संस्थाओं के विषय में।

माध्यमिक सत्ताएं देश के राज्यकार्य- का सिर्फ छोटा सा भाग अच्छी तरह कर सकती हैं अथवा उसे करने के लिये उनका प्रयत्न निरापद है; और हमारा अपना राज्यतंत्र जो युरोप में सब से कम अधिकार संग्राहक है उसमें भी

शासन संस्था का दूसरा नहीं तो कानून बनाने वाला विभाग स्थानिक कार्यों में हद से ज्यादा मगज लड़ाता है और जिस बारीक उलझन को सुलझाने के लिये दूसरे बहुत से अच्छे साधनों की जरूरत है उसकी बाल की खाल निकालने में राज्य की सर्वोपरि सत्ता का समय लगाता है। राक्षसी परिमाण का जो खानगी काम पार्लीमेंएट का समय और उसके पृथक पृथक सभासदों का विचार खर्च करता है और इस जनता की महान सभा के खास कर्त्तव्यों से उनका मन हटा देता है वह सब विचारशील और अवलोकन शील पुरुषों को एक गहरा दोष मालूम देता है और सब से बुरी बात यह है कि यह दोष बढ़ता जाता है।

राज्यतंत्र की सत्ता की उचित सीमा के प्रश्न के (जिसका प्रतिनिधि राज्य से कुछ खास सम्बन्ध नहीं है उसके) विषय में चर्चा करना इस निबंध की नियमित योजना के विचार से अनुचित हो जाता है। जिन नियमों से इस सत्ता की सीमा निर्द्धारित होनी चाहिये उनके विषय में मुझे जो कुछ सब से आवश्यक जँचा है वह मैंने अन्यत्र * कहा है। परन्तु जो जो कार्य थोड़ा बहुत युरोपियन राज्यतंत्र स्वयं करते हैं उन में से जिन कामों में राज्याधिकारियों को बिलकुल हाथ नहीं लगाना चाहिये उनको बाद देने के बाद भी इतना बड़ा और विविध प्रकार का कार्य समूह बाकी रहता है कि सिर्फ काम के बटवारे के नियम की खातिर भी माध्यमिक और स्थानिक सत्ताओं के बीच में उसका बटवारा होने की आवश्यकता है। केवल स्थानिक कर्त्तव्य के लिये अलग ही इन्तजाम करने वाले

---

* 'स्वतंत्रता के विषय में' के अन्तिम अध्याय और अर्थशास्त्र के मूल तत्व" के पिछले अध्याय में बहुत विस्तार से। ग्रंथकार।

हाकिम चाहियें इतना ही नहीं (और ऐसा विभाग सब राज्य तंत्रों में होता है) वरंच उन हाकिमों पर जनता का अंकुश भी दूसरी ही सत्ता की मार्फत चलाने से लाभ हो सकता है। उनकी मूल नियुक्ति, उन पर निगरानी और अंकुश रखने का काम, उनके काम के लिये आवश्यक धन जुटाने का कर्तव्य या उस काम को अस्वीकार करने की स्वाधीनता-यह पार्लमेिण्ट जैसे राष्ट्रीय शासन विभाग के हाथ में नहीं वरंच उस स्थान के लोगों के हाथ में रहना चाहिये। कितने ही नवीन इंगलैण्ड (संयुक्त राज्य) के माण्डलिक राज्यों में यह कर्तव्य सम्मिलित जनता द्वारा पालन किया जाता है और यह कहा जाता है कि उसका परिणाम आशा से अधिक अच्छा होता है और यह ऊंची रीति से शिक्षित जनता इस स्थानिक प्रबन्ध की असली पद्धति से इतनी सन्तुष्ट हुई है कि इस के बदले, जिस एक ही प्रतिनिधि पद्धति से यह परिचित है और जिस से सब छोटे वर्ग वास्तव में मत हक से वंचित हुए रहते हैं उसे स्वीकार करने की कुछ इच्छा नहीं रखती। फिर भी इस योजना का अच्छी तरह अनुभव करने के लिये ऐसी विलक्षण शर्तों की जरूरत है कि प्रतिनिधि छोटी पार्लामेण्ट (Sub Parliament) की योजना का सहारा लेना पड़ेगा। ऐसी उपसभाएं इंगलैण्ड में विद्यमान हैं; परन्तु बहुत अधूरी, बहुत अनियमित और अव्यवस्थित अवस्था में। दूसरे कितने ही बहुत कम जन-सम्मत राज्यों में उनका गठन बहुत बुद्धिमता पूर्ण है। जहां इंगलैण्ड में हमेशा स्वतंत्रता अधिक है परन्तु व्यवस्था खराब है वहां दूसरे देशों में व्यवस्था बहुत अच्छी है परन्तु स्वतंत्रता कम है। इस कारण राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा के साथ नगर की और प्रान्त की प्रतिनिधि समाएं होनी चाहियें। अब जिन दो प्रश्नों का निर्णय करना रह जाता है वे ये हैं कि स्थानिक

प्रतिनिधि संस्थाओं का गठन कैसा किया जाय और उनका कर्त्तव्य कहां तक हो।

इन प्रश्नों की आलोचना करने में दो विषयों पर हमारा ध्यान एक समान जाता है। स्थानिक कार्य ही स्वयं किस तरह सब से अच्छा होगा और उसका किस तरह प्रवन्ध करने से वह सार्वजनिक उत्साह का पोषण और ज्ञान वृद्धि करने में सब से अधिक साधक हो सकेगा। प्रस्तुत विवेचन के एक पिछले भाग में, स्वतंत्र राज्य तंत्र की जिस क्रिया को हम "नागरिक की सार्वजनिक शिक्षा" कहते हैं उसके विषय में मैंने कड़ी भाषा में चर्चा की है और अपने निर्णय की सबलता दिखाने के लिये जितनी कड़ी भाषा शायद ही चाहिये उतनी कड़ी है। अब इस क्रिया का मुख्य साधन स्थानिक प्रवन्ध व्यवस्था है। न्याय के प्रवन्ध में लोग न्याय पंच (जुरी) के तौर पर जो भाग लेते हैं उस के सिवा लोगों को साधारण सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का बहुत कम ही मौका है। पार्लमेण्ट के एक से दूसरे चुनाव के अरसे में स्वतंत्र नागरिकों के सामान्य राज्यनीति में भाग लेने की सीमा समाचार-पत्र पढ़ने और शायद उस में लिखने तथा सार्वजनिक सभाओं और राजनीतिक अधिकारियों से की जानेवाली भिन्न भिन्न प्रार्थनाओं में आ जाती है। यद्यपि स्वतंत्रता की रक्षा तथा साधारण शिक्षा के साधन के तौर पर इस विविध प्रकार की स्वाधीनता की आवश्यकता के अतिशयोक्ति करना असम्भव है तथापि इस से जो अनुभव मिलता है वह काम में नहीं, विचार में; और वह भी काम के बेजवाबदेही के विचार में ही; और बहुतेरे लोगों के लिये तो इस का परिणाम *लगभग* वैसा ही है कि एकाध किसी दूसरे मनुष्य का विचार बिना चूं किये स्वीकार कर लें। परन्तु स्थानिक संस्थाओं के प्रसङ्ग में

तो बहुतेरे नागरिकों का, चुनाव के काम के सिवा बारी बारी से, स्वयं चुना जाना सम्भव है और कितनों ही को निर्वाचन से या क्रम वार स्थानिक ओहदों में से एक या दूसरा ओहदा सौंपा जाता है। इन पदों पर उन को जिस तरह सामाजिक लाभ के विषय में बोलना तथा विचार करना पड़ता है उसी तरह काम भी करना पड़ता है; और फिर विचारने का सारा काम मुख्तार की मार्फत नहीं हो सकता। इस के सिवा यह कहा जा सकता है कि ऊंचे वर्गों को साधारण तौर पर यह स्थानिक काम अपने हाथ में लेने की इच्छा नहीं होगी; इस से वे इसको जो एक आवश्यक राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का साधन है, निचले वर्गों के हाथ में छोड़ देंगे। इस प्रकार राज्य के राष्ट्रीय प्रबन्ध की अपेक्षा स्थानिक प्रबन्ध में मानसिक शिक्षा के अधिक आवश्यक तत्व होने मगर प्रबन्ध संस्था की योग्यता पर उस के ऐसे गहरे लाभ का आधार न होने से, पहले उद्देश्य पर अधिक जोर दिया जा सकेगा और उसके लिये दूसरा उद्देश्य साधारण कानून बनाने और राज्य कार्य के प्रबन्ध के सिवा, बहुत साध्य से अधिकवार मुलतवी रखा जा सकेगा।

स्थानिक प्रतिनिधि संस्था के योग्य गठन में बहुत कठिनाई नहीं जान पड़ती। इसमें लगनेवाले नियमों से राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा में लगनेवाले नियमों में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। बहुत आवश्यक कर्त्तव्यों की तरह इस विषय में भी संस्थाओं को निर्वाचित प्रतिनिधियों की बनाने की जरूरत है, और उनको अधिक जन सम्मति के आधार पर छोड़ने के लिये कारण भी उतने ही बरंच उससे भी अधिक सबल हैं, क्योंकि जोखिम कम है और उसके साथ लोक शिक्षा और विकास सम्बन्धी लाभ तो कई अंश में उससे भी बहुत बड़ा है।

स्थानिक संस्थाओं का मुख्य काम कर लगाने और खर्च करने का है। इससे जो कर न देते हों उन सब को खारिज करके जो देते हों उन सब को चुनाव में मतहक दिया जाय। मैं यह समझता हूं कि कोई परोक्ष कर—कोई चुंगी नहीं है और अगर है तो सिर्फ परथन के तौर पर; अर्थात् जिनके सिर पर उसका बोझ पडता है उनके ऊपर सीधे कर का हिस्सा भी पड़ता है। छोटे वर्गों के प्रतिनिधि के लिये राष्ट्रीय प्रतिनिधि के ढंग पर प्रबन्ध होने की जरूरत है और अनेक मतों के लिये वैसा ही सबल कारण है। फर्क सिर्फ इतना है कि इन निचली संस्थाओं में (जैसा कि हमारे देश के कितने ही स्थानिक चुनावों में है) केवल धन की योग्यता पर अनेक मतों का आधार रखने से, ऊंची संस्था के ऐसी दृढ़ आपत्ति नहीं है; क्योंकि राष्ट्रीय संस्था की अपेक्षा स्थानिक संस्था के काम का इतना बड़ा भाग ईमानदारी और किफायत के साथ धन का प्रबन्ध करने से सम्बन्ध रखता है कि जिसका बहुत बड़ा धन सम्बन्धी स्वार्थ जोखिम में हो उसको उसके हिसाब से अधिक सत्ता देना जितनी ही नीति है उतना ही न्याय भी है।

रक्षक समिति (अर्थात् निराश्रित सम्बन्धी कानून की व्यवस्था करने वाली सभा) जो हमारे स्थानिक प्रतिनिधितंत्रों में सबसे नयी स्थापित हुई है उसमें निर्वाचित सभासदों के साथ जिले के शान्ति रक्षक अफसर अपने ओहदे की हैसियत से बैठते हैं और उनकी संख्या कानून से सारी सभा की एक तिहाई रखी है। अंगरेज समाज के विलक्षण गठन में इस शर्त का लाभदायक असर होने में मुझे कुछ सन्देह नहीं है। इस व्यवस्था में और किसी तरह के आकर्षण की अपेक्षा अधिक शिक्षितों की उपस्थिति का भरोसा होता है और जहां ओहदे की हैसियत से बैठनेवाले सभासद एक ओर अपनी

नियमित संख्या के कारण केवल संख्या में प्रबल होने से रुकते हैं वहां दूसरी ओर उनका वास्तव में एक अलग ही वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से बाकी सभासदों से भिन्न स्वार्थ होने के कारण निर्वाचित रक्षकों के बड़े भाग में जो किसान या छोटे दुकानदार होते हैं उनके वर्ग स्वार्थ पर वे अंकुश बन जाते हैं। हमारी प्रान्तीय संस्थाओं में जो केवल शान्ति रक्षक अफसरों की बनी त्रैमासिक न्याय सभाएं हैं और जिनको न्याय के कर्त्तव्य के सिवा जिले के प्रबन्ध कार्य का कुछ सब से आवश्यक भाग सौंपा गया है उनकी ऐसी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इन संस्थाओं के गठन की रीति बहुत ही विलक्षण है; क्योंकि वे जैसे निर्वाचित नहीं हैं वैसे किसी उचित अर्थ में मनोनीत भी नहीं हैं वरंच जागीरदारों (Feudal Lords) के स्थान पर हैं—उनकी तरह वे असली जमींदारी के बल से ही अपना आवश्यक पद भोगती हैं; क्योंकि राजा के (अथवा वास्तविक कहें तो राज प्रतिनिधि अर्थात् अपने वर्ग में से एक जन के) हाथ में मौजूद नियुक्ति का जो उपयोग किया जाता है वह अपनी संस्था के ऊपर जो दोष लगावे और समय समय पर राज्यनीति में जो विरुद्ध पक्ष पर हो उसे दूर करने में। इंगलैण्ड में इस समय जो सब से अधिक अमीरी बलवाला तंत्र विद्यमान है वह यह है और अमीरों की सभा से भी इसमें वह बल अधिक है, क्योंकि यह संस्था जो सरकारी धन और आवश्यक लाभ की व्यवस्था करती है वह लोक सभा के साथ रह कर नहीं, वरंच स्वयं स्वतंत्रता से साथ। हमारे अमीर वर्ग भी इससे एक समान आग्रह से लगे हुए हैं; परन्तु प्रतिनिधि राज्य के सब आधारभूत नियमों से तो ये खुल्लमखुल्ला विरुद्ध हैं। जिला बोर्डों में चुने हुए सभासदों के साथ ओहदे की हैसियत के सभासदों की

मिलावट के लिये भी रक्षक संस्था के ऐसा वास्तविक कारण नहीं है; क्योंकि जिले का काम इतना विस्तृत होता है कि उसमें ग्राम्य गृहस्थों का मन खिंचे बिना नहीं रहेगा और उनको जैसे राष्ट्रसभा के जिला सभासद चुनने में कठिनाई नहीं पड़ती वैसे जिला बोर्ड के सभासद चुनने में नहीं पड़ेगी।

अब स्थानिक प्रतिनिधि संस्था को चुनने वाली मत-समितियों के उचित विस्तार के विषय में कहें तो जो नियम एक स्वतः सम्पूर्ण और अचल नियम के तौर पर पार्लीमेंएट के प्रतिनिधि तत्त्व में लगाना अनुचित जान पड़ता है वह, अर्थात् स्थानिक लाभों की समता का नियम ही, यहां उचित और उपयोगी है। स्थानिक प्रतिनिधि सभा रखने का मूल उद्देश्य ही ऐसा है कि जिन लोगों का कुछ सामान्य स्वार्थ हो, और वह स्वार्थ समस्त जनता के स्वार्थ से न मिलता हो वे अपने आप उस संयुक्त स्वार्थ की व्यवस्था कर सकें; और अगर स्थानिक प्रतिनिधि तत्त्वका विभाग उस संयुक्त स्वार्थ की श्रेणी के हिसाब से न होकर दूसरे किसी नियम से हो तो वह मतलब रद हो जाता है। प्रत्येक बड़े या छोटे नगर का खास अपना, स्थानिक स्वार्थ होता है और उसके सब निवासियों के लिये साधारण होता है। इस से प्रत्येक नगर के लिये, आकार के भेद बिना, नगर सभा होनी चाहिये। फिर यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि प्रत्येक नगर की सिर्फ एक सभा होनी चाहिये। एक ही नगर के भिन्न भिन्न महल्लों के स्थानिक स्वार्थ में कुछ जरूरी भेद नहीं होता और होता भी है तो मुश्किल से; उन सब को एक ही काम और एक ही खर्च करना होता है और उनके धर्मालय (जिनकी व्यवस्था शायद पेरिश व्यवस्थापकों के हाथ में ही रहने देना इष्ट है) सम्बन्धी कामों के सिवा

और सबके लिये एक ही प्रबन्ध चल सकेगा। रास्ता बनाना, रोशनी करना, पानी देना, मल दूर करना, बंदरगाह और बाजार के नियम इत्यादि कामों का, एक ही नगर के जुदे जुदे महल्लों के लिये, जुदा जुदा प्रबन्ध होने से भारी नुकसान और असुबीता हुए विना नहीं रहता। लन्दन को ६ या ७ महल्लों में बांटने से और हर एक के स्थानिक काम के लिये भिन्न भिन्न प्रबन्ध होने से (और उनमें कुछ की अपनी सीमा में भी संयुक्त व्यवस्था न होने से) साधारण उद्देश्य के लिये कुछ भी नियमित या सुगठित व्यवस्था होने में बाधा पड़ती है; स्थानिक कार्य करने में कुछ भी एक समान नियम ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी कोई स्थानिक सत्ता होती जिसका इख्तियार सारी राजधानी पर चलता तो जिन विषयों का उस के हाथ में रहने देना सब से सुगम होता उन विषयों को राष्ट्रीय राज्यतंत्र को अपने हाथ में लेना पड़ता है; और उस से सार इतना ही निकलता है कि अर्वाचीन स्वार्थ साधन और प्राचीन आडम्बर का विचित्र वेष धारण करने वाली लन्दन की नगर सभा कायम रहती है।

दूसरा इतना ही आवश्यक नियम यह है कि प्रत्येक स्थानिक सीमा में सब स्थानिक कामों के लिये एक निर्वाचित सभा होनी चाहिये न कि उनके भिन्न भिन्न विभागों के लिये भिन्न भिन्न। काम के बटवारे का अर्थ यह नहीं होता कि हर एक काम को काट काट कर छोटे छोटे टुकड़े कर डालें. वरंच एक ही मनुष्य के करने योग्य कामों का संयोग और और भिन्न भिन्न मनुष्यों से अच्छी तरह हो सकने योग्य उनका विभाग जिन कारणों से राज्य के प्रबन्ध सम्बन्धी कामों के लिये आवश्यक है उन्हीं कारणों से स्थानिक

प्रबन्ध के कामों का भी विभागों में बेशक बटवारा होना चाहिये, क्योंकि ये काम भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं; प्रत्येक में खास उसके सम्बन्ध का ज्ञान दरकार है और उसे उचित रीति से होने के लिये एक खास तौर पर योग्य बने हुए ओहदेदार के उस पर एकाग्र चित्त से ध्यान देने की जरूरत है। परन्तु बटवारे के विषय में जो कारण प्रबन्ध में लागू पड़ते हैं वे अंकुश में - निगरानी में लागू नहीं पड़ते। निर्वाचित सभा का कर्तव्य काम करने का नहीं है, वरंच यह देखने का है कि काम उचित रीति से किया जाता है कि नहीं और कोई आवश्यक काम विना किये तो नहीं रह जाता। यह कर्तव्य सब विभागों के लिये एक ही अंकुश समिति पालन कर सकती है और सूक्ष्म दृष्टि की अपेक्षा साधारण विशाल दृष्टि रखने से और अच्छी तरह। हर एक काम करने वाले पर निगरानी के लिये एक गिरदावर रखना जैसे निज के काम में वेहूदापन है वैसे ही सार्वजनिक काम में भी। राज्यप्रबन्ध में बहुत से विभाग होते हैं और उन को चलाने के लिये बहुत से मंत्री होते हैं; परन्तु प्रत्येक मंत्री को अपने फर्ज में मुस्तैद रखने के लिये अलग अलग पार्लीमेण्ट नहीं होती। राष्ट्रीय पार्लीमेण्ट की तरह स्थानिक पार्लीमेण्ट का खास काम यह है कि स्थानिक लाभ के विषय में एक साथ विचार करे और उसमें जो भिन्न भिन्न अंग होते हैं उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ कर आवश्यकता के क्रम और परिमाण से उन पर ध्यान दे। सब स्थानिक कार्यों पर अंकुश रखने का काम एक ही समिति के हाथ में एकत्रित करने के लिये दूसरा बड़ा वजनदार कारण है। स्थानिक लोक तंत्रों की सब से बड़ी त्रुटि और वे जो इतना अधिक बार विफल होते हैं उसका मुख्य कारण उन्हें चलाने वाले

है। परगनों या तहसीलों की स्थानिक प्रतिनिधि सभाओं का निश्चय स्वभावतः भौगोलिक विभाग के अनुसार हो सकेगा; और उसके साथ ही जो हार्दिक सहानुभूति मनुष्यों को एक दूसरे से मिलकर काम कराने में बहुत मददगार होती है और जो कुछ अंश में परगने या प्रान्त जैसी ऐतिहासिक सीमा के अनुसार रहती है तथा कुछ अंश में (जैसा कि खेती, कारीगरी, खान या किनारे वाले प्रदेश में होता है) एक समान लाभ और धंधे के अनुसार रहती है उसके ऊपर उचित ध्यान देना चाहिये। भिन्न भिन्न प्रकार के स्थानिक कामों के लिये प्रतिनिधि सभा बनाने के निमित्त शायद भिन्न भिन्न विस्तार के प्रदेश लेने पड़ेंगे। जिस नियम पर पेरिश संस्था नियुक्त हुई है वह नियम निराश्रित के आश्रय पर निगरानी रखने वाली प्रतिनिधि सभा के लिये सब से अनुकूल आधार है; परन्तु सदर सड़क, जेलखाने और पुलिस की व्यवस्था के लिये कुछ मामूली जिलोंके ऐसे बहुत विस्तीर्ण प्रदेश हद से बहुत बड़े नहीं हैं। इस से प्रत्येक स्थान में स्थापित प्रतिनिधि सभा को उस स्थान सम्बन्धी सभी स्थानिक विषयों पर अधिकार होना चाहिये, यह जो नियम है उसको दूसरे एक मूल तत्व के आधार से तथा स्थानिक कर्त्तव्य पालने के लिये सब से ऊंचे दरजे का गुण पाने की आवश्यकता के विरुद्ध विचार से बदलने की जरूरत है। दृष्टान्त के तौर पर, निराश्रितों के कानून की उचित व्यवस्था के लिये अगर कर लगाने के प्रदेश का विस्तार वर्तमान पेरिश संस्थाओं से बहुत बड़ा होना जरूरी न हो (और मेरी समझ में है) और इस नियम से हर एक पेरिश सभा के लिये एक एक रक्षक समिति चाहिये; तो भी एक साधारण रक्षक समिति की अपेक्षा एक जिला सभा के लिये बहुत

ऊंची योग्यता वाले पुरुषों का वर्ग मिल जाना सम्भव है; इस कारण से कुछ बहुत ऊंचे दरजे के काम जो जिला सभा के अभाव से अलग अलग पेरिश सभाएं अपनी अपनी सीमा में आसानी से करतीं उनको जिला सभाओं के लिये रख छोड़ना उचित होगा।

स्थानिक काम के लिये अंकुश सभा अथवा स्थानिक उप पार्लामेंट के सिवा उसका कार्यकारी विभाग होता है। इसके सम्बन्ध में राज्य की कार्यकारिणी सभा के समान ही प्रश्न उठता है; और इसका उत्तर भी सब से बड़े अंश में उसी तरह मिल जायगा। सारी सामाजिक थाती पर जो नियम घटता है वह वस्तुतः एक है। पहले मुंतज़िम अफ़सर को अखण्ड सत्ता होनी चाहिये और उसको जो कुछ कर्तव्य सौंपा गया हो उसके लिये केवल उसी को जिम्मेवार बनाना चाहिये। दूसरे वह चुना न जाय मनोनीत किया जाय। पैमाइश करने वाला, स्वास्थ्याधिकारी या तहसीलदार भी लोकमत से चुना जाय यह हंसी की बात है। लोक निर्वाचन का आधार या तो बहुत करके कुछ स्थानिक नेताओं के स्वार्थ पर है और यह नियुक्ति उनकी पसंद की हुई नहीं गिनी जाती इससे वे इसके लिए जिम्मेवार नहीं है या नहीं तो बारह लड़के होने और पेरिश में तीस वर्ष तक कर देने वाला होने की बुनियाद पर कृपा के लिये की हुई प्रार्थना पर है। इस प्रकार के प्रसङ्गों में जैसे लोक निर्वाचन प्रहसन ऐसा हो जाता है उसी तरह स्थानिक प्रतिनिधि सभा की नियुक्ति भी उससे कुछ ही कम आपत्ति जनक होती है। ऐसी सभाओं के उनके भिन्न भिन्न सभासदों के निजका स्वार्थ साधने वाली समझ की सभा हो जाने का निरन्तर डर होता है। ये नियुक्तियां सभा के अध्यक्ष की व्यक्तिगत जिम्मेवारी पर होनी चाहियें, चाहे

यह पुरपति (मेयर) या त्रैमासिक न्याय सभा का अध्यक्ष कहलाता हो या दूसरे किसी नाम से परिचित हो। जो पदवी राज्य में प्रधान मंत्री की है उसको यह खास स्थान में भोगता है और एक सुगठित पद्धति में स्थानिक अफसरों की नियुक्ति और निगरानी उस के कर्त्तव्य का सब से आवश्यक भाग हो जायगा, क्योंकि सभा ने उसके ऊपर प्रति वर्ष नयी नियुक्ति या सभा के मत से दूर कर सकने का बन्धन रखकर उसे पसन्द किया होगा।

स्थानिक सभाओं के गठन से अब मैं उनके खास धर्म सम्बन्धी उतने ही आवश्यक और विशेष कठिन विषय पर आता हूं। यह प्रश्न दो भागों में बट जाता है; उनका क्या कर्त्तव्य होना चाहिये और उन कर्त्तव्यों की सीमा में उनको सम्पूर्ण सत्ता होनी चाहिये या माध्यमिक सत्ता को उनके बीच में पड़ने को कुछ अधिकार और यह कितना, होना चाहिये।

आरम्भ में तो स्पष्ट है कि शुद्ध स्थानिक—सिर्फ एक स्थान के सम्बन्ध का सारा काम स्थानिक सत्ताओं के सिर रहना चाहिये। रास्ता बनाना रोशनी करना, नगर के महले साफ रखना और साधारण तौर पर घरों का मैला पानी निकालना वहां के अधिवासियों के सिवा दूसरे किसी के लिये कम ही जरूरी है। समूचे राष्ट्र को वहां के सब पृथक पृथक नागरिकों की शुभचिन्तकता के सिवा इस विषय में दूसरा कोई स्वार्थ नहीं होता। परन्तु स्थानिक वर्ग में गिने जाने वाले और स्थानिक अधिकारियों के हाथ से होने वाले कर्तव्यों में बहुत से ऐसे हैं कि उनको राष्ट्रीय कहने में भी उतनी ही औचित्य है, क्योंकि यह राज्य प्रबन्ध की किसी शाखा का उस स्थान से सम्बन्ध रखने वाला भाग होता है

और उसके अच्छी तरह पालने में समूचे राष्ट्र का एक समान हित रहता है। जैसे—जेलखाने जिन में से बहुतेरे इस देश में जिले के प्रबन्ध के अधीन रहते हैं; स्थानिक पुलिस और स्थानिक न्याय व्यवस्था जिन का बहुत कुछ प्रबन्ध खास कर सभाबद्ध नगरों में स्थानिक चुनाव से नियुक्त अधिकारियों के हाथ में है और जिनका खर्च स्थानिक कोष से दिया जाता है। यह नहीं कहा जायगा कि इन में कोई कर्तव्य राष्ट्रीय से भिन्न स्थानिक आवश्यकता का विषय है। देश का कोई भी विभाग पुलिस की कुव्यवस्था से लुटेरों का अड्डा या दुष्टता का केन्द्र हो जाय अथवा वहां के जेलखाने के खराब नियम से उसमें रखे हुए (बल्कि दूसरे प्रदेशों से भेजे हुए या अपराध करके आये हुए) अपराधियों को न्याय सभा की सोची हुई सजा दूनी सख्ती से भोगनी पड़े अथवा प्रयोग में नहीं के समान बन जाय तो यह विषय देश के बाकी विभागों से भीतरी सम्बन्ध रहित न समझा जायगा। फिर इन विषयों की अच्छी व्यवस्था उपजाने वाली अवस्था सर्वत्र समान है; पुलिस, जेल या न्याय का प्रबन्ध राज्य के भिन्न भिन्न विभागों में भिन्न भिन्न रीति से क्यों हो इसके लिये सबल कारण नहीं है; इसके विरुद्ध भारी भय यह रहता है कि जो विषय इतने अधिक आवश्यक हैं और जिन के लिये राज्य में मिल सकने योग्य सब से शिक्षित मन वाले मनुष्यों की आवश्यकता है उनके लिये स्थानिक नौकरी में तो जिस घटिया दरजे की बुद्धि मिलने की आशा की जा सकती है वह कभी ऐसी गहरी भूल कर सकती है कि देश के साधारण प्रबन्ध पर भारी कलङ्क लगे। धन प्राण की रक्षा और मनुष्य मनुष्य में समान न्याय जनता की पहली जरूरत है और राज्य प्रबन्ध का मूल उद्देश्य है। अगर ये विषय सब से श्रेष्ठ की अपेक्षा किसी

घटिया सत्ता को सौंपे जायं तो राष्ट्रीय राज्यतंत्र के लिये लड़ाई और सन्धि के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। यह मूल उद्देश्य बनाये रखने के लिये जो सब से अच्छा प्रबन्ध हो उसे सब स्थानों में आवश्यक रूप से जारी कर देना चाहिये और उसको अमल में लाने के लिये माध्यमिक सत्ता की देख रेख में रखना चाहिये। माध्यमिक सत्ता का छोड़ा हुआ कर्त्तव्य पालने का काम पृथक् पृथक् स्थानों में स्थानिक कार्यों के लिये नियुक्त अफसरों को सौंपना बहुधा उपयोगी है और हमारे देश के तन्त्र के सम्बन्ध में तो राष्ट्रीय राज्यतन्त्र की तरफ के अफसरों का भिन्न भिन्न स्थानों में अभाव होने से आवश्यक भी है। परन्तु प्रति दिन के अनुभव से जनता के मन पर ऐसा निर्णय जमता जाता है कि विशेष नहीं तो स्थानिक अफसर अपना कर्तव्य पालते हैं कि नहीं इसकी जांच पड़ताल के लिये राष्ट्रीय राज्यतंत्र की तरफ से निरीक्षक (इंसपेक्टर) भी नियुक्त करना चाहिये। जैसे कारखाने सम्बन्धी पार्लीमेण्ट के बनाये हुए नियम माने जाते हैं कि नहीं इसकी जांच करने को कारखाना निरीक्षक और जिन बातों पर राज्य की तरफ से पाठशालाओं को सहायता दी जाती है उनकी जांच के लिये शाला निरीक्षक रखे जाते हैं वैसे जब जेलखाने स्थानिक व्यवस्था के अधीन होते हैं तब वहाँ पार्लीमेण्ट के बनाये हुए नियम पाले जाते हैं कि नहीं इसकी जांच करने के लिये और अगर जेलखाने की स्थिति से मालूम हो तो दूसरे नियम सूचित करने के लिये माध्यमिक राज्यतंत्र की तरफ से जेल निरीक्षक नियुक्त होते हैं।

परन्तु जहां न्याय और उसके साथ पुलिस तथा जेलखाने का प्रबन्ध ऐसा सार्वजनिक विषय है और फिर ऐसे स्थानिक लक्षणों से स्वतंत्र सामान्य विज्ञान का विषय है कि सारे

देश में एक समान नियम से चलाया जा सकता है और चलाना भी चाहिये तथा उसकी व्यवस्था का काम शुद्ध स्थानिक अधिकारियों की अपेक्षा शिक्षित और कुशल हाथ से होना उचित है; वहां निराश्रित कानून के प्रबन्ध, स्वास्थ्य रक्षा और इस तरह के दूसरे कामों में यद्यपि सारे देश का सम्बन्ध है तथापि स्थानिक प्रबन्ध के वास्तविक उद्देश्यों पर लक्ष्य रखें तो उसकी व्यवस्था स्थानिक के सिवा दूसरी सत्ता को सौंपी नहीं जा सकती। ऐसे कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि स्थानिक अधिकारियों को राज्य की निगरानी या *अंकुश से रहित विचार स्वातंत्र्य कितना दिया जाय।*

इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये वास्तविक रीति पर देखना यह है कि कार्य सामर्थ्य के विषय में और लापरवाही या अनुचित बर्ताव से बचने के विषय में माध्यमिक और स्थानिक सत्ताओं की स्थिति एक दूसरे के मुकाबले में कैसी है। पहले तो पार्लामेण्ट और राष्ट्रीय प्रबन्ध विभाग की अपेक्षा स्थानिक प्रतिनिधि सभा और उसके अधिकारियों में घटिया दरजे की बुद्धि और ज्ञान होने का प्रायः भरोसा है। दूसरे उनके स्वयं अपेक्षा कृत कम योग्यता वाले होने के सिवा उनके ऊपर निगरानी करने वाला और उनसे कैफियत तलब करने वाला लोकमत भी घटिया दरजे का है। जिसकी देख रेख में वे काम करते हैं वह जन समूह राजधानी में सबसे ऊंची सत्ताओं से घिरे हुए और उनपर टीका टिप्पणी करने वाले जन समूह की अपेक्षा जैसे विस्तार में छोटा होता है वैसे साधारणतः विकास भी कम पाये हुए रहता है और उसके साथ स्वार्थ भी अपेक्षा कृत कम समाया हुआ होने से उस घटिया दरजे के जन समूह का भी विचार उसके ऊपर कम लक्ष्य और कम आग्रह से काम करता है। समाचार पत्र

और सार्वजनिक आलोचना भी उसके बीच में बहुत कम पड़ती है और पड़े भी तो राष्ट्रीय सत्ताओं की अपेक्षा स्थानिक सत्ताओं के प्रबन्ध में बड़ी निर्भयता से उससे लापरवाही की जा सकती है। यहां तक माध्यमिक सत्ता के द्वारा प्रबन्ध होने में खाली लाभ दिखाई देता है। परन्तु हम जब बहुत बारीकी से देखते हैं तब इस लाभ के कारणों के विरुद्ध दूसरे इतने ही सबल कारण आकर डट जाते हैं। जहां माध्यमिक की अपेक्षा स्थानिक जनता और अधिकारी प्रबन्ध के मूलतत्व के ज्ञान के विषय में घटकर होते हैं वहां उनको इसके बदले परिणाम में बहुत प्रत्यक्ष स्वार्थ होने का लाभ रहता है। किसी मनुष्य की अपेक्षा उसका पड़ोसी या जमींदार बहुत ज्यादा होशियार हो और उसकी उन्नति में उस पड़ोसी या जमींदार का कुछ परोक्ष स्वार्थ भी हो तो भी, इसके होते हुए भी, उसके लाभ की रक्षा पड़ोसी या जमींदार की अपेक्षा उसी के द्वारा अच्छी तरह हो सकेगी। विशेष करके यह स्मरण रखना चाहिये कि अगर यह सोचें कि माध्यमिक राज्यतंत्र अपने अफसरों की मार्फत प्रबन्ध करेगा तो भी वे अफसर मध्यस्थल में रह कर नहीं वरंच उसी स्थान में रह कर काम करेंगे; और माध्यमिक जनता की अपेक्षा स्थानिक जनता चाहे जितनी घटिया हो तो भी उनपर नजर रखने का मौका तो स्थानिक सभा को ही मिलेगा। और उनके बर्ताव पर जो प्रत्यक्ष सत्ता कारवाई कर सकेगी अथवा उनके उलहना मिलने योग्य विषयों पर राज्य तंत्र का ध्यान खींच सकेगी वह स्थानिक लोकमत ही है। देश का राष्ट्रीय लोकमत तो खास खास मौकों पर स्थानिक प्रबन्ध के सूक्ष्म विषयों में हाथ डालता है और उनका असली मतलब समझ कर फैसला करने का साधन तो इससे भी

विरल होता है। अब स्थानिक अभिप्राय शुद्ध स्थानिक प्रवन्ध कर्त्ताओं पर अवश्य करके बहुत जबरदस्त असर करता है। वे लोग स्वाभाविक नियम से वहां के स्थायी अधिवासी होते हैं और अधिकार की अवधि पूरी होने पर उनको वह स्थान छोड़ कर कहीं जाने की आशा नहीं रहती; और उनके अधिकार का आधार भी, कल्पनानुसार, स्थानिक जनता की मरजी पर ही होता है। माध्यमिक सत्ता में स्थानिक पुरुषों और विषयों के बारे में सूक्ष्म ज्ञानकी जो त्रुटि होती है और उसका समय और विचार दूसरे विषयों में इतना अधिक उलझा रहता है कि उसको शिकायतों का फैसला करने के लिये और स्थानिक कर्मचारियों की इतनी बड़ी संख्या से उनके काम का हिसाब लेने के लिये भी जितने और जैसे ज्ञान की जरूरत है उतना और वैसा ज्ञान मिल सकना सम्भव नहीं है, इस विषय में विवेचन करने की जरूरत नहीं है। इससे सूक्ष्म प्रवन्ध के विषय में साधारणतः स्थानिक संस्थाएं बढ़चढ़ कर होंगी; परन्तु मूलतत्त्व—शुद्ध स्थानिक प्रवन्ध के मूलतत्त्व भी—समझने के विषय में, माध्यमिक राज्यतंत्र की श्रेष्ठता अगर वह सुगठित होगी तो अद्भुत ही होगी; और उसका कारण इतना ही नहीं है कि उसके मनुष्यों के स्वयं बहुत श्रेष्ठ होने की सम्भावना है और हमेशा बहुत से ज्ञानी और लेखक उनके ध्यान में उपयोगी विचार जमाने में लगे रहते हैं, वरंच जब कि जो ज्ञान और अनुभव किसी स्थानिक सत्ता को होता है वह सिर्फ अपने प्रदेश की और क्रियापद्धतियों की सीमा में समाया हुआ स्थानिक ज्ञान और स्थानिक अनुभव ही होता है, तब माध्यमिक राज्यतंत्र को तो सारे राज्य के संयुक्त अनुभव से जो सब सीखना होता है उसके साथ परदेश के अनुभव का मार्ग भी सुगम करने वाले साधन होते हैं।

इन आधारों से वास्तविक अनुमान निकालना कठिन नहीं है। जो सत्ता तत्वों में सब से अधिक प्रवीण हो उसको मूल तत्वों पर श्रेष्ठ अधिकार देना चाहिये परन्तु जो सूक्ष्म विषयों में सबसे अधिक कुशल हो उसको सूक्ष्म विषय सौंपना चाहिये। माध्यमिक सत्ता का मुख्य काम सलाह देने का होना चाहिये और स्थानिक सत्ता का यह काम है कि उसे काम में लावे। अधिकार का तो स्थान के हिसाब से विभाग किया जा सकता है परन्तु ज्ञान एक ही केन्द्र स्थल पर एकत्र करने से सबसे अधिक उपयोगी हो जाता है, उसके लिये तो किसी स्थान पर एक ऐसा केन्द्र रखना चाहिये कि वहां उसकी सब बिखरी हुई किरणें आ मिलें और दूसरे स्थान पर जो टूटा और रंगबरंगी प्रकाश हो उसको सम्पूर्ण होकर शुद्ध होने के लिये आवश्यक साधन मिल जाय। स्थानिक प्रबन्ध की जिस शाखा से राष्ट्रीय लाभ का सम्बन्ध हो उसके लिये माध्यमिक साधन—मंत्री या उसके मातहत कोई खास नियुक्त किया हुआ अधिकारी—होना चाहिये; यह अधिकारी और कुछ न करके सिर्फ चारों ओर के समाचार संग्रह कर एक स्थान में मिला हुआ अनुभव दूसरे स्थान में आवश्यक जंचने पर जता सके तो भी बहुत है। परन्तु माध्यमिक सत्ता को इससे कुछ विशेष करना है; उसे स्थानिक सत्ताओं के साथ निरंतर व्यवहार जारी रखना चाहिये और उसमें स्वयं उनके अनुभव से परिचित होना चाहिये तथा उनको अपने अनुभव से परिचित करना चाहिये। सलाह मांगने पर स्वतंत्रता से दी जाय और जरूरत जंचने पर बिना मांगे आप से आप दी जाय; कार्य प्रबन्ध प्रकाशित कराया जाय और कारवाई दर्ज करायी जाय तथा कानून सभा ने स्थानिक प्रबन्ध के विषय में जो जो साधारण कानून

बनाये हों उनमें से हर एक का पालन कराया जाय। इस बात को कम ही आदमी अस्वीकार करेंगे कि इस प्रकार के कुछ नियम बनवाने चाहियें। स्थानिक सत्ताओं को अपने ही लाभ का प्रबन्ध करने दिया जाय, परन्तु दूसरों के लाभ का नुकसान न करने दिया जाय अथवा पृथक पृथक मनुष्यों से न्याय के जिन नियमों का सख्ती से पालन कराना राज्य का कर्त्तव्य है उनका भी भंग न करने दिया जाय। अगर स्थानिक बहुमत छोटे मत पर या एक वर्ग दूसरे वर्ग पर अत्याचार करना चाहे तो राज्यतंत्र हस्तक्षेप करने को बाध्य है। जैसे—सब स्थानिक कर केवल स्थानिक प्रतिनिधि सभा के मत से मुकर्रर होना चाहिये परन्तु वह सभा यद्यपि करदाताओं द्वारा चुनी गयी होगी तथापि कभी कभी वह इस प्रकार के करों से अपनी आय बढ़ा सकती है अथवा उन करों को इस ढंग से लगा सकती है कि जिससे उनका बोझ गरीब, अमीर या बस्ती के दूसरे किसी खास वर्ग पर अनुचित परिमाण में जा पड़े; इससे कानून सभा का कर्त्तव्य है कि स्थानिक कर की कुल रकम तो सिर्फ स्थानिक सभा के स्वतंत्र विचार पर रक्खे; परन्तु कर लगाने की पद्धति और आंकने के नियम स्पष्ट रीति से बांध दे और स्थानिक सत्ताओं को उसका उल्लंघन करने की स्वतंत्रता न दे। फिर सार्वजनिक धर्म-खाते के प्रबन्ध के विषय में मजदूर संख्या के उद्योग और आचार का आधार बहुत गहरे दरजे की मदद देने की बाबत कितने ही निर्दिष्ट नियमों से लगे रहने पर है। उन नियमों के अनुसार मदद पाने का किसको हक है यह निश्चय करने का काम असल में स्थानिक अधिकारियों का है परन्तु उन नियमों को स्थिर करने वाली योग्य सत्ता तो राष्ट्रीय पार्ली-मेण्ट ही है। वह अगर ऐसे गम्भीर राष्ट्रीय विषय के बारे

में स्पष्ट नियम न स्वीकार करे और ऐसा पुरस्सर बन्दोबस्त न करे कि उन नियमों का भंग न हो तो वह अपने कर्त्तव्य का एक बड़ा आवश्यक भाग पालने में चूकती है। इन कानूनों का उचित उपयोग कराने के लिये स्थानिक प्रबन्ध कर्ताओं के काम में स्वयं हस्तक्षेप करने की कितनी सत्ता रखने की जरूरत है यह एक सूक्ष्म प्रश्न है और उसमें पड़ना निरुपयोगी होगा। अपराध की व्याख्या और उसे अमल में लाने की रीति तो स्वभावतः कानून में ही की जायगी, अन्त को मौके पर काम आने के लिये माध्यमिक सत्ता को स्थानिक प्रतिनिधि सभा तोड़ देने या स्थानिक प्रबन्ध समिति को बर तरफ करने तक का अधिकार रखना उचित जंचेगा; परन्तु नयी नियुक्ति करने या स्थानिक तंत्र को तुरंत बंदकर देने तक का अधिकार नहीं होना चाहिये। जहां पार्लामेण्ट ने हस्तक्षेप न किया हो वहां शासन विभाग की किसी शाखा को भी अधिकार में हस्तक्षेप न करना चाहिये; परन्तु परामर्श दाता और समालोचक की हैसियत से, कानून का अमल करानेवाले की हैसियत से और जिसको स्वयं निन्दनीय गिने उस बर्ताव को पार्लामेण्ट या स्थानिक मत सभा के आगे खुलमखुला फटकार बताने वाले की हैसियत से शासन विभाग का जो कर्त्तव्य है वह सबसे बढ़ कर आवश्यक है।

कितने ही यह सोच सकते हैं कि माध्यमिक सत्ता स्थानिक की अपेक्षा प्रबन्ध के नियमों के ज्ञान में चाहे जितनी बढ़ी चढ़ी हो तथापि नागरिकों की राजनीतिक और सामाजिक शिक्षा के जिस महान उद्देश्य का इतना बड़ा आग्रह किया गया है उसके लिये इन विषयों की व्यवस्था भी उन लोगों को अपने विचार के अनुसार (यह विचार चाहे कितना ह अपूर्ण हो) अपने ही हाथ से करने देने की जरू-

रत है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि विचार में लेने का विषय केवल नागरिकों की शिक्षा नहीं है; उसकी आवश्यकता चाहे जितनी बड़ी हो तथापि राज्यतन्त्र और उसके प्रबन्ध का अस्तित्व केवल उसी के लिये लिये नहीं है। किन्तु यह उक्त राजनीतिक शिक्षा के साधन रूप जिस लोक तंत्र का कर्त्तव्य है उसकी बहुत अधूरी समझ दरसाता है। जो शिक्षा अज्ञान से अज्ञान का संसर्ग करा के उनको ज्ञान दरकार हो तो उस तरफ अपना मार्ग बिना बिना मदद ढूँढ़ निकालने और न हो तो उसके बिना चला लेने को छोड़ देती है वह निर्जीव ही है। जो चाहा जाता है वह अज्ञान को अपनी स्थिति से परिचित करानेवाला और ज्ञान का लाभ लेने को समर्थ करनेवाला, जिनको केवल व्यवहार में जानकारी है उनको मूलतत्वों के अनुसार चलने और उनका मूल्य जानने का अभ्यास करानेवाला और उनको भिन्न भिन्न क्रिया पद्धतियों में तुलना करने और अपने विवेक से काम लेकर सब से अच्छी पद्धति पहचान लेना सिखाने वाला साधन है। हम जब अच्छी शाला की अपेक्षा करते हैं तब उस में से शिक्षक को खारिज नहीं करते। "जैसा गुरु वैसा चेला" यह कहावत पाठशाला और उसके नौजवानों की शिक्षा के विषय में जिस कदर सच है उसी कदर सार्वजनिक कर्त्तव्य द्वारा प्रौढ़ावस्था के मनुष्यों की परोक्ष शिक्षा के विषय में भी सच है। सब काम करने का प्रयत्न करने वाले राज्यतन्त्र को म० चार्लस् डी रेमुशेट * ने जो शिष्यों की तरफ से उनका सारा काम करनेवाले शिक्षक की उपमा दी है वह यथार्थ है;

* फ्रांस के नवीन सनतत्ताक राज्य की राज्यसभा का एक प्रसिद्ध प्रतिनिधि।

यह शिक्षक अपने शिष्यों में बहुत प्रिय तो हो जायगा परन्तु इस के साथ ही सिखावेगा भी थोड़ा ही। इसके विरुद्ध जो काम दूसरे किसी से होना सम्भव है उसे जो न तो करता है या न दूसरे किसी को यह बताता है कि कैसे करना चाहिये वह राज्यतन्त्र उस पाठशाला के ऐसा है जिस में शिक्षक नहीं है वरंच ऐसे शिष्य गुरु (Pupil Teachers) हैं जिन्हों ने स्वयं कभी नहीं सीखा।

सोलहवां अध्याय।

प्रतिनिधि राज्य के सम्बन्ध में राष्ट्रीयता।

जो सहानुभूति मनुष्य जाति के एक विभाग में परस्पर साधारण रूप से होती है परन्तु जो उसके दूसरे किसी विभाग के साथ साधारण रूप से नहीं होती—जो उस विभाग के लोगों को दूसरों की अपेक्षा आपस में हिल मिल कर काम करने की, एक ही राज्यतंत्र की सत्ता तले रहने की इच्छा रखने की और राज्यतंत्र भी अपना या अपने में से एक भाग का ही चाहने की वृत्ति उत्पन्न कराती है—उस सहानुभूति से परस्पर जुड़े हुए उस मनुष्य विभाग का एक राष्ट्र बना कह सकते हैं। राष्ट्रीयता या जातीयता का यह भाव विविध कारणों से उत्पन्न हुआ रहता है कितनी ही बार जाति और कुल की एकता के परिणाम से होता है। धर्म की एकता और भाषा की एकता से इसकी बहुत वृद्धि होती है। भौगोलिक सीमा इसका एक कारण होती है। परन्तु सब से जो प्रबल कारण है वह पहले के राजनीतिक चरित्रों का ऐक्य, साधारण सामाजिक इतिहास का अधिकार और उनके सम्बन्धी स्मरणों की सामान्यता, विगत प्रसङ्गों के सम्बन्ध में साधारण गर्व और मानभङ्ग

हर्ष और शोक है। इतने पर भी यह बात नहीं है कि प्रत्येक प्रसंग आवश्यक हो और न यह अवश्य करके स्वतः पूर्णतया है। स्वीजरलेण्ड के प्रान्तों में भिन्न भिन्न जातियां, भिन्न भिन्न भाषाएँ और भिन्न भिन्न धर्म होने पर भी राष्ट्रीयता का भाव प्रबल है। धर्म की एकता, प्रायः भाषा की एकता और बहुत अंश में पूर्व काल के ऐतिहासिक चरित्र की सामान्यता होने पर भी सभी इतिहासों में सिसिली अपनी राष्ट्रीयता के विषय में नेपल्स से बिलकुल भिन्न गिना गया है। वेलजियम के फ्लेमिश और वालून प्रान्तों की जाति और भाषा में भिन्नता होने पर भी पहले का हालेण्ड से या दूसरे का फ्रांस से जैसा साधारण राष्ट्रीय भाव है उसकी अपेक्षा उनमें परस्पर अधिक है। तथापि साधारण तौर पर किसी सहायक कारण के अभाव से राष्ट्रीय भाव उसी कदर कमजोर पड़ जाता है। यद्यपि जर्मन नाम धारण करने वाले भिन्न भिन्न विभाग कभी एक ही राज्य तंत्र की सत्ता तले वास्तव में नहीं जुड़े तथापि भाषा, साहित्य और किसी कदर जाति तथा स्मरण की एकता ने उनमें बहुत प्रबल राष्ट्रीय भाव बनाये रखा है। परन्तु वह भाव उस दरजे तक नहीं पहुंचा है कि उन भिन्न भिन्न राज्यों को अपने स्वराज्य का हक छोड़ देने की रुचि पैदा करावे। इटालियनों में भाषा और साहित्य का ऐक्य बहुत अपूर्ण है तथापि वह और उसके साथ उनको दूसरे देशों से स्पष्ट सीमा से अलग करने वाली भौगोलिक स्थिति और शायद सब से बढ़ कर कला, युद्ध, राज्यनीति, धर्माध्यक्षत्व (रोम के पोप की सब रोमन केथालिकों पर धर्म सम्बन्धी प्रधानता) शास्त्र और साहित्य के विषय में उनके नाम वाले किसी की प्राप्त की हुई सफलता में उन सब को गर्व कराने वाला एक साधारण नाम का अधिकार—इन सब ने मिल कर लोगों में इतना बड़ा

राष्ट्रीय भाव उत्पन्न किया है कि यद्यपि यह अभी अपूर्ण है तथापि और भिन्न भिन्न जातियों का बड़ा मिश्रण होने पर भी तथा जब रोमन राज्य प्रसिद्ध जगत के बड़े भाग पर बिखरा था और बिखरता था उस समय के सिवा प्राचीन या अर्वाचीन इतिहास में वे कभी एक राज्यतंत्र के तले नहीं रहे तो भी यह भाव हमारे सामने वर्त्तमान दृश्य दिखाने को (समग्र इटली को एक संयुक्त राज्य में जोड़ने को) समर्थ हुआ है।

जहां राष्ट्रीय भाव कुछ भी प्रबल होता है वहां उसके सब अंगों को एक ही राज्यतंत्र में और वह भी उनको स्वयं जान पड़ने वाले अलग राज्यतंत्र में जोड़ देने के लिये प्रत्यक्ष अवसर है। यह कहने का अर्थ इतना ही है कि राज्यतंत्र के प्रश्न का निर्णय प्रजा के हाथ से होना चाहिये। मनुष्य जाति का कोई विभाग मनुष्यों की भिन्न भिन्न संयुक्त संस्थाओं में से किस के साथ अपने को जोड़ना पसन्द करता है इस बात का निर्णय करने को अगर स्वतंत्र न हो तो यह जानना कठिन है कि वह क्या करने को स्वतंत्र होगा। परन्तु जब जनता स्वतंत्र राज्यतंत्र के लिये तय्यार होती है तब इस से भी बढ़ कर एक आवश्यक विचार करने को रहता है। भिन्न भिन्न राष्ट्रीयता वालों से बने देश में स्वतंत्र राज्यतंत्र असम्भव सा है। समभाव रहित जनता में और विशेष कर जब उसमें भिन्न भिन्न भाषाएँ लिखी और बोली जाती हों तब प्रतिनिधि राज्य चलाने के लिये जो संयुक्त लोकमत आवश्यक है वह विद्यमान नहीं मिलेगा राय कायम करने वाली और राजनीतिक कार्यों का निर्णय करने वाली सत्ताएँ देश के भिन्न भिन्न विभागों में भिन्न भिन्न हैं। नेताओं की बिलकुल भिन्न भिन्न टोलियां देश के भिन्न भिन्न भागों का विश्वास धारण करती हैं। उन सब को एक ही पुस्तकें, समाचार

पत्र, निबन्ध और भाषण नहीं पहुंचते। देश के एक विभाग में कैसी रायें और कैसी सलाहें फैल रही हैं इसको दूसरा विभाग नहीं जानता। एक ही घटनाएँ, एक ही काम और एक ही राज्य पद्धति उन पर भिन्न भिन्न रीति से असर करती है और हर एक जाति विद्यमान राज्यतंत्र रूपी सब से साधारण मध्यस्थ की अपेक्षा दूसरी जाति से अपना अधिक नुकसान होने का अन्देशा रखती है। राज्यतंत्र (सरकार) से ईर्षा रखने की अपेक्षा उनका परस्पर द्वेषभाव बहुधा बड़ा जबरदस्त होता है। अगर उनमें से एक जाति अपने को साधारण राज्यकर्त्ता की राज्यनीति से पीड़ित समझती है तो दूसरी जाति की ओर से उस राज्यनीति के समर्थन का प्रस्ताव स्वीकृत करने के लिये यथेष्ट कारण होता है। सब जातियां पीड़ित हों तो भी किसी जाति को ऐसा नहीं लगता कि मेल के साथ सामना करने में दूसरी जातियों पर भरोसा करें; किसी को अकेले सामना करने योग्य बल नहीं है और प्रत्येक का यह सोचना सकारण हो सकता है कि बाकी जातियों का सामना करके राज्यतंत्र की कृपा पाने का प्रयत्न करने से उसका अपना स्वार्थ अच्छी तरह सधेगा। सब से बढ़ कर राज्यतंत्र के अत्याचार से बचने के लिये लोगों के प्रति सेना का बन्धुभाव रूपी जो एकमात्र बड़ा और प्रभावशाली साधन है उसका इसमें अभाव है। प्रत्येक जनता में जो सैनिक मनुष्यों का वर्ग होता है उसमें देशी भाइयों और विदेशियों के बीच का भेद स्वभावतः सब से गहरा और प्रबल रहता है। दूसरे लोगों के लिये विदेशी सिर्फ अनजान मनुष्य हैं परन्तु सैनिकों की दृष्टि में वे ऐसे मनुष्य हैं कि जिनके साथ जीवन मरण का युद्ध करने के लिये उन्हें एक सप्ताह के अन्दर तय्यार होने का हुक्म मिल सकता है। उनकी दृष्टि में यह

भेद मित्र शत्रु का है या यों कहना भी ठीक हो सकता है कि उनमें मनुष्य और पशु का सा अन्तर है; क्योंकि शत्रु सम्बन्धी जो कानून हैं वे सिर्फ बल के कानून हैं और उनमें कुछ नरमी है तो सिर्फ दूसरे जीवों के प्रसङ्ग में जो है वही-दया भाव की है। जिस सैनिक की दृष्टि में समूचे राज्य की आधी या तीन चौथाई प्रजा विदेशी है उसे प्रगट शत्रु को कतल करने में जितना संकल्प विकल्प होगा या इसका कारण जानने की जितनी उत्कण्ठा होगी उसकी अपेक्षा ऐसी प्रजा को कतल करने में कुछ अधिक नहीं होगी। भिन्न भिन्न जातियों की बनी सेना को जो एक ध्वजाभक्ति होती है उसके सिवा दूसरी कोई देश भक्ति नहीं होती। ऐसी सेना सारे आधुनिक इतिहास के समय में स्वतंत्रता की संहारकारिणी हुई है। उसे एकत्र रखने वाला जो बंधन है वह सिर्फ उसके अफसरों का है और जिस की वह चाकरी करती है उस राज्यतंत्र का ही है। उसको अगर कुछ सार्वजनिक कर्त्तव्य का विचार हो सकता है तो सिर्फ आज्ञा के अधीन होने का। ऐसा बल वाला राज्यतंत्र अपनी हंगेरियन सेना इटली में और इटालियन सेना हंगरी में रख कर दोनों में विदेशी विजेताओं का अत्याचारी शासन लम्बे समय तक चला सकता है।

अगर यह कहा जाय कि स्वदेशी भाई के प्रति कर्त्तव्य और साधारण मनुष्य मात्र के प्रति कर्त्तव्य में ऐसा विशाल लाक्षणिक भेद तो सभ्य की अपेक्षा जंगली मनुष्यों में अधिक सम्भव है और पूरे बल से इसका विरोध होना चाहिये तो यह विचार किसी के मन में मेरी अपेक्षा अधिक दृढ़ नहीं होगा; परन्तु मनुष्य-प्रयत्न से आजमाने लायक यह सब से योग्य उद्देश्य सभ्यता की वर्त्तमान स्थिति में लगभग समान बलवाली भिन्न भिन्न जातियों को एक ही शासन में रखने से

भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। जनता की जंगली अवस्था में कितनी ही वार अन्तर पड़ता है। ऐसे समय देश में शान्ति बनाये रखने और आसानी से राज्यतन्त्र को भिन्न जातियों का वैर भाव शान्त रखने से शायद लाभ हो। परन्तु जब कृत्रिम बन्धन से बंधे हुए जन समूह में किसी और का स्वतंत्र तन्त्र होता है अथवा उसे पाने का अभिलाप होता है तब राज्यकर्त्ता का स्वार्थ बिलकुल विरुद्ध दिशा में ही रहता है। ऐसे समय परस्पर मेल होने से रोकने और उन में से कुछ को हाथ का खिलौना बना कर बाकी को गुलामी में लाने को स्वयं समर्थ होने के लिये राज्यकर्त्ता की वृत्ति उनका वैर बनाये रखने और उन में अधिक विष बोने की तरफ होती है। आस्ट्रियन सरकार ने हाल के सारे जमाने में इन युक्तियों से राज्यशासन के मुख्य साधन के तौर पर काम लिया है, और (१८४८ में) वियना के हुल्लड़ और हंगेरियन लड़ाई (जो १८४६ में लुईकोसथ नाम के देशभक्त ने हंगरी को स्वतन्त्र करने के लिये उठायी थी) के समय इसकी कैसी घातकारिणी सफलता हुई थी यह सारा संसार अच्छी तरह जानता है। सौभाग्य से अब उन्नति इतने आगे बढ़ने के चिन्ह दिखाती है कि इस नीति का अधिक बार सफल होना सम्भव नहीं होगा।

ऊपर लिखे कारणों से राज्यतन्त्र का विस्तार मुख्यतः जातियों के विस्तार के अनुसार रहना चाहिये यह साधारणतः स्वतंत्र तंत्रों की एक आवश्यक शर्त है। परन्तु कितने ही कारणों का इस नियम के अनुभव में आड़े आना सम्भव है। प्रथम तो इस के प्रयोग में कितनी ही बार भूमि सम्बन्धी बाधा पड़ती है। युरोप के भी जो कितने विभाग हैं उन में एक ही स्थान में भिन्न भिन्न जातियां आकर इस तरह गड्डमड्ड बस गयी हैं कि उनको भिन्न भिन्न राज्यतंत्रों के अधीन करना

असम्भव है। हंगरी में मोजरों, स्लोवकों, क्रोटों, सर्वों और रोमनों की वस्ती है और कितने प्रांतों में जर्मन भी हैं और वे इस तरह मिले हुए हैं कि उनका स्थान के हिसाव से विभाग करना असम्भव है। उनको दैवयोग के अधीन होकर एक समान हक और कानून के अन्दर एकत्र रहने पर सन्तोष करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। हंगरी की स्वतंत्रता के विनाश के साथ ही १८४६ में शुरू होनेवाली अपनी साधारण गुलामी से वे ऐसे संयोग के लिये तय्यार होते और रुचि रखते दिखाई देते हैं। पूर्व प्रशिया का जर्मन संस्थान (टापू। प्राचीन पोलेण्ड का एक भाग बीच में आ जाने से जर्मनी से विछुड़ गया है और वह अपनी स्वतंत्रता अलग नहीं बनाये रख सकता। इस से निर्बल होने के कारण अखण्ड भूमि विस्तार बनाये रखना हो तो या तो उसे जर्मन से भिन्न राज्यतन्त्र में रहना चाहिये या बीच का पोलिश प्रदेश जर्मन अधिकार में होना चाहिये। दूसरा बड़ा प्रदेश जिस में वस्ती का प्रधान तत्व जर्मन है (कोरलेण्ड, एसथोनिया और लिवोनिया के प्रान्त) अपनी स्थानिक स्थिति के कारण स्लेवोनियन (रुस) राज्य का भाग होने को बना है। पूर्व जर्मनी में वस्ती का बड़ा भाग स्लेवोनियनों का है; (आस्ट्रिया के पश्चिमी प्रान्त) बोहीमिया की मुख्य वस्ती स्लेवोनियनों की है और किसी कदर सैलीशिया (प्रशिया के अधीनस्थ प्रान्त) और दूसरे प्रान्तों में वे हैं। फ्रांस जो युरोप का सब से सुगठित देश है वह भी पूरा पूरा अमिश्र—निश्चित नहीं है; इसके सब से दूर के सीमावाले विभागों में जिन विदेशी जातियों का अंश है उनको गिनती में न लें तो भी भाषा और इतिहास से सावित होता है कि उसके दो विभाग हैं; एक भाग में लगभग सारी वस्ती गेलो रोमनों की

है और दूसरे में फ्रांक बर्गंडियन और दूसरी ट्यूनिक जातियों की बड़ी वस्ती है।

भौगोलिक प्रसङ्गों के विषय में काफी छूट रखने के बाद हमारी नजर के सामने जो विचार आता है वह इसकी अपेक्षा अधिक पूर्णता से सात्विक और सामाजिक है। अनुभव से प्रमाणित होता है कि एक जाति का दूसरी में मिलकर गड्डमड्ड हो जाना सम्भव है और वह जाति अगर मूल मनुष्य जाति की बहुत घटिया दरजे और पिछड़े हुए विभाग की होगी तो यह मिलावट उसे लाभकारी होगी। यह कोई नहीं सोच सकता कि ब्रिटन या फ्रेंच नवार के वास्के (फ्रांसीसियों से एक जुदी ही जाति के) लोगों को प्राचीन काल के अर्द्ध जंगली खंडहरों की तरह अपने टीलों पर भटकने और संसार के साधारण प्रवाह में भाग या स्वाद लिये बिना अपने ही संकीर्ण मंडल में घूमा करने की अपेक्षा ऊँचे सुधार और शिक्षित फ्रेंच जन समाज के विचार तथा वृत्तियों के प्रवाह में मिलना—फ्रेंच जाति के अंग के तौर पर फ्रेंच नागरिक के सारे हक का एक समान उपभोग करना और फ्रेंच संरक्षण का लाभ और फ्रेंच सत्ता का मान और गौरव अनुभव करना अधिक हितकारी नहीं है। ब्रिटिश जनसमाज के अंग स्वरूप वेल्स के निवासियों (जो अंगरेज और स्काच से भिन्न केल्टिक जाति के हैं) और स्काटलैण्ड के हाइलैण्डरों (पर्वतवासियों) पर भी यही विचार घटित होता है।

भिन्न भिन्न जातियों का संमिश्रण करने में और उनके गुणों और विलक्षणताओं को एक शामिल करके उनका सामान्य संयोग कराने में जो जो विषय सहायक होते हैं वे सब मनुष्य जाति को लाभकारी होते हैं। और वे भिन्न भिन्न

नमूनों को पूरा पूरा नष्ट कर के नहीं वरंच उनके वेहद विलक्षण स्वरूपों को सामान्य घाट में लाकर और उनके बीच का अंतर भर कर। क्योंकि इन प्रसङ्गों में उनके यथेष्ट दृष्टान्त तो अवश्य रहते हैं। संयुक्त जन समाज, पशुओं की मिश्रित सन्तति की तरह (परन्तु जो असर जारी रहता है वह जैसे शारीरिक होता है वैसे सात्विक भी होता है इस से उस से भी वहुत वढ़ कर) अपने सब पूर्वजों की लाक्षणिक प्रकृति और गुण प्राप्त करता है और इस संमिश्रण से वह प्रकृति और गुण वढ़ कर उसके मुकावले के होने से रुकते हैं। परन्तु विलक्षण अवस्थाओं का अवसर आये विना यह संमिश्रण होना असम्भव है। जब विविध प्रकार की स्थितियों का संयोग हो जाता है तभी वह परिणाम पर असर करता है।

एक ही राज्यतंत्र के अधीन मिली हुई जातियां संख्या और वल में कभी प्रायः समान हो सकती हैं और कभी वहुत असमान। असमान होने पर उन दो में जो संख्या में छोटी होगी वह सभ्यता में वढ़ कर होगी या घट कर होगी। मान लो कि वढ़ कर है तो या तो वह अपनी श्रेष्ठता द्वारा दूसरी जाति पर अधिकार प्राप्त करेगी अथवा जड़ वल से हार कर उसके अधीन हो रहेगी। यह पिछली अवस्था मनुष्य जाति के लिये पूर्ण रूप से हानिकारक है और सभ्य जगत को उसे रोकने के लिये एक शामिल होकर हथियार सजना चाहिये। ग्रीस पर मेसिडोनिया की विजय * जैसी आफत दुनिया पर कभी न आयी होगी। फिर

---

* मेसिडोनिया के राजा फिलिप ने ईस्वी सन् से ३३८ वर्ष पहले करोनिया के युद्ध में ग्रीस को जीता था।

युरोप के किसी मुख्य देश पर रूस की विजय हो तो वैसी एक दूसरी आफत आ पड़े *।

जिस बहुत छोटी जाति को हमने सुधार में अग्रसर माना है वह, जैसे ग्रीक का बल अपने में मिलने से मेसिडोनिया ने एशिया को जीता अथवा अंगरेजों ने हिन्दुस्थान को जीता वैसे, बहुत बड़ी जाति को वश करने में समर्थ हो तो सभ्यता को बहुधा लाभ होता है, परन्तु इस दशा में विजेता और विजित एक ही स्वतंत्र नियमतंत्र के अधीन नहीं रह सकेंगे। कम सुधरे हुए लोगों में मिलने से विजेता का लय हो जाय तो अनर्थ हो। ऐसों पर प्रजा के तौर पर राज्य चलाना चाहिये; और उन को स्वतंत्र राज्य तंत्र तले न रखने से नुकसान होगा ऐसी अवस्था में वे आये हैं कि नहीं और जो पद्धति उनको सुधार की बहुत ऊँची अवस्था के लिये लायक बनाने वाली गिनी जाती है उस पद्धति से विजेता अपनी श्रेष्ठता को काम में लाते हैं कि नहीं इसके अनुसार यह स्थिति लाभदायक या भयानक निकलेगी। आगे के एक अध्याय में इस विषय की विशेष आलोचना की जायगी।

जो जाति दूसरी जाति को वश करने में सफलता पाती है वह जब संख्या में सब से बड़ी और सब से अधिक उन्नत होती है और खास कर के जब विजित जाति छोटी और स्वतंत्रता फिर से पाने की आशा से रहित होती है तब अगर उसके ऊपर कुछ अच्छी रीति से न्याय पूर्वक राज्य

* रूस को जिस अवस्था में देखकर यह आशंका की गयी थी उस अवस्था में वह अब नहीं है। यूरोप के महासमर ने रूस की ऐसी दुर्गति कर दी है कि अब वह दूसरे देश तो क्या जीतेगा उसको अपने तईं सम्हालना कठिन हो रहा है।

किया जाता होगा और बहुत बलवान जाति के मनुष्य असाधारण हक हथिया कर द्वेष भाजन न हुए होंगे तो वह छोटी जाति अपनी स्थिति में सन्तोष करके बड़ी में मिलजुल जायगी। इस समय किसी खास ब्रिटन या श्रालसेशियन को फ्रांस से अलग होने को तनिक इच्छा नहीं है। सब आइरिश जो अभी तक इंगलेण्ड की ओर ऐसा रुख नहीं रखते हैं उसका कारण यह है कि उनकी संख्या इतनी बड़ी है कि वे स्वयं एक प्रतिष्ठित जाति हो कर रहने को समर्थ हैं और मुख्य कारण यह है कि कुछ वर्षों तक उनके ऊपर ऐसी क्रूरता से शासन किया जाता था कि सेक्सन शासन के विरुद्ध उनका तीव्र कोप जगाने में उनकी दुष्ट वृत्तियों के साथ सारी शुभ वृत्तियां भी शामिल रहती थीं। इंगलेण्ड को लज्जित करने वाली और सारे साम्राज्य को आफत रुप हो पड़ने वाली रीति सच पूछो तो एक पीढ़ी से पूर्ण रूप से बन्द हुई कही जाती है। इस समय कोई आइरिश ब्रिटिश राज्य के दूसरे किसी भाग में जन्म लेने पर जितना स्वतंत्र होता और अपने देश या व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में जितना लाभ पाता उसकी अपेक्षा कम स्वतंत्र नहीं है या कम लाभ नहीं अनुभव करता है। राज्य धर्म का जो एक मात्र असली कष्ट आयर्लैण्ड पर बाकी है वह जैसे उसको है वैसे इस बड़े टापू के आधे या प्रायः आधे लोगों का भी है। ये जो दो जातियां एक दूसरे का पूरक अंग होने के लिये संसार में सब से अधिक योग्य हैं उनको विलग रखने के लिये भूतकाल का स्मरण और प्रधान धर्म (राज्य के स्वीकार किये हुए मुख्य धर्म) में भेद के सिवा दूसरा कोई कारण नहीं है। हमारे साथ समान न्याय से ही नहीं वरंच समान विवेक पूर्वक भी बर्ताव किया जाता है यह समझ आइरिश जाति में ऐसी तेजी से फैलती जाती है कि जो उन

के सब से निकटस्थ पड़ोसी ही नहीं वरंच पृथ्वी की सब से सुधरी और बलवान तथा सब से धनवान और स्वतंत्र जाति के हैं उनसे अलग रहने की अपेक्षा उनके नागरिक बन्धु हो कर रहने में संख्या और सम्पत्ति में घटिया जाति को जो लाभ अवश्य करके होता है उसके विषय में लापरवाही रखने वाली सारी वृत्तियां घटने लगी हैं *।

जहां जुड़ी हुई जातियां संख्या तथा प्रभाव के दूसरे तत्वों में लगभग समान होती हैं वहां उनके संमिश्रण के मार्ग में वास्तव में सब से भारी रुकावटें पड़ती हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक जाति अपने बल पर विश्वास रख कर तथा वह स्वयं किसी दूसरी जाति से समान युद्ध करने को समर्थ है यह समझ कर उसमें मिलने से नाखुश होती है; इस भेद को बढ़ाने के लिये उठे हुए रिवाज और नए होती हुई भाषाएं भी ताजा की जाती हैं; जब प्रतिद्वन्दी जाति के हाकिम उनकी सीमा में हुकूमत चलाते हैं तो हर एक जाति अपने पर जुल्म हुआ समझती है, और जो कुछ वस्तु प्रतिद्विन्दी जातियों में से एकाध को दी जाती है वह शेष जातियों के हाथ से छीनी हुई कही जाती है। जब इस प्रकार बंटी हुई जातियां किसी निरंकुश राज्यतंत्र के अधीन होती हैं और वह राज्य तंत्र उन सब जातियों से भिन्न प्रकार का होता है अथवा उनमें से एकाध से उत्पन्न होने पर भी कुछ भी राष्ट्रीय भाव न रख कर अपनी हुकूमत का अधिक विचार रखता है और किसी एक जाति को कुछ विशेष हक नहीं देता, वरंच सब जातियों में से समान भाव से अपना साधन पसन्द करता है तब कुछ जमाने में और

* फिर भी अब आयर्लेण्ड स्वराज्य मांग रहा है और ब्रिटिश गवर्मेण्ट उसे देने को तय्यार हो रही है।

खासकरके जब वे जातियां एक ही प्रदेश में पसरी हुई होती हैं तब उनकी समान स्थिति होने से उनमें बहुधा समभाव उत्पन्न होता है और भिन्न भिन्न जातियाँ एक दूसरी को स्वदेशी बन्धु समझने लगती हैं। परन्तु जहां ऐसी एकरूपता होने के पहले स्वतंत्र राज्यतंत्र का अभिलाष करने का समय आया कि इस संमिश्रण का प्रसङ्ग गया समझना। उस समय से अगर ये अमिश्रित जातियां भौगोलिक व्यवस्था में एक दूसरे से अलग हों और खास करके जब उनकी स्थानिक स्थिति ऐसी हो कि उनको (फ्रेंच या जर्मनी की सत्ता तले इटालियन प्रान्त की तरह) एक ही राज्यतंत्र तले रहने में कुछ स्वाभाविक योग्यता या अनुकूलता न हो तो सम्पूर्ण सम्बन्ध तोड़ने में खुली नीति है इतना ही नहीं वरंच अगर स्वतंत्रता या सुलह शान्ति दो में से एक दरकार हो तो वैसा करने के लिये आवश्यकता भी है। ऐसा प्रसङ्ग भी होता है कि प्रान्त अलग होने के बाद शायद माण्डलिक बन्धन से संयुक्त रहने में लाभ हो परन्तु साधारणतः ऐसा होता है कि यद्यपि वे प्रान्त अपनी सम्पूर्ण स्वतंत्रता का हक छोड़ कर माण्डलिक संयोग का अंग होने को राजी होते हैं तो भी उनमें से प्रत्येक को अपने किसी दूसरे पड़ोसी के साथ साधारण सहानुभूति और कभी कभी एक स्वार्थ होने के कारण सम्बन्ध जोड़ने की अधिक रुचि होती है।

सत्रहवाँ अध्याय।

संयुक्त प्रतिनिधि शासन के विषय में।

मनुष्य जाति के जिन विभागों में संयुक्त राज्यतंत्र के अधीन रहने की योग्यता या वृत्ति न हो उनको बहुधा विदेशियों से व्यवहार करने के विषय में राज्य-संयोग में शामिल होने से

लाभ हो सकता है; क्योंकि ऐसा करने से जिस तरह आपस की लड़ाइयां रुकती हैं उसी तरह बलवान राज्यों के आक्रमण से बचने का अधिक प्रभावशाली साधन मिलता है।

राज्य संयोग अभीष्ट हो तो उसके लिये कई शर्तों की जरूरत है। एक यह कि भिन्न भिन्न बस्तियों में यथेष्ट रूप से परस्पर सहानुभूति होनी चाहिये। राज्य संयोग से वे लोग हमेशा एक पक्ष पर लड़ने को बाध्य होते हैं और अगर उनमें ऐसी वृत्तियां हों अथवा ऐसा वृत्ति विरोध हो कि वे बहुत करके एक दूसरे के विरुद्ध पक्ष में लड़ना पसन्द करें तो इस संयोग (मिलाप) बन्धन का लम्बी मुद्दत रहना तक अथवा जब तक टिके तब तक अच्छी तरह माना जाना सम्भव नहीं है। इस उद्देश्य के उपयुक्त सहानुभूति जाति, भाषा और धर्म सम्बन्धी और खास करके राजनीतिक सम्बन्धी है; क्योंकि इससे राजनीतिक स्वार्थ की एकता की वृत्ति सब से अधिक दरजे तक उत्पन्न होती है। जहां कुछ स्वतंत्र राज्य, जो अपना अलग अलग बचाव स्वयं करने को असमर्थ होते हैं वे सब ओर से लड़ाकू या चक्रवर्ती राजाओं से घिरे होते हैं, वहां उनको अपनी स्वतंत्रता और उसमें मौजूद सुख की रक्षा करने के लिये राज्य-संयोग के सिवा और कोई उपाय सम्भव नहीं है। जब सारे युरोप में अचल राजनीतिक वैर का प्रबल कारण धर्म था तब भी, अपने में धर्मभेद ही नहीं, वरंच संयोग के गठन में भी भारी त्रुटि होने पर भी स्वीजरलेण्ड में इस कारण से उत्पन्न हुआ सामान्य स्वार्थ कुछ सदी तक राज्य संयोग का बन्धन प्रभावशाली बनाये रखने के लिये यथेष्ट मालूम हुआ है। अमेरिका में जहां केवल गुलामी के सब से आवश्यक विषय में ही नियमभेद की एक मात्र रुकावट के सिवा राज्य-संयोग बनाये रखने के लिये सारी शर्तें मौजूद थीं वहां इस एक

भेद ने राज्य संयोग के दो विभागों की पारस्परिक सहानुभूति को एक दूसरे से यहां तक अलग कर दिया है कि जो बन्धन उन दोनों के लिये इतना मूल्यवान है वह साबित रहेगा कि टूटेगा इसका निर्णय एक हठीले अंतर्विग्रह के परिणाम से होगा *।

संयुक्त राज्यतंत्र की स्थायिता की दूसरी शर्त यह है कि पृथक् पृथक् राज्य विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिये अपने ही बल पर भरोसा रख सकें इतने बलवान न होने चाहियें। अगर वे होंगे तो यह सोचने लगेंगे कि दूसरों से मेल करने में उनको अपने क्रियास्वातंत्र्य के विषय में जो त्याग करना पड़ता है उसका बदला नहीं मिलता; और इससे जब राज्य-संयोग की सत्ता तले छोड़े हुए विषयों में संयोग की नीति किसी पृथक् राज्य की इच्छा से भिन्न होगी तो संयोग स्थायी रखने की यथेष्ट उत्कंठा के अभाव से वर्गीय अंतर्भेद द्वारा उसके टूट जाने तक की नौबत आने का भय रहेगा।

तीसरी शर्त, जो पहली दो से कम आवश्यक नहीं है, ऐसी है कि मेल करने वाले भिन्न राज्यों में बल की बहुत प्रत्यक्ष असमानता नहीं चाहिये। वे साधन में तो बेशक एक समान नहीं हो सकते; सब राज्य-संयोगों के अंगों में बल कमोबेश होगा; कितने ही दूसरों की अपेक्षा अधिक बस्ती वाले धनवान और सभ्य होंगे। न्यूयार्क और रोड टापू के बीच में, तथा बर्न और जुग या ग्लेरिस के बीच में धन और जन का विशाल भेद है। आवश्यकता इतनी ही है कि उनमें से एकाध राज्य दूसरे से इतना अधिक बलवान न होना चाहिये कि वह बहुतों के साथ अपने बल की परीक्षा करने को समर्थ

* १८६१-१८६५ का अमेरिकन गृह युद्ध जिसका अंत उत्तर के राज्यों की विजय और गुलामी बन्द होने से हुआ।

हो। ऐसा कोई और यह भी एक ही होगा तो वह सब सम्मिलित परामर्शों में अपना प्राबल्य रखने का आग्रह करेगा; दो होंगे तो वे जब एकमत होंगे तब अरोध्य हो जायँगे और फुट मत होंगे तब उन दोनों में प्रबल युद्ध चल जायगा और उसके परिणाम से प्रत्येक विषय का निबटेरा होगा। जर्मन बंड (जर्मन राज्यों के संयोग) को तुच्छ भीतरी बन्धन न गिनें तो भी उसको प्रायः शून्य समान बना डालने के लिये एक यही कारण बस है। इससे राज्य-संयोग का कुछ भी वास्तविक उद्देश्य नहीं सधता। इससे जर्मनी को साधारण चुंगी की पद्धति नहीं मिली है इतना ही नहीं वरंच सामान्य सिक्का भी एक समान कभी नहीं मिला; इतना ही हुआ है कि आस्ट्रिया और प्रशिया स्थानिक राज्यकर्त्ताओं को अपनी प्रजा को निरंकुश राज्य के वश में रखने में मदद कर सकें इसके लिये उन्हें अपनी सेना भेजने का कानून के रू से हक मिला है। बाहरी विषयों के सम्बन्ध में तो इस बंधन के परिणाम से सारा जर्मनी अगर आस्ट्रिया न हो तो प्रशिया के और प्रशिया न हो तो आस्ट्रिया के वश हो रहे; और इस बीच में प्रत्येक छोटे राजा को एक या दूसरे का पक्षकार हो रहने अथवा विदेशी राज्यों के साथ दोनों के विरुद्ध गुट्ट रचने के सिवा दूसरा रास्ता थोड़े ही है।

राज्यसंयोग का गठन-करने की दो भिन्न भिन्न पद्धतियां हैं। राज्यसंयोग के अधिकारी अफसर या तो सिर्फ राज्यों के प्रतिनिधि हों और इससे उनके कृत्य एक प्रकार राज्यों के ही बंधनकारी हो सकते हैं, अथवा उनको ऐसी सत्ता हो कि वे पृथक पृथक् नागरिकों के बंधन रूप होनेवाले कानून बना सकें और इस किस्म के हुक्म निकाल सकें। जर्मनी के उक्त राज्यसंयोग की और १८४७ से पहले के स्वीजरलेण्ड के

राज्यतन्त्र की व्यवस्था पहली पद्धति के अनुसार है। अमेरिका में भी स्वतन्त्रता के विग्रह के बाद कुछ वर्षों तक यह पद्धति आजमायी गयी थी। संयुक्त राज्य (युनाइटेड स्टेट्स) का वर्तमान गठन दूसरी पद्धति पर है और स्वीजरलेण्ड के राज्यसंयोग ने गत बारह वर्षों से यह पद्धति स्वीकार की है। अमेरिकन राज्यसंयोग की संयुक्त राज्यसभा प्रत्येक पृथक् राज्य के राज्यतंत्र का सार भाग है। वह अपने कर्त्तव्यों की सीमा में रहकर जो जो कानून बनाती है उसे प्रत्येक नागरिक को मानना पड़ता है; वह अपने हाकिमों की मार्फत उसे चलाती है और अपनी अदालतों की मार्फत अमल में लाती है। सचमुच सबल राज्यसंयोग स्थापन कर सकते हैं ऐसा नियम तो यही मालूम हुआ है या कभी मालूम हो सकता है। केवल राज्यतन्त्रों का संयोग तो मित्रता मात्र है और वह मित्रता में खलल डाल सकनेवाले सब मित्रों की सत्ता के वश रहती है। राष्ट्रपति और राज्यसभा के कानून सिर्फ न्यूयार्क, वरजिनिया या पेन्सिलवेनिया के राज्यतन्त्र पर ही बंधनकारी होते और वे राज्यतंत्र अपने नियुक्त किये हुए हाकिमों पर निकाले हुए हुक्म की मार्फत ही और अपनी ही न्याय सभाओं के सामने जबाबदेही की झोंकी से अमल में ला सकते तो संयुक्त राज्यतंत्रों का जो हुक्म स्थानिक बहुमत को नापसन्द होता वह कभी अमल में न लाया जाता। राज्यतंत्रों पर की हुई फरमाइशों मंजूर कराने के लिये लड़ाई के सिवा दूसरी जिम्मेवारी या उपाय नहीं है; प्रत्येक अड़े हुए राज्य से राज्यसंयोग को अपने हुक्म की तामील कराने के लिये अपनी सेना हमेशा तय्यार रखनी पड़ती; और इसके साथ यह भी सम्भव रहता कि जो दूसरे राज्य इस दुराग्रही राज्य से सहानुभूति रखते और कभी कभी विवादग्रस्त विषय में उसी के

ऐसा विचार रखते वे शायद उक्त सामना करनेवाले राज्य की सेना की सहायता को अपनी सेना भेजने की सीमा तक न जाते तो भी उसे रोक तो रखते ही। ऐसे राज्यसंयोग का अन्तर्विग्रह रोकने के बदले उसका कारण हो जाना अधिक सम्भव है; और १८४७ ईस्वी के निकट के वर्षों की घटनाओं तक स्वीजरलेण्ड में उसका ऐसा कुछ परिणाम न होने का कारण यह है कि संयुक्त राज्यतंत्र को अपनी इस कमजोरी का इतना दृढ़ विश्वास था कि वह वास्तव में हुक्म चलाने का प्रयत्न मुश्किल से करता। अमेरिका में इस नियम पर की हुई राज्यसंयोग की आजमाइश उसके अस्तित्व के प्रथम कुछ वर्षों में ही निष्फल हुई; परन्तु सौभाग्य से जिन महान ज्ञान और प्रतिष्ठित सत्ता वाले महापुरुषों ने यह स्वतन्त्र जन सत्ताक राज्य स्थापित किया था वे उसको इस कठिन अवस्था से सही सलामत पार उतारने को उस समय तक विद्यमान थे। नये राज्य-संयोग को अभी राष्ट्रीय सम्मति लेनी थी, इस बीच में उसके समर्थन और स्पष्टीकरण के लिये उनमें से तीन महापुरुषों के लिखे हुए "राज्यसंयोगी" नामक पत्रों का संग्रह * अब भी राज्यसंयोग के विषय में हमारे पास के सब निबन्धों में सब से बढ़कर शिक्षाप्रद है। जर्मनी के बहुत अपूर्ण राज्य-संयोग ने मेल बनाये रखने का उद्देश्य भी सिद्ध नहीं किया, यह सब को मालूम है। इससे

* मि० फ्रीमैन कृत "संयुक्त राज्यतंत्रों का इतिहास" जिसका अभी सिर्फ प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है, उससे इस विषय के साहित्य में वास्तविक वृद्धि हुई है और वह जितना अपने शुद्ध मूल-तत्व के लिये मूल्यवान है उतना ही अपने ऐतिहासिक वृत्तान्त की सत्यता के लिये। ग्रन्थकार

किसी युरोपियन विग्रह में संयोग के अलग अलग राज्य विदेशी सत्ताओं से मिल कर बाकी राज्यों का सामना करने से कभी नहीं रुके। परन्तु राजसत्ताक राज्यों में तो यह एक ही तरह का संयोग सम्भव दिखलाई देता है। राजा जो सत्ता रखता है वह सौंपी हुई नहीं वरंच उत्तराधिकार में मिली हुई होती है और वह जैसे उसके पास से नहीं ली जा सकती वैसे उसे काम में लाने के लिये राजा को किसी के सामने जवाबदेह नहीं बना सकते। इससे यह बात असम्भव है कि वह अपनी अलग सेना रखने का हक छोड़ दे या दूसरी सत्ता उसकी प्रजा पर उसकी मार्फत नहीं वरंच वाला वाला सर्वोपरि अधिकार चलावे तो वह सहे। राज सत्ता के अधीनस्थ दो तीन देशों को सबल राज्य संयोग में जुड़ने के लिये यह आवश्यक बात है कि वे एक ही राजा के हाथ में हों। इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड के राजपद और पार्लीमेण्ट के सम्मिलन के बीच की कोई एक सदी तक (१६०३—१७०७) उनमें इस प्रकार का संयोग था। यह संयोग भी जो सबल था वह संयोग सम्बन्धी नियमों से नहीं क्योंकि ऐसे नियम थे ही नहीं, वरंच उस समय के बड़े भाग की अवधि में दोनों राज्यतंत्रों के अन्दर राजा की सत्ता प्रायः ऐसी सम्पूर्ण थी कि दोनों की परराष्ट्र सम्बन्धी राज्यनीति एक पुरुष के स्वतंत्र विचार के अनुसार चलती थी।

राज्य-संयोग की जिस अधिक पूर्ण पद्धति में प्रत्येक पृथक् राज्य के प्रत्येक नागरिक को दो राज्य तंत्रों की—एक अपने राज्य तंत्र की और दूसरे राज्य संयोग की—आज्ञा मानती होती है उसमें स्पष्टतया आवश्यक है कि प्रत्येक के राज्यनीतिक अधिकार की सीमा खास और स्पष्ट रूप से नियत हो; इतना ही नहीं वरंच किसी विवादग्रस्त विषय में

दो राज्यों में निर्णय करने की सत्ता दो में से एक के हाथ या उसके किसी अधीनस्थ हाकिम के हाथ में न रहकर दोनों से स्वतंत्र किसी मध्यस्थ के हाथ में रहनी चाहिये। राज्यसंयोग के प्रत्येक राज्य में सदर अदालत और उसके अधीन छोटी अदालत होनी चाहिये कि जिससे ऐसे प्रश्न उनके सामने पेश किये जायँ तथा इन प्रश्नों के अन्तिम पुनरवलोकन के समय वे जो फैसला करें यह अन्तिम माना जाय। राज्य संयोग के प्रत्येक राज्य के ऊपर—स्वयं संयुक्त राज्यतंत्र के ऊपर भी तथा प्रत्येक के हर एक अफसर पर अपने अधिकार का उल्लंघन करने के लिये अथवा राज्य-संयोग के प्रति अपना कर्त्तव्य पालने में त्रुटि करने के लिये मुकद्दमा चलाने का अधिकार इन अदालतों को होना चाहिये और उनको अपना राज्य संयोग सम्बन्धी हक अमल में लाने के लिये भी साधारण तौर पर इन्हीं अदालतों का साधन व्यवहार करने का कर्त्तव्य रखना चाहिये। इस स्थिति में जो विलक्षण परिणाम घुसा हुआ है और जो युनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राज्य) में प्रत्यक्ष रीति पर अनुभव-सिद्ध हुआ है वह यह है कि संयुक्त राज्यतंत्र का सर्वोपरि धर्मासन जो न्यायसभा है वह राज्यसंयोग या माण्डलिक राज्य—प्रत्येक के राज्यतंत्र पर सर्वोपरि बनी रहती है; क्योंकि राज्यतंत्रों के बनाये हुए कानून या किये हुए काम राज्यसंयोग के गठन से मिली हुई सत्ता का उल्लंघन करते हैं और इसके लिये उनका कुछ नियमबद्ध अधिकार नहीं है यह निर्णय जताने का उस सभा को हक है। आजमाइश होने से पहले स्वाभाविक तौर पर यह दृढ़ सन्देह उठता है कि यह प्रबन्ध कैसे चलेगा; अदालत अपनी कानूनी सत्ता का अमल करने की हिम्मत रखेगी कि नहीं, अगर रखेगी तो चतुराई से उसको अमल में लावेगी कि नहीं और राज्यतंत्र उसके

फैसले के सामने शान्त भाव से सिर झुकाना स्वीकार करेगा कि नहीं। अमेरिकन राज्य-तंत्र का अन्तिम स्वीकार होने से पहले उसके ऊपर चली हुई चर्चा से साबित होता है कि ऐसा स्वाभाविक सन्देह बहुत जोरों से उठा था परन्तु अब वह बिलकुल शान्त हो गया है, क्योंकि इसके बाद जो दो पीढ़ियों से अधिक समय बीत गया है उसकी अवधि में यद्यपि संयुक्त और पृथक् राज्यतंत्रों की सत्ता की सीमा के सम्बन्ध में बहुत कड़वी तकरार चली है और पक्षापक्ष के लिये हथियार रूप हो गयी थी तो भी ऐसा कुछ नहीं हुआ है कि इस सन्देह को सच साबित करे। जैसा कि म० टॉकिवल टीका करते हैं, ऐसी विलक्षण व्यवस्था के ऐसे परम लाभदायक प्रबन्ध का मूल बहुत अंश में न्यायसभा में अपनी स्थिति द्वारा मौजूद एक खासियत में है; अर्थात् वह जिस कानून का खुलासा करती है वह सिर्फ कानून के रू से और केवल तत्व विचार से नहीं करती; परन्तु जब तक झगड़े का मुकद्दमा मनुष्य मनुष्य में नहीं उठता है और इन्साफ के लिये उसके सामने पेश नहीं होता है तब तक वह राह देखा करती है; और उसका हितकारी परिणाम यह निकलता है कि फैसला विवाद की बहुत आरम्भिक अवस्था में नहीं किया जाता; फैसला निकलने से पहले साधारण तौर पर बहुत लोक चर्चा हुई रहती है; न्यायसभा दोनों ओर के प्रतिष्ठित वकीलों द्वारा, विवादग्रस्त विषय पर, की हुई बहस सुनने के बाद अपना फैसला सुनाती है; विवादग्रस्त विषय का जिस समय, जितना भाग अपने सामने के मुकद्दमे से सम्बन्ध रखता है उतने ही भाग पर—उस समय फैसला करती है। और वह किसी राजनीतिक उद्देश्य से आप से आप प्रगट नहीं किया

जाता, वरंच वादी प्रतिवादी में निष्पक्ष न्याय करने का उसका जो कर्त्तव्य है और जिसके पालने से वह इनकार नहीं कर सकती वह कर्तव्य उससे कराता है। इतने पर भी इस ऊंची अदालत में बैठने वाले न्यायाधीशों की सिर्फ मानसिक योग्यता पर नहीं, वरंच व्यक्तिगत या वर्गीय प्रत्येक प्रकार के पक्षपात के विषय में उनकी सम्पूर्ण निस्पृहता पर भी जो पूरा पूरा विश्वास है वह अगर न होता तो राज्यतंत्र के गठन के भावार्थ के विषय में सदर अदालत के फैसले के सामने सब सत्ताओं ने जो प्रतिष्ठा पूर्वक अधीनता दिखायी है वैसी वृत्ति उत्पन्न करने के लिये विश्वास के ये कारण भी यथेष्ट न हुए होते। यह विश्वास मुख्य करके सकारण साबित हुआ है; परन्तु इस महान सार्वजनिक तंत्र की योग्यता में बिगाड़ पैदा करने का जिसमें सब से दूर का भी रुख हो उस प्रत्येक विषय में सब से अधिक सावधानी रखकर चेतते रहने की अपेक्षा अमेरिकन जनसमाज के लिये दूसरी कोई भीतरी आवश्यक बात नहीं है। जिस विश्वास पर संयुक्त राज्यतंत्र की स्थायिता का भरोसा है उसको सब से पहला धक्का एक फैसले ने दिया था और उसमें यह सिद्ध किया गया था कि गुलामी एक साधारण हक का विषय है और इससे जो प्रदेश जब तक राज्यरूप से व्यवस्थित न हुआ हो उसमें तब तक उसके निवासियों के बड़े भाग की इच्छा के विरुद्ध भी यह कानून के रू से है। और सब की अपेक्षा शायद यह प्रख्यात फैसला पक्षापक्ष भेद को बिलकुल—अंतर्विग्रह का परिणाम उपजाने वाली अनी पर ला रखने में अधिक साधनभूत हो पड़ा है। अमेरिकन राज्यतंत्र का आधार-स्तम्भ शायद इतना मजबूत नहीं है कि ऐसे दूसरे बहुत से धक्के सह सके।

जो अदालतें संयुक्त और पृथक् राज्यतंत्रों के बीच में

होने का भरोसा होता है। फिर जब डाक की चिट्ठियां को भिन्न भिन्न वरिष्ठ सत्ताओं के अधीनस्थ सरकारी अफसरों के पांच छः दलों के हाथ में होकर जाती हैं तब पत्र-व्यवहार की सलामती और फुरती में बाधा पड़ती है और खर्च भी बढ़ जाता है। इस से सब डाकघरों का संयुक्त राज्य-तंत्र की सत्ता के अधीन होना सुविधाजनक है। परन्तु इन प्रश्नों के विषय में भिन्न भिन्न जातियों का भिन्न भिन्न भाव होना सम्भव है। "राज्यसंयोगी" के कर्त्ताओं के बाद अमेरिकन राज्यनीति के विषय में जो राजनीतिक सिद्धान्त वादी प्रसिद्ध हुए हैं उनमें जिसने सब से श्रेष्ठ शक्ति दिखायी है उस एक पुरुष (मि० काल्हून जो सन् १८१८ में युनाइटेड स्टेट्स में राज्यमंत्री थे) के नेतृत्व में अमेरिका के एक माण्ड-लिक राज्य ने संयुक्त राज्यसभा के चुंगी सम्बन्धी कानून के बारे में प्रत्येक माण्डलिक राज्य को नामंजूर करने का हक मिलने का दावा किया है और इस राजनीतिक पुरुष का जो एक महा प्रभावशाली ग्रन्थ उसके मरने पर दक्षिण केरोलीना की माण्डलिक सभा ने प्रकाशित करके खूब प्रचारित किया है उसमें उसने इस दावेका वास्तविक कारण बहुमत के जुल्म की हद बांधने और छोटे पक्षों को राज्यनीतिक सत्ता में असली भाग देकर उसकी रक्षा करने का सामान्य मूल तत्व बताया है। इस शताब्दी के प्रथम भाग में अमेरिकन राज्यनीति सम्बन्धी एक सब से विवादग्रस्त विषय यह था कि संयुक्त राज्यतंत्र को राज्य संयोग के खर्च से रास्ते और नहरें बनाने का अधिकार होना चाहिये या नहीं और वह राज्यतंत्र के गठन के अनुसार है या नहीं। संयुक्त राज्यतंत्र की सत्ता जो अवश्य करके सम्पूर्ण है वह सिर्फ विदेशी सत्ताओं के साथ व्यवहार करने

के सम्बन्ध में ही। दूसरे विषयों में तो इस प्रश्न पर निबटेरा रह जाता है कि साधारण जनसमाज संयुक्त जनसमाज का लाभ अधिक पूर्णता से भोगने के लिये राज्य संयोग का बन्धन कितना कड़ा करना चाहता है और अपने स्थानिक क्रिया स्वातंत्र्य का कितना भाग उसे सौंप देने को राज़ी है।

संयुक्त राज्यतंत्र की योग्य अन्तर्व्यवस्था के विषय में बहुत कहने की जरूरत नहीं है। इसमें अवश्य ही एक कानून बनाने वाली और एक कार्य कारिणी शाखा होनी चाहिये और उनमें से प्रत्येक के गठन पर साधारण प्रतिनिधि सभा के ऐसा ही नियम लागू पड़ता है। इस नियम को संयुक्त राज्यतंत्र के अनुकूल बनाने में अमेरिकन राज्यतंत्रों की व्यवस्था पद्धति बहुत ही न्याय पूर्वक की गयी है और वह ऐसी है कि साम्राज्य सभा (कांग्रेस) में दो मण्डल हैं। और जहां उनमें से एक में प्रत्येक माण्डलिक राज्य को अपने अधिवासियों के परिमाण से प्रतिनिधि चुन भेजने का हक देकर उसका गठन बस्ती के अनुकूल रखा है, वहां दूसरे में नागरिकों की तरफ से नहीं, बरंच राज्यतंत्रों की तरफ से प्रतिनिधि भेजने के लिये प्रबन्ध रखा है और उसमें बड़ा या छोटा हर एक माण्डलिक राज्य एक समान प्रतिनिधि भेजता है। यह प्रबन्ध बहुत बलवान माण्डलिक राज्यों को दूसरों पर अनुचित अधिकार चलाने से रोकता है और कोई कानून केवल नागरिकों के नहीं बरंच माण्डलिक राज्यों के भी बहुमत से पसन्द किये बिना, प्रतिनिधि पद्धति से जहां तक बन पड़े, साम्राज्य सभा में मंजूर होने से रोक कर माण्डलिक राज्यों के नामंजूरी के हक की जमानत देता है। दो में से एक सभा की योग्यता का दरजा बढ़कर होने से जो दूसरा प्रासंगिक लाभ होता है उसकी तरफ मैं ने पहले

ध्यान दिया है। संयुक्त राज्य (युनाइटेड स्टेटस) की वृद्ध सभा (सीनेट) को भिन्न भिन्न माण्डलिक राज्यों की कानून सभाएँ रूपी निर्वाचित मण्डल नियत करते हैं और पहले बताये हुए कारणों से कानून सभाओं की पसन्द किसी तरह के लोक निर्वाचन की अपेक्षा उत्कृष्ट मनुष्यों पर पड़ना अधिक सम्भव है—सार्वजनिक परामर्श में उनके माण्डलिक राज्यों के प्रभाव का मुख्य आधार अपने प्रतिनिधि की प्रतिष्ठा और बुद्धि पर होने के कारण उसको ऐसे पुरुष पसन्द करने की शक्ति ही नहीं, सबल हेतु भी होता है। इससे संयुक्त राज्यों की इस प्रकार चुनी हुई वृद्ध सभा में हमेशा उनके प्रायः सब प्रतिष्ठित और ऊंची ख्याति वाले राजनीतिक पुरुष आ जाते हैं; फिर भी समर्थ अवलोकनकर्त्ताओं के अभिप्राय के अनुसार ऐसा है कि साम्राज्य सभा की ऊपरवाली सभा प्रत्यक्ष व्यक्तिगत योग्यता की विद्यमानता के लिये जितनी प्रख्यात है उतनी ही नीचे वाली सभा वैसी योग्यता के अभाव के लिये है।

जब सबल और स्थायी राज्य संयोग करने के लिये उचित शर्तें मौजूद होती हैं, तब उनकी संख्या बढ़ने से संसार को सदा लाभ होता है। संयुक्त व्यवहार-प्रणाली के दूसरे किसी विस्तार की तरह इस का भी वैसा ही शुभ असर होता है; क्योंकि इस से जो निर्बल होता है वह संयुक्त हो कर बलवान के साथ बराबरी कर सकता है। इस लिये छोटे छोटे और इस कारण से अपना बचाव करने को असमर्थ राज्यों की संख्या घट जाने से प्रत्यक्ष हथियार द्वारा अथवा अधिक प्रभाव की धाक द्वारा राज्य बढ़ाने की राज्यनीति का लालच दबता है। इससे अवश्य ही लड़ाई और साम प्रपंचों का और बहुत करके संयोग में जुड़े हुए राज्यों के बीच व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धनों का भी अन्त हुआ है; और पड़ोस के राष्ट्रों के

सम्बन्ध में कहें तो इससे जो अधिक सैन्यबल प्राप्त होता है वह इस किस्म का है कि प्रायः अपना बचाव करने के काम में ही उपयोगी होता है, दूसरे पर चढ़ाई करने में तो शायद ही मददगार होता है। संयुक्त राज्यतंत्र की सत्ता इस कदर एकहत्था नहीं हुई रहती कि वह आत्मरक्षा के सिवा दूसरी कोई लड़ाई खूब ज़ोर शोर से चला सके या उसमें प्रत्येक नागरिक की तरफ से अपनी इच्छा से मदद मिलने की आशा रख सके। फिर लड़ाई में विजय होने से केवल राज्य संयोग में प्रजा या नागरिक बन्धु भी नहीं, वरंच नया और कदाचित् कष्टदायक स्वतंत्र अंग ही जुड़ने से उसमें ऐसा कुछ नहीं होता कि वह सार्वजनिक अभिमान या महत्ताभिलाष को लुभावे। अमेरिकनों की मेक्सिको में चलायी हुई लड़ाई को केवल अपवाद रूप समझना चाहिये, क्योंकि अमेरिकनों की जो प्रवासी प्रकृति उनको उजाड़ प्रदेश कब्ज़ा करने को उकसाती है उसके प्रभाव से कुछ स्वेच्छ सैनिकों ने ही मुख्य करके यह लड़ाई छेड़ी थी; और उनको उकसाने वाला जो कुछ सार्वजिक उद्देश्य था वह उस राज्य के विस्तार का नहीं वरंच गुलामी फैलाने का केवल वर्गीय उद्देश्य था। केवल राज्य बढ़ाने की खातिर राज्य बढ़ाने के अभिलाष का अमेरिकनों पर कुछ बहुत प्रभाव हो ऐसा चिन्ह तो उनके राष्ट्रीय या व्यक्तिगत व्यवहार में कम ही दिखाई देता है। उनकी क्यूबा के लिये उत्कण्ठा भी ऐसी ही वर्गीय है और उत्तर के जो माण्डलिक राज्य गुलामी के विरुद्ध हैं उन्होंने कभी उस तरफ की वृत्ति किसी तरह नहीं दिखायी है।

किसी समय ऐसा प्रश्न उठ सकता है (जैसा कि इटली के वर्त्तमान उत्थान में है) कि जिस देश ने संयुक्त होने को निश्चय किया हो उसको सम्पूर्ण रूप से शामिल करें या केवल

राज्यसंयोग में ही—राज्यकार्य के सम्बन्ध में ही शामिल करें। इस प्रश्न का निर्णय कितनी ही बार अवश्य करके सारे संयुक्त देश के भूमि विस्तार के ऊपर से होता है; निर्दिष्ट सीमा के अतिरिक्त भूमि विस्तार पर राज्य नहीं चलाया जा सकता अथवा एक ही केन्द्रस्थल से राज्य प्रबन्ध पर सुबीते से निगरानी भी नहीं रखी जा सकती। ऐसे एक प्रबन्ध वाले बहुतेरे विशाल देश हैं; परन्तु साधारण तौर पर उनका प्रबन्ध अथवा खास करके उनके दूर के प्रान्तों का प्रबन्ध ऐसा खराब चलता है कि खेद होता है, और वहां के निवासी अगर लगभग जंगली जैसे हों तभी वे अपना प्रबन्ध इससे उत्तम रीति पर अलग नहीं चला सकते। इटली के विषय में यह रुकावट मौजूद नहीं है; क्योंकि भूत और वर्तमान काल में बहुत अच्छी तरह से चले हुए कितने ही राज्यों के इतना उसका आकार नहीं है। तब प्रश्न यह है कि राष्ट्र के भिन्न भिन्न विभाग जिस जिस रीति का राज्यप्रबन्ध चाहते हैं वह क्या तत्वतः ऐसा भिन्न है कि एक ही कानून सभा और एक ही मंत्री दल या शासन मण्डल का सबको सन्तुष्ट करना असम्भव हो जायगा? अगर ऐसा न हो (और यह प्रत्यक्ष प्रमाण की बात है) तो उनको सम्पूर्ण संयुक्त करना बहुत अच्छा है। इंगलेण्ड और स्काटलेण्ड के दृष्टान्त से साबित हुआ है कि एक ही देश के दो विभागों में बिलकुल भिन्न कानून की प्रणाली और बहुत भिन्न प्रबन्ध विभाग होने पर भी एक कानून सभा रखने में बाधा नहीं पड़ती। फिर भी जहां कानून बनाने वालों पर समानता की सनक अधिक सवार हो (और खण्ड में ऐसा होना सम्भव है) उस देशमें एक ही संयुक्त कानून सभा की सत्ता तले 'कानून की दो जुदी जुदी प्रणालियां बिना जोखिम के सम्मिलित भाव से ऐसी उत्तम

रीति पर बनी रहें अथवा उनके बने रहने का उतना ही भरोसा रहे और वह सभा भी देश के दो विभागों के लिये मूल भेद के अनुकूल आने योग्य अलग अलग कानून बनाती रहे यह कभी सम्भव नहीं है। जिस जिस प्रकार की अनियमितता जिसके जिसके स्वार्थ में सम्बन्ध रखती हो उसको जब तक वह दुःखदायी न लगे तब तक इस प्रकार की प्रत्येक अनियमितता के प्रति बेहद निस्पृहता रखना जो इस देश के जनसमाज का लक्षण है उसके कारण यह इस मुश्किल आजमाइश को आजमाने के लिये एक असाधारण रीति पर अनुकूल स्थान हो गया था। बहुत से देशों में अगर कानून की भिन्न भिन्न पद्धतियां बनाये रखने का ही उद्देश्य हो तो शायद उनकी संरक्षा के लिये भिन्न भिन्न कानून सभाएं रखने की जरूरत पड़ेगी; और यह व्यवस्था जनमण्डल के सब विभागों के बाहरी सम्बन्ध पर सर्वोपरि सत्ता रखने वाली राजा सहित पार्लामेण्ट या राजा रहित पार्लामेण्ट के अस्तित्व के किसी प्रकार प्रतिकूल नहीं है।

जब भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न मूल तत्वों के आधार पर रची हुई भिन्न भिन्न न्यायप्रणालियाँ और आधारभूत तंत्र कायम रखने की जरूरत न जंचे तब राज्यतंत्र का ऐक्य बनाये रखने के साथ छोटे छोटे भेदों का समाधान हमेशा किया जा सकता है। सिर्फ इतनी जरूरत है कि स्थानिक सत्ताओं के अधिकार की सीमा का उचित रीति से खूब विस्तार किया जाय। एक ही माध्यमिक राज्यतंत्र की सत्ता तले स्थानिक कार्यों के लिये स्थानिक लाट और प्रान्त सभाएं हो सकती हैं। दृष्टान्त के तौर पर, कभी कभी ऐसा होता है कि भिन्न भिन्न प्रान्तों के लोगों को भिन्न भिन्न कर पद्धति पसन्द होती है। अगर सार्वजनिक राज्यतंत्र कर की सामान्य पद्धति में प्रत्येक प्रान्त

के अनुकूल फेर बदल उस प्रान्त के सभासदों के बताने के अनुसार न कर सके तो राज्य गठन में ऐसा प्रबन्ध किया जा सकता है कि राज्य के जो जो खर्च किसी सम्भव रीति से स्थानिक गिने जा सकें वे सब प्रान्त सभाओं के लगाये हुए स्थानिक कर से हों, परन्तु स्थल और जल सेना के निर्वाह के खर्च सरीखे जिस खर्च को साधारण गिनने की आवश्यकता है उसको भिन्न भिन्न प्रान्तों के साधन के कुछ साधारण आंकड़े के हिसाब से उनमें बांट देना चाहिये कि जिससे प्रत्येक प्रान्त के लिये मुकर्रर की हुई रकम वहां की स्थानिक सभाएं उस स्थान के सब से अनुकूल आने योग्य नियम से उगाहें और राष्ट्रीय कोष में एक शामिल जमा कर दें। कुछ कुछ ऐसा ही रिवाज फ्रांस की पुरानी राजसत्ता में भी—अवश्य ही क्षेत्र प्रदेशों के सम्बन्ध में था। उनमें से हर एक को खास रकम पूरी करने की कबूलियत या इच्छा पर अधिवासियों से अपनी ही मार्फत वसूल करने की और इस प्रकार शाही तहसीलदारों और छोटे लाटों के भयानक अत्याचार से बच जाने की स्वाधीनता थी और फ्रांस के जो थोड़े से प्रान्त सब से उन्नत थे उनमें मुख्य कारण हो पड़ने वाले लाभों में यह हक भी एक हमेशा गिना जाता है।

बहुत भिन्न भिन्न दरजे के अधिकार संचय में केवल प्रबन्ध सम्बन्ध में नहीं वरंच कानून बनाने के सम्बन्ध में भी माध्यमिक राज्यतंत्र का ऐक्य अनुकूल है। किसी जनसमाज को राज्यसंयोग की अपेक्षा अधिक निकट संयोग करने की इच्छा तथा शक्ति हो तो भी उसकी स्थानिक विलक्षणताओं और पुराने रिवाजों के कारण राज्य के सूक्ष्म प्रबन्ध में बहुत भेद रखना मुनासिब होता है। परन्तु अगर इस परीक्षा को सफल बनाने के लिये सब तरफ से असली इच्छा

होगी तो इन विलक्षणताओं के सिर्फ साबित रखने में शायद कभी कठिनाई पड़ेगी, इतना ही नहीं, वरंच सुगमता पूर्वक कानून के रूप से ऐसी जमानत दी जा सकेगी कि जो फेर बदल करने से जिनके ऊपर असर होने वाला होगा उसको जब तक वे स्वयं करने को न खड़े हों तब तक एकरूपता करने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया जायगा।

अठारहवाँ अध्याय।

स्वतंत्र राज्य द्वारा अधीनस्थ राज्य का शासन होने के विषय में।

दूसरे सब राज्यों की तरह स्वतंत्र राज्यों के भी विजय या बसाने से मिले हुए अधीनस्थ राज्य होते हैं और अर्वाचीन इतिहास में खास हमारा राज्य इस प्रकार का सब से बड़ा दृष्टान्त है। ऐसे अधीनस्थ देशों का शासन कैसे होना चाहिये यह एक बड़ा आवश्यक प्रश्न है।

जिब्राल्टर, अदन या हेलिगोलेण्ड सरीखे जो छोटे छोटे थाने सिर्फ जल या स्थल सेना की छावनी के तौर पर कब्जे में रखे जाते हैं उनके विषय में चर्चा करने की जरूरत नहीं है। उस दशा में सैनिक—स्थल या जल सैन्य—सम्बन्धी उद्देश्य सब से प्रबल होता है और उन स्थानों के अधिवासियों को राज्य प्रबन्ध में दाखिल करना उस उद्देश्य के अनुकूल नहीं है, तो भी उनको इस निषेध के अनुकूल सब प्रकार की स्वतंत्रता और हक मय नगर कार्यों के स्वतंत्र प्रबन्ध के, सौंपना चाहिये; और उन पर शासन करने वाले राज्य के सुबीते के लिये अपने स्थान में उनको जो अलाम सहना

पड़ता है उसके बदले में उनको साम्राज्य के दूसरे सब भागों में यहां के निवासियों के समान हक में शामिल करना चाहिये।

जो कुछ विस्तृत आकार और वस्ती वाले बाहर के प्रदेश अधीन राज्य के तौर पर कब्जे में होते हैं; अर्थात् जो शासन करने वाले देश की ऊपरी सत्ता की आज्ञाओं के वश होते हैं और जिनका उसकी कानून सभा में प्रतिनिधि का हक (अगर कुछ हो तो) समान भाव से नहीं होता उनके दो विभाग किये जा सकते हैं। उनमें से कुछ शासक देश के ऐसे सभ्य और प्रतिनिधि शासन के लिये तय्यार और समर्थ हुए रहते हैं; जैसे अमेरिका और आस्ट्रेलिया के ब्रिटिश राज्य। दूसरे, हिन्दुस्थान की तरह अभी उस स्थिति से बहुत दूर होते हैं।

प्रथम श्रेणी के अधीनस्थ राज्यों के विषय में इस देश ने अंत को राज्यतंत्र का असली मूल तत्व असाधारण सम्पूर्णता में प्रतिपादन किया है। इंगलेण्ड के जिन बाहरी लोगों में उसका लहू और भाषा जारी है उनको और जिन में नहीं है, उनको भी, अपने प्रतिनिधि तंत्र के अनुसार प्रतिनिधि तंत्र का दान करने में उसने हमेशा किसी अंश में अपना कर्त्तव्य समझा है; तथापि उसने जिन दूसरे देशों को प्रतिनिधि तंत्र दिया है उन को किस कदर स्वराज्य चलाने देना चाहिये इस विषय में तो बिलकुल हाल तक वह उनके साथ एक समान लड़ता झगड़ता रहा है। उनके शुद्ध भीतरी व्यवहार में भी वह स्वयं सर्वोपरि निर्णायक बनना चाहता था और वह भी उसकी सब से अच्छी व्यवस्था किस प्रकार हो सकेगी इस विषय में उनके विचार के अनुसार नहीं, वरंच अपने ही विचार के अनुसार। औपनिवेशिक राज्यनीति सम्बन्धी जो सदोष सिद्धान्त एक बार सारे युरोप में साधारण था और अभी तक दूसरे किसी जन समाज ने जिस को पूरा

पूरा छोड़ नहीं दिया है उसका यह रिवाज स्वाभाविक परिणाम था; यह सिद्धान्त ऐसा था कि उपनिवेश हमारा निजका माल खपाने और हमारे अधीन रहने योग्य बाजार की हैसियत से कीमती हैं; और इस हक की हम लोग इतनी बड़ी कीमत समझते थे कि जो कुल अख्तियार हम अपने माल के लिये टापुओं के बाजार में मांगते थे वही अख्तियार उनको अपने माल के लिये हमारे बाजार में आने पर भी देना उचित समझते थे। इस प्रकार एक दूसरे को राक्षसी रकम दे दिला कर उनको और अपने को धनवान करने की, वरंच उसका सब से बड़ा भाग रास्ते में ही गिरा देने की विलक्षण युक्ति कुछ समय से छोड़ दी गयी है। परन्तु टापुओं की भीतरी व्यवस्था में हस्तक्षेप कर उन से लाभ उठाने का विचार छोड़ दिया, कुछ उनके साथ ऐसा करने की बुरी लत नहीं छोड़ी। हम लोग खास अपने लाभ के लिये नहीं तो टापुओं के एक वर्ग या पक्ष के लाभ के लिये ही उनको सताते रहे; और हमारे शासन करने के इस दुराग्रह ने जब तक कनाडियन विद्रोह का खर्च हमारे मत्थे नहीं टोका तब तक हमको उसे छोड़ने का शुभ विचार नहीं सूझा। जैसे कुशिक्षा प्राप्त एक बड़ा भाई सिर्फ खसलत पड़ी रहने के कारण अपने छोटे भाइयों पर दुराग्रह से जुलम किया करता है और जब तक उनमें से एकाध शक्ति में असमान होने पर भी क्रोध से सिर उठा कर उसे सम्हलने की चितौनी नहीं दे देता तब तक यह नहीं रुकता; वैसा ही बर्ताव इंगलैण्ड करता था। हम लोग इतने बुद्धिमान तो थे कि दूसरी चितौनी की जरूरत नहीं समझी। लार्ड डर्हम * के निवेदन पत्र

*—(१७९२-१८४०) यह सन् १८३०—१८३४ तक राज्य-

से राष्ट्रों को औपनिवेशिक राज्य नीति में नये युगका आरम्भ हुआ। यह निवेदन पत्र उक्त अमीर की हिम्मत, देशभक्ति और उदार संस्कारी विचार की और उनके संयुक्त ग्रंथकार मि० वेकफील्ड † और परलोक गत चार्लस बुलर की बुद्धि और व्यावहारिक दृष्टि की अमर यादगार है। ‡

अब तो राज्यनीति का जो निश्चित नियम ग्रेट ब्रिटेन ने सिद्धान्त में स्वीकार किया है और सच्चे दिल से प्रयोग में जिसका अनुकरण किया है वह यह है कि उसकी युरोपियन उत्पत्ति (जाति) के उपनिवेश भी अपने मूल देश की तरह पूर्ण रूप से एक समान भीतरी स्वराज्य भोगें। हमने उनको जो बहुत अधिक जनसत्ताक राज्यतंत्र दिया था उसमें उनको जैसा उचित जंचे वैसा फेर बदल करने देकर अपने लिये नवीन स्वतंत्र प्रतिनिधि तत्र बनाने दिया है। प्रत्येक का राज्य प्रबन्ध अतिशय जनसत्ता प्रधान नियमों के आधार पर स्थापित कानून सभा और शासन सभा द्वारा चलता है। राजा और पार्लामेण्ट का निषेध (नामंजूर करने) का हक यद्यपि नाम को कायम रखा गया है तथापि उससे खास खास टापू सम्बन्धी नहीं वरंच सिर्फ समूचे साम्राज्य सम्बन्धी प्रश्नों में ही, काम लिया जाता है और सो भी बहुत ही कम। शाही

मुद्रामंत्री थे। † इन्होंने १८३६ में दक्षिण आस्ट्रेलिया के टापू की बस्ती की योजना रची थी।

‡ मैं जो कहता हूं वह अवश्य ही इस सुधारी हुई नीति की मूल सलाह के विषय में नहीं वरंच उसके स्वीकार के विषय में। इसका सब से प्रथम योद्धा होने का यश तो निस्सन्देह मि० रोबक (पार्लामेण्ट के मेम्बर और १८५४–५५ वाले सेबास्तोपोल के घेरे के सम्बन्ध में जांच करने वाली कमेटी के अध्यक्ष) को है। ग्रन्थकार।

और औपनिवेशिक प्रश्नों के भेद के विषय में कैसी उदारता से विचार किया जाता है यह इस बात से पता लगता है कि हमारे अमेरिकन और आस्ट्रेलियन टापुओं के पिछवाड़े के प्रदेशों की सारी वेमालिक की जमीन औपनिवेशक जनता के निरंकुश अधिकार में दे दी गयी है; यद्यपि साम्राज्य के भविष्य के प्रवासियों को सब से अधिक लाभकारी होने के लिये उसका प्रबन्ध शाही राज्यतंत्र अपने हाथ में रखता तो अनुचित न होता। इस प्रकार प्रत्येक उपनिवेश के सब से शिथिल राज्यसंयोग का एक अंग होने से उसकी अपने कार्य व्यवहार में जितनी सत्ता हो सकती है उतनी सत्ता पूर्ण रूप से वह भोगता है; और उसे अपने मूल देश से आने वाले माल पर भी अपनी मरजी मुताबिक कर लेने की छूट होने से, युनाइटेड स्टेटस् के राज्य गठन में जो मिल सकती है उसकी अपेक्षा उसको अधिक परिपूर्ण सत्ता है। ग्रेटब्रिटन के साथ उनका संयोग सब से शिथिल प्रकार का राज्यसंयोग है; तो भी यह असल में समान राज्यसंयोग नहीं है; क्योंकि संयुक्त राज्यतंत्र के ढंग की ऊपरी सत्ता तो मूल देश ने अपने हाथ में रखी है और यद्यपि वह प्रयोग में यथासाध्य कम कर दी गयी है तो भी विद्यमान है। जिन अधीनस्थ राज्यों को विदेशी राज्यनीति के विषय में कुछ मत देने का हक नहीं है, परन्तु जो शासक देश के ठहराव पर चलने को बाध्य माने जाते हैं उनको बेशक यह असमानता जितनी है उसी कदर अलाभ है। उनकी सलाह किसी तरह पहले से न लेने पर भी उनको इंग्लैण्ड के साथ लड़ाई में शामिल होना पड़ता है।

जो यह सोचते हैं कि न्याय का बन्धन जितना व्यक्ति विशेष के ऊपर पड़ता है उतना ही जाति विशेष पर; और

मनुष्यों को अपने लाभ के लिये जो कुछ दूसरे मनुष्यों के साथ करना उचित नहीं है वह उनको अपने देश के सोचे हुए लाभ के लिये दूसरे देशों के साथ करने का अधिकार नहीं है; वे (और सौभाग्य से वे अब थोड़े नहीं हैं) उपनिवेशों की इतनी नियमित राजनीतिक परतंत्रता को भी मूलतत्व तोड़ने के बराबर समझते हैं और इतनी परतंत्रता को भी दूर करने का उपाय ढूँढने में बहुत बार लगे रहे हैं। इस ख्याल से कितनों ने यह प्रस्ताव किया है कि उपनिवेश ब्रिटिश पार्लीमेण्ट में प्रतिनिधि भेजने पावें। और दूसरों ने यह प्रस्ताव किया है कि उनकी और अपनी पार्लीमेण्ट की सत्ता देश की भीतरी राज्यनीति की सीमा में सन्निविष्ट रखी जाय और विदेशी तथा शाही विषयों के लिये दूसरी प्रतिनिधिसभा स्थापित कर उसमें ग्रेट ब्रिटेन के अधीनस्थ राज्यों को ग्रेट ब्रिटेन की तरह और उसी की सी सम्पूर्णता में प्रतिनिधि भेजने की स्वतन्त्रता दी जाय। इस पद्धति से उपनिवेशों के अधीन राज्यों की स्थिति में न रहने से उनके और मूल देश के बीच में सम्पूर्णरूप से समान राज्य संयोग होगा।

जिन न्यायवृत्तियों और सामाजिक नीति की भावनाओं से ये सलाहें पैदा होती हैं वे सब प्रशंसनीय हैं; परन्तु ये सलाहें स्वयं राज्यतन्त्र के वास्तविक मूलतत्वों से ऐसी विरुद्ध हैं कि इस बात में सन्देह है कि किसी भी विचारशील ज्ञानी ने उनको सम्भव मानकर गंभीरता से स्वीकार किया होगा। एक दूसरे से गोलार्द्ध के अन्तर पर पड़े हुए देश, एक ही राज्य सत्ता तले रहने के लिये, अथवा एक ही राज्यसंयोग के अंग होने के लिये भी आवश्यक शर्तें नहीं दिखाते। उनका यथेष्ट रीति पर एक ही स्वार्थ हो तो भी उनको एकत्र परामर्श करने का उचित अभ्यास नहीं होता और न कभी

हो सकता है। वे एक ही जन समाज के विभाग नहीं हैं; वे एक ही रंगभूमि पर चर्चा या विचार नहीं करते और एक दूसरे के मन में क्या विचार है इसका उन्हें बहुत अधूरा ज्ञान होता है। वे जैसे एक दूसरे का उद्देश्य नहीं जानते वैसे उनको एक दूसरे के व्यावहारिक नियम पर विश्वास नहीं होता। चाहे कोई अंगरेज अपने आपको पूछ देखे कि जिस सभा का एक तृतीयांश ब्रिटिश अमेरिकन, और दूसरा तृतीयांश दक्षिण अफरीकन और आस्ट्रेलियन हो उसके ऊपर अपने भविष्य का भरोसा रखना उसे कहां तक पसन्द होगा। फिर भी अगर कुछ न्यायपूर्वक या समान प्रतिनिधि तत्व होगा तो अवश्य यह परिणाम निकलेगा; और प्रत्येक जन को क्या ऐसा नहीं लगेगा कि शाही विषयों में भी कनाडा या आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि अंगरेज, आइरिश या स्काच का लाभ, अभिप्राय या अभिलाष नहीं समझ सकेंगे? शुद्ध राज्य संयोग के लिये भी हमें जो शर्तें आवश्यक जान पड़ी हैं वे मौजूद नहीं हैं। उपनिवेशों के बिना भी इंगलेंड अपना बचाव करने को यथेष्ट है और अगर वह उन से अलग हो जाय तो अमेरिकन, अफरीकन और आस्ट्रेलियन राज्यसंयोग के केवल एक अंग की स्थिति में आने से जो हो सकता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल और प्रतिष्ठित हो सकता है। अलग होने पर भी जो व्यापार वह एक समान करता है उसके सिवा इस समय इंगलेंड को अपने अधीनस्थ राज्यों की तरफ से इक के लाभ के सिवा दूसरा लाभ थोड़ा ही मिलता है; और जो थोड़ा बहुत मिलता है वह, उसको उनके लिये जो कुछ खर्च करना पड़ता है और अपनी स्थल और जल सेना को छितराये रखने की आवश्यकता तथा लड़ाई या उसकी असली आशंका के अवसर पर केवल इसी देश के बचाव के लिये

जितना चाहिये उस से दुगुनी तिगुनी सेना रखने की जो जरूरत है उस के सामने, किसी गिनती में नहीं है।

परन्तु यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन अपना काम अपने उपनिवेशों के विना वखूवी चला सकता है और यद्यपि सब से श्रेष्ठ प्रकार के संयोग की पूरी आजमाइश करने के बाद ऐसा समय आवे कि वे गम्भीरता से अलग होने की इच्छा जतावें तो इङ्गलेण्ड को उनसे अलग होने की बात को नीति और न्याय के प्रत्येक नियम से स्वीकार करना चाहिये; तथापि हाल के सम्बन्ध का अल्प बंधन भी जब तक किसी पक्ष को अरुचिकर न हो तब तक बनाये रखने के लिये दृढ़ कारण हैं। जैसा है उस दशा में भी यह राष्ट्रों में सार्वत्रिक शांति और परस्पर साधारण मित्रभाव बनाये रखने के मार्ग में एक कदम है। इस से और कई तरह से स्वतंत्र राष्ट्रों में युद्ध असम्भव होता है; और फिर इन में से हर कोई विदेशी राज्य में लीन होकर किसी अधिक स्वेच्छाचारी या पास की प्रतिद्वन्दी सत्ता जो हमेशा ग्रेटब्रिटेन जैसा निस्पृह या शांत नहीं होती, उसके चढ़ाई करने के बल में वृद्धि करने का साधन बनने से रुकता है। इतना ठीक है कि इस से भिन्न भिन्न देशों के बाजार एक दूसरे के लिये खुले रहते हैं और जिन प्रतिकूल वाणिज्य करों का प्रचार अभी तक इङ्गलैण्ड के सिवा दूसरे किसी बड़े मनुष्य मण्डल ने पूर्ण रूप से नहीं छोड़ा है उनके द्वारा परस्पर व्यवहार का प्रतिबन्धन होना रुकता है। और इस से ब्रिटिश मुल्कों के विषय में तो खास कर के हाल के समय में यह लाभ है कि जो सत्ता सब विद्यमान सत्ताओं में स्वतंत्रता की सब से अच्छी पहचान करती है और जिसने भूतकाल में चाहे जैसी भूल की हो तथापि विदेशियों के प्रति अपने कार्य व्यवहार में जितना दूसरे किसी बड़े राष्ट्र का समझना कभी सम्भव या इष्ट समझ कर स्वीकार

करना नहीं जाना जाता इतना सद्भाव और सात्विक वृत्ति प्राप्त की है–उस सत्ता को संसार की सभाओं में अपना अधिक सात्विक प्रभाव और वजन जमाने का मौका मिलता है। अब जब तक यह संयोग कायम रहता है तब तक यह सिर्फ असमान संयोग के भरोसे ही चल सकता है, इस से इस अल्प परिमाण की असमानता को अपेक्षाकृत नीचे की पदवी धारण करनेवाली जातियों को असह्य या अपमानकारी बनने से बचानेवाला उपाय क्या है इसका विचार करना जरूरी है।

इस विषय में अवश्य करके जो एक ही हीनता है वह यह है कि मूल देश अपनी और उपनिवेशों—दोनों की ओर से संधिविग्रह के प्रश्नों का निर्णय स्वयं करता है। इसके बदले में उपनिवेशों को यह लाभ होता है कि मूल देश उन पर आक्रमण होने से रोकने को बाध्य होता है; परन्तु जब छोटी जनता इतनी निर्बल हो कि उसे बहुत जबरदस्त सत्ता का आश्रय ढूंढ़ना पड़े तभी; इसके सिवा कर्त्तव्य की ऐसी अदला बदली, परामर्श में मत देने का हक न होने का पूरा बदला नहीं है, इससे काफर या न्यूज़ी लेण्ड की लड़ाइयों की तरह ऐसी लड़ाइयों में, जो किसी खास उपनिवेश के लाभ के लिये सिर पर न लेनी पड़ी हों, उपनिवेशों से उनके निजके बंदर, तट और सीमा को शत्रु की चढ़ाई से बचाने के लिये जितना खर्च चाहिये उसके सिवा (वे अगर अपनी खुशी से न देना चाहें तो) खर्च में कोई भाग देने के लिये न कहना चाहिये। फिर जब मूल देश अपने अकेले विचार स्वातंत्र्य से अपने ऊपर हमला होने के भय से ऐसी कारवाई करे या ऐसी राज्यनीति चलाने का दावा करता है, तब उसे शान्ति के समय भी उनके फौजी बचाव के खर्च का

बड़ा भाग और स्थायी सेना के सम्बन्ध में तो सारा खर्च अपने सिर पर रखना उचित है।

परन्तु इसकी अपेक्षा जो एक अधिक प्रभावशाली उपाय है उसके द्वारा और साधारणतः सिर्फ उसी के द्वारा एक छोटा सा समाज जो संसार के समाजों में अपनी असली सत्ता को—अपने पृथकत्व को एक विशाल और बलवान साम्राज्य के बहुत बड़े पृथकत्व में शामिल कर देता है उसको पूरा बदला दिया जा सकता है। वह उपाय (जो जितना आवश्यक है उतना परिपूर्ण भी है और जिसमें जितनी न्याय की फरमाइशों का, उतनी ही राज्यनीति की बढ़ती जाती हुई शर्तों का भी समावेश होता है) यह है कि सरकारी नौकरियों के सब विभाग और साम्राज्य का प्रत्येक भाग उपनिवेशों के अधिवासियों के लिये समान भाव से खुला रखें। ब्रिटिश चेनल (खाड़ी) के टापुओं में से कभी किसी की अराजभक्ति का एक शब्द भी क्यों नहीं सुना जाता? जाति, धर्म और भौगोलिक स्थिति में उनका फ्रांस की अपेक्षा इंगलैण्ड से कम सम्बन्ध है। परन्तु जैसे वे कनाडा और न्यूसाउथ वेलस की तरह अपने भीतरी व्यवहार और कर व्यवस्था पर पूरा अधिकार रखते हैं वैसे राजा की बखशिश का हर एक ओहदा या दरजा उनके लिये गरनसी या जरसी के अधिवासियों के लिये पूरा पूरा खुला है। उन टापुओं से स्थल सेनापति और जल सेनापति तथा लार्ड नियुक्त हुए हैं और प्रधान मंत्री नियुक्त करने में भी किसी तरह की अड़चल नहीं है। जब अकाल मृत्यु के वश हुए संस्कारी औपनिवेशिक मंत्री सर विलियम मोलसवर्थ ने (१८५२ में) कनाडा के एक मुखिया राजनीतिक पुरुष मि॰ हिंक्स को एक वेस्ट इंडियन राज्यतंत्र का गवर्नर नियुक्त किया तब उन्हों ने इसी पद्धति का उप-

निवेशों के सम्बन्ध में भी साधारण आरम्भ किया था। इस दरजे के मनुष्यों की संख्या बहुत बड़ी नथी जो इस छूट से असली लाभ उठा सके। इस कारण जो लोग ऐसे विषयों को तुच्छ मानते हैं वे जन समाज में बहने वाले राजनीतिक उत्साह के प्रवाह का बहुत ऊपरी विचार लेते हैं। इस नियमित संख्या में ऐसे पुरुष आये होंगे जिनकी बाकी पर सबसे बड़ी सात्विक सत्ता रहती है; और सामाजिक अधमता के विषय में लोग इतने नासमझ नहीं है कि एक पुरुष को भी किसी लाभ का प्रतिबन्धन होगा तो उनको नहीं लगेगा; क्योंकि यह विषय उसके साथ उन सब के लिये सामान्य है और सब के लिये एक समान अपमान है। अगर हम किसी जाति के नेता पुरुषों को मनुष्य जाति के साधारण परामर्शों में, उस जाति के मुखिया और प्रतिनिधि की हैसियत से संसार के सामने खड़े रहने से रोकें तो उनके वास्तविक अभिलाष और जाति के यथार्थ गर्व दोनों के प्रति हमारा कर्त्तव्य है कि उनको उसके बदले में अधिक शक्तिमान और अधिक वजनदार जन समाज में वही नेतृत्व पद धारण करने का एक समान अवसर दें।

जिन अधीनस्थ राज्यों के देश प्रतिनिधिशासन के लिये लायक होने योग्य उन्नत स्थिति में होते हैं उनके लिये इतना बस है। परन्तु दूसरे कितने ही देश ऐसे होते हैं जिन्होंने वह स्थिति प्राप्त नहीं की है और उनको अगर अपने अधीन रखें तो उनके ऊपर राज्यकर्त्ता देश को स्वयं अथवा उसके लिये नियुक्ति किये हुए मनुष्यों को राज्यप्रबन्ध करना चाहिये। यह शासनपद्धति अगर ऐसी हो कि अधीनस्थ प्रजा को उसकी सभ्यता की वर्तमान स्थिति में अधिक उन्नति की पदवी पर सब से अधिक आसानी से चढ़ावे तो यह दूसरी

पद्धति की सी ही योग्य है। पहले देख चुके हैं कि जनता की कुछ अवस्था ऐसी है कि उसमें लोगों को अधिक ऊंची सभ्यता के लिये लायक बनाने में जिस वस्तु का खास अभाव होता है उसमें उनको जो शासनपद्धति सब से अच्छी रीति पर शिक्षा दे सकती है वह मात्र दृढ़ निरंकुश राज्य ही है। कुछ दूसरी अवस्था है उसमें केवल निरंकुश राज्य होन से कुछ वास्तविक लाभकारी परिणाम नहीं निकलता, क्योंकि वह जो पाठ सिखाता है उसको वह प्रजा असीम सम्पूर्णता में उससे पहले ही सीख चुकी होती है; परन्तु उस अवस्था में लोगों में सुधार का कुछ साहजिक अंतः प्रवाह न होने से उनको कुछ भी आगे बढ़ने की आशा का प्रायः जो एक ही आधार है वह कुछ अच्छे निरंकुश राजा की उत्पत्ति पर निर्भर है। देशी निरंकुश राज्यों में तो अच्छा निरंकुश राजा कचित और अकस्मात से मिलता है; परन्तु उनके ऊपर हुकूमत करने वाले लोग अगर अधिक सुधरे हुए हों तो उन लोगों को वैसा निरन्तर अन्तःप्रवाह जारी रखने के लिये शक्तिमान होना चाहिये। जो अपने अरोध्य बल के कारण, जंगली निरंकुश राज्यों के अंग में लिपटे हुए आनन्द की अनिश्चिन्तता से मुक्त हों और जो अपनी बुद्धि विचक्षणता द्वारा बहुत आगे बढ़े हुए जन समाज को जिन जिन बातों का अनुभव हुआ हो उन सब का पहले से सिलसिला बांधने को लायक हुए हों उन उत्तरोत्तर निरकुश राजाओं की श्रेणी अपनी प्रजा के लिये जो जो करने को शक्तिमान हो वह सब करने के लिये इस शासन कर्त्ता देश को समर्थ होना चाहिये। जंगली या अर्द्ध जंगली प्रजा पर स्वतंत्र जनता का तत्वतः परम उत्कृष्ट शासन इस प्रकार का है। इस तत्वतः परम उत्कृष्ट भावना को हमें अनुभव सिद्ध देखने की आशा न रखनी चाहिये;

परन्तु अगर राज्यकर्त्तागण कुछ कुछ इससे मिलती जुलती व्यवस्था अमल में न लावें तो उस जनता के सिर पर जो सब से बड़ा सात्विक कर्त्तव्य है उसके त्यागने के वे लोग अपराधी ठहरते हैं; और अगर वे इस तरह का उद्देश्य भी मन में न रखें तो वे सिर्फ राज्य लुटेरे हैं और उनके ऐसे अपराधी हैं जिनके लोभ और अत्याचार ने पीढ़ी दर पीढ़ी मनुष्य जाति के बड़े समूहों के भविष्य में उथल पुथल कर डाली है।

बहुत पिछड़े हुए देशों की अवस्था इस समय साधारण रीति पर ऐसी हो गयी है और सर्वत्र होती जाती है। वे या तो बहुत आगे बढ़े हुए देश की सीधी तावेदारी में हैं अथवा उनके सम्पूर्ण राजनीतिक अंकुश तले हैं, इससे इस नियम की किस प्रकार रचना की गयी हो कि वह अधीनस्थ प्रजा को अहितकारी के बदले हितकारी हो और उनको वर्त्तमान स्थिति में मिल सकने योग्य सब से श्रेष्ठ राज्यतंत्र प्राप्त हो तथा भविष्य में निरन्तर सुधार होते रहने के लिये सब से अनुकूल मौके मिलें इसकी अपेक्षा बहुत आवश्यक प्रश्न संसार की वर्तमान अवस्था में बहुत कम ही हैं। परन्तु जो लोग अपना राज्य स्वयं चलाने योग्य हैं उनमें अच्छे राज्य प्रबन्ध के लिये चाही हुई शर्तें जिस खूबी से समझ में आयी हैं उस खूबी से इस उद्देश्य के अनुकूल आने योग्य राज्यतंत्र की योजना करने की पद्धति किसी तरह समझ में नहीं आयी है।

ऊपर से देखने वालों को यह बात पूरी पूरी सहज लगती है। (दृष्टान्त के तौर पर) अगर हिन्दुस्थान अपना राज्य चलाने को योग्य नहीं है तो उसको जो जरूरत जान पड़ती है वह सिर्फ इतनी कि उसके ऊपर राज्य चलाने को एक मंत्री होना चाहिये, इस मंत्री को दूसरे सब मंत्रियों की तरह ब्रिटिश पार्लामेण्ट के सामने जवाबदेह होना चाहिये। दुर्भाग्य

यश यह पद्धति यद्यपि अधीनस्थ देश का प्रबन्ध करने की योजना में सब से सादी है, तथापि सब से खराब है; और अपने प्रशंसकों में अच्छे राज्यतंत्र की समझ का बिलकुल अभाव दिखाती है। एक देश के लोगों की जवाबदेही तले उस पर राज्य करना और एक देश पर दूसरे लोगों की जवाबदेही तले राज्य करना ये दोनों बहुत भिन्न भिन्न वस्तुएं है। पहली व्यवस्था में जो उत्कृष्टता है वह यह है कि निरंकुश राज्य की अपेक्षा स्वतंत्रता अधिक पसन्द करने योग्य है। परन्तु दूसरी व्यवस्था तो खासा निरंकुश राज्य ही है। इस विषय में कुछ भी पसन्द का अवकाश है तो वह निरंकुश राज्यों के बीच में ही पसन्द का है; और यह कुछ निश्चय नहीं है कि दो करोड़ का निरंकुश राज्य कुछ या एक के निरंकुश राज्य की अपेक्षा अवश्य करके अधिक अच्छा होगा। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि जो लोग अपनी प्रजा के सम्बन्ध में कुछ नहीं सुनते, कुछ नहीं देखते या कुछ नहीं जानते उनका निरंकुश राज्य, जो लोग सुनते हैं, देखते हैं और जानते हैं उनके निरंकुश राज्य की अपेक्षा खराब होने की अधिक सम्भावना है। साधारण तौर पर यह नहीं सोचा जाता कि राज्य के प्रत्यक्ष अधिकारी स्वयं दूसरे हजार तात्कालिक ध्यान देने योग्य जंजाल वाले अनुपस्थित मालिक के नाम पर राज्य करते हैं इससे वे अधिक अच्छा प्रबन्ध करेंगे। मालिक शायद उन पर सख्त जवाबदेही का बन्धन रखे और भारी सजाओं का दबाव डाले परन्तु इसमें बहुत सन्देह है कि वे सजाएँ बहुधा ठीक स्थान पर दी जायंगी।

राज्यकर्त्ता और प्रजा के बीच में जब आचार विचार में कुछ अतिशय भेद नहीं होता, तब भी एक देश पर दूसरे देश

के राज्य चलाने में हमेशा भारी कठिनाइयां पड़ती हैं और राज्य भी बहुत अपूर्णता से चलता है। विदेशियों से देशियों का एक दिल नहीं होता। कोई विषय जो जिस स्वरूप में उनके मन को दिखाई देता है और जिस तरह उनकी वृत्ति पर असर करता है उससे वे कुछ भी निर्णय नहीं कर सकेंगे कि यह तावेदार प्रजा की वृत्ति पर कैसा असर करेगा अथवा उनके मन को कैसा दिखाई देगा। देश का साधारण व्यवहार-कुशल मनुष्य जो बात प्राकृतिक ज्ञान से जानता है उसे विदेशियों को धीरे धीरे अभ्यास और अनुभव से और सब कुछ होने पर भी अपूर्णता से, सीखना पड़ता है। जिन नियमों, दस्तूरों और सामाजिक सम्बन्धों के विषय में विदेशियों को कानून बनाना पड़ता है उनसे वे बचपन से जानकार होने के बदले अनजान होते हैं। बहुत से सूक्ष्म विषय जानने के लिये उनको देशियों के कहने पर भरोसा रखना पड़ता है और उनको किस का विश्वास करना चाहिये यह जानना कठिन है। लोग उनसे डरते हैं, उन पर सन्देह करते हैं और शायद नाराज होते हैं; मतलब बिना कोई उनके पास शायद ही आता है और उन लोगों को गुलाम की सी तावेदारी करने वाले को विश्वास-पात्र मानने की वृत्ति होती है। देशियों के धिक्कारने का भय उनकी तरफ से रहता है, और विदेशी जो कुछ करेंगे उसमें देशी के हित का उद्देश्य हो सकता है यह बात न मानने का भय देशियों की तरफ से होता है। किसी देश पर अच्छी रीति से शासन करने का ईमानदारी के साथ प्रयत्न करने वाले किसी विदेशी राज्यकर्त्ता को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनका यह सिर्फ एक भाग है। किसी कदर ही सही इनकी कठिनाइयों को दूर करने का काम हमेशा बड़ी मिहनत का होगा और उसमें प्रधान

प्रधान हाकिमों में बहुत ऊंचे दरजे की बुद्धि की और अधीनस्थ हाकिमों में औसतन ऊंची बुद्धि की जरूरत पड़ेगी, और ऐसे राज्यतंत्र की जिस व्यवस्था में उसके उद्योग का सब से अच्छा भरोसा मिले, उसके कार्य सामर्थ्य का सब से अच्छा विकास हो और उसकी सब से ऊंची बुद्धि का नमूना सब से अधिक विश्वास के स्थान पर डाला जाय वह सब से अच्छी व्यवस्था है। जिस सत्ता ने इनमें से कुछ भी मिहनत नहीं उठायी है, कुछ भी कार्य्य सामर्थ्य नहीं प्राप्त की है और अधिकांश में जानती भी नहीं कि दो में से एक की कुछ खास दरजे तक जरूरत है उसके सामने जवाबदेही इन उद्देश्यों के साधने का बहुत प्रभावशाली उपाय नहीं गिनी जा सकती।

कोई जनता अपना राज्य प्रबन्ध चलावे इस में कुछ अर्थ और सचाई है; परन्तु एक जनता दूसरी का राज्य प्रबन्ध चलावे यह कोई चीज ही नहीं है और हो भी नहीं सकती। एक जनता दूसरी जनता को अपने लाभ के लिये एक मृगयावन या शिकारगाह के तौर पर, एक धन बटोरने के स्थल के तौर पर अथवा अपने देशवासियों के लाभ के लिये काम करने योग्य मनुष्य पशु के क्षेत्र के तौर पर रख सकती है। परन्तु अगर राज्यतंत्र का खास काम प्रजा का हित ही हो तो उस जनता का स्वयं उसकी सम्हाल रखना बिलकुल असम्भव है। वह ज्यादा से ज्यादा कर सकती है तो इतना ही कि उसकी सम्हाल रखने के लिये अपने कुछ सब से श्रेष्ठ मनुष्यों को नियुक्त कर दे; परन्तु उनका अपने देश का जनमत, जैसे उनको अपना कर्त्तव्य पालने में बहुत पथ प्रदर्शक नहीं हो सकेगा वैसे जिस तरह कर्त्तव्य पाला गया है उसके विषय में यथार्थ विचार भी नहीं कर सकेगा। अंगरेज जितना हिन्दुओं के कार्य-व्यवहार के, विषय में जानते

हैं और परवा करते हैं उसकी अपेक्षा वे अपने कार्य व्यवहारके विषय में कुछ भी अधिक जानते या परवा करते न हों तो उनके ऊपर कैसा शासन होगा इसका विचार हर कोई कर सकता है। इस तुलना से भी प्रश्न की स्थिति का पूरा पूरा विचार नहीं होता; क्योंकि जो जनता इस प्रकार राज्यनीति के विषय में बिल्कुल निस्पृहता रखेगी वह शायद जो होगा उसे मौनभाव से स्वीकार करेगी और राज्यतंत्र को अपनी तरफ से अपना काम करने देगी। परन्तु हिन्दुस्थान के विषय में अंगरेजों के समान राजनीतिक उत्साह वाले लोग साधारण बेपरवाही के समय बीच बीच में हस्तक्षेप करते रहते हैं जिस पर भी लगभग हमेशा अयोग्य स्थान में ही। हिन्दुओं की समृद्धि या दरिद्रता, सुधार या बिगाड़ पैदा करने वाले वास्तविक कारण तो इतने दूर हैं कि उनपर उनकी नजर भी नहीं पहुंच सकती। उनको उन कारणों के होने का सन्देह होने पर भी ज्ञान नहीं है तब उनके असर के बारे में विचारने के लिये ज्ञान तो क्या हो सकता है? उनकी सम्मति बिना भी उस देश सम्बन्धी लाभों की अच्छी व्यवस्था हो सकती है और उनका कुछ भी ध्यान खींचे बिना चाहे जितना प्रबन्ध भी किया जा सकता है। मुख्य करके जो उद्देश्य उनको बीच में पड़ने और अपने अढ़तिया (एजेण्ट) के प्रबन्ध पर अंकुश डालने को ललचाता है वह दो प्रकार का है। एक देशियों के गले में जबरदस्ती भी अंगरेजी विचार ढकेलना; जैसे धर्म बदलने का उपाय करके अथवा जाने या बेजाने लोगों की धार्मिक वृत्ति पर चोट पहुँचाने वाले कृत्य करके छात्रों या उनके मा बाप की खुशी से सरकारी विद्यालयों में बाइबिल सिखाने की जो चाल इस समय राज्य कर्त्ता देश में साधारण तौर पर चल रही है यह

इस प्रकार के कुविचार का शिक्षाप्रद दृष्टान्त है (और उसमें विशेषता यह है कि यह चाल चलाने वाले के मन में न्याय और समानता तथा असली श्रद्धा योग्य पुरुषों की तरफ से जितने की आशा की जा सकती है उतने निष्पक्षपात के सिवा दूसरा कोई भाव नहीं है)। युरोपियन विचार से देखने पर इसकी अपेक्षा दूसरी कोई बात अधिक उचित नहीं दिखाई दे सकती अथवा धर्म स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में कम आपत्ति जनक नहीं मालूम हो सकती। एशियाई विचार से यह बात बिलकुल भिन्न है। कोई भी एशियाई जनता कभी यह नहीं मानती कि कोई भी राज्यतंत्र अपने तनखाहदार अधिकारियों को रखती और उनके सम्बन्ध की यंत्र सामग्री को चलाती है तो बिना किसी उद्देश्य के; और कोई एशियाई यह भी नहीं मानता कि कोई भी राज्यतंत्र जब कोई उद्देश्य रखता है तब वह निर्बल और निर्जीव न होने पर भी बीच से रुक सकता है। सरकारी विद्यालयों में शिक्षक क्रिस्तानी धर्म सिखावे तो फिर चाहे जितनी प्रतिज्ञा की जाय कि वह सिर्फ उन्हीं को सिखाया जायगा जो अपनी खुशी से सीखना चाहेंगे और इसके चाहे जितने प्रत्यक्ष प्रमाण हों तो भी लड़कों के मा बाप यह कभी नहीं समझेंगे कि उनके लड़कों को क्रिस्तान बनाने के लिये अथवा अधिक नहीं तो, हिन्दू धर्म से भ्रष्ट करने के लिये अनुचित उपाय नहीं किये जाते। उनको अन्त में अपनी भूल समझने का मार्ग इतना ही रहेगा कि इस तरह चलने वाले विद्यालय किसी को पर धर्म ग्रहण कराने में सफलीभूत न हों। अगर शिक्षा ने अपना उद्देश्य साधने में तनिक भी सफलता पायी तो फिर सिर्फ सरकारी शिक्षा की उपयोगिता और उसके अस्तित्व में नहीं, वरंच राज्यतंत्र की खैरियत में भी खलल आ पड़े। धर्म भ्रष्ट होने से इनकार

करने वाले किसी प्रोटेस्टएट अंगरेज को अपना लड़का रोमन केथलिक विद्यालय में भेजने को सहज ही उकसा नहीं सकते; आइरिश अपने लड़कों को उस विद्यालय में नहीं भेजेंगे जहाँ प्रोटेस्टंट बना सकते हैं; और तिस पर भी हम आशा रखते हैं कि हिन्दू जो यह मानते हैं कि सिर्फ शारीरिक दोष भी हिन्दू धर्म के हक से पतित कर सकता है, वे अपने लड़कों को क्रिस्तान हो जाने के जोखिम में भेजेंगे!

राज्यकर्त्ता देशका जनमत उसके नियुक्त किये हुए लाट (गवर्नर) के वर्ताव पर हितकारक के बदले अधिक हानिकारक असर डालने की तरफ झुकता है, उसकी एक रीति ऐसी है। दूसरे विषयों में, जहां उस से सब से अधिक दृढ़ता पूर्वक हस्तक्षेप करने को कहा जायगा वहां उसके ऐसा करने की सब से अधिक वार सम्भावना है, और ऐसी फरमाइशों में अंगरेज प्रवासियों के कुछ लाभ की बात होगी तो उसी लाभ के पक्ष में होने के लिये अंगरेज प्रवासियों के स्वदेश में मित्र होते हैं, उन्हें अपने विचार जताने के साधन होते हैं और उसके सामने आने का मार्ग उनके लिये खुला होता है; उनका स्वदेशी के साथ एक भाषा और एक भाव होता है। यदि प्रत्येक अंगरेज की फरयाद की तरफ कुछ जान बूझ कर अनुचित पक्षपात न भी किया जाय तो भी उसकी तरफ अधिक सहानुभूति से ध्यान दिया जाता है। अब अगर कोई बात सब प्रकार के अनुभव से साबित हुई है तो वह यह है कि जब एक देश दूसरे देश के ताबे होता है तब राज्यकर्त्ता देश के जो मनुष्य उस अधीन देश में धन कमाने जाते हैं उन को और सब की अपेक्षा कड़े अंकुश में रखने की विशेष आवश्यकता है। राज्यतंत्र को जो जो कठिनाइयां पड़ती हैं उनमें उनके सम्बन्ध की हमेशा एक मुख्य होती है। वे विजेता

जाति की धाक से बलवान और तिरस्कारी अभिमान में चूर रहते हैं इस से उनकी वृत्तियां निरंकुश अधिकार से उत्तेजित रहती हैं, और उनको उसकी जवाबदेही का कुछ विचार नहीं रहता। हिन्दुस्थान की सी जनता में बलवान से निर्बल की रक्षा करने के लिये राज्याधिकारियों का सारा परिश्रम भी यथेष्ट नहीं है: और सब बलवानों में प्रवासी युरोपियन सब से बलवान है। जहां जहां ऐसी स्थिति के बुरे असर की रुकावट व्यक्ति विशेष की प्रकृति से बहुत विलक्षण रीति पर, नहीं होती, वहां वे उस देश वालों को पैर तले की धूल बराबर समझते हैं। देशियों का चाहे जैसा हक उनकी सब से हलकी फरमाइश को भी रोके तो उनके लिये बस प्रलय हो जाती है; किसी व्यापारिक कारण से उनकी तरफ से कुछ अधिकार का प्रयोग उपयोगी जंचे और उसके विरुद्ध देशियों की सिर्फ रक्षा का उपाय किया जाय तो उसके विरुद्ध भी वे ऐसी चिल्लाहट मचावेंगे मानो अत्याचार हो रहा है और उसको ऐसा ही समझेंगे भा। उनकी सी स्थिति में ऐसी मनोवृत्ति ऐसी स्वाभाविक है कि अब तक राज्यकर्त्ता अधिकारियों की तरफ से उसको उत्तेजन नहीं मिला तिस पर भी यह असम्भव है कि यह जोश हमेशा कमोवेश फूट न निकले। इस जोश से सरकार स्वय रहित हो तोभी वह अपने जिन मुलकी और फौजी अफसरों पर स्वतंत्र प्रवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव रखती है उनमें से जवान और अनुभव शून्य मनुष्यों के इस जोश को भी वह पूरे तौर पर दबाने को कभी समर्थ नहीं होती। हिन्दुस्थान में जैसा अंगरेजों के विषय में है वैसा ही विश्वासदायक साक्षी के अनुसार अलजिरियस में फ्रांसीसियों के विषय में है; वैसा ही मेक्सिको के जीते हुए प्रदेशों में अमेरिकनों के विषय में है और

ऐसा जान पड़ता है कि चीन में युरोपियनों के विषय में ऐसा ही होगा और जापान में भी ऐसा ही आरम्भ हो चुका होगा।* दक्षिण अमेरिका में स्पेनियार्डों के विषय में कैसा था यह याद करने की जरूरत नहीं है। ये स्वतंत्र अनुसंधानकारी, जिस राज्यतंत्र के अधीन होते हैं वह इन साहसियों से अधिक अच्छा होता है और उनसे यथा साध्य देशियों की अधिक रक्षा करता है। मि. हेलपस के शिक्षाप्रद इतिहास के प्रत्येक पाठक को विदित है कि स्पेनिश सरकार भी यद्यपि निष्फल हुई थी तथापि सच्चे दिल और उत्कण्ठा से ऐसा करती थी। स्पेनिश सरकार अगर स्पेनिश लोकमत के सामने जवाबदेह होती तो ऐसा प्रयत्न कर सकती कि नहीं यह सन्देह की बात है। स्पेनियार्डों ने अवश्य ही मूर्त्तिपूजकों को नहीं, वरंच अपने क्रिस्तान मित्र और भाइयों का ही साथ दिया था। शासक देश की जनता शासित देश के अधिकारियों की बात पर नहीं, वरंच अपने प्रवासियों की बात पर ध्यान देती है; निःस्पृह और बेपरवा जनमत पर दृढ़ता पूर्वक दबाव डालने का साधन है परन्तु वह साधन अकेले प्रवासियों को होने से उन्हीं की बात का माना जाना सम्भव है विदेशियों के प्रति अपने देश के बर्ताव के विषय में दूसरे किसी देश के लोगों की अपेक्षा अंगरेजों को जो अधिक संदिग्ध सूक्ष्मता से जांच करने की टेव है उसको वे बहुधा सरकारी हाकिमों की तरफ रखते हैं। राज्यतंत्र और स्वतंत्र पुरुष के बीच के सब प्रश्नों में हर एक अंगरेज अपने मनमें यह सोच लेता है कि भूल राज्यतंत्र की है। और जब प्रवासी अंगरेज अपने हमले के विरुद्ध देशियों की रक्षा के

* जापान अब सब प्रकार से स्वतंत्र देश है वहां किसी युरोपियन की दाल नहीं गलने की।

लिये बंधे हुए किसी बुर्ज पर राजनीतिक युद्ध के यंत्रों की मार शुरू करते हैं तब यद्यपि कार्य कारिणी सभा को कुछ अधिक अच्छे परिणाम की मंद परन्तु असली इच्छा होती है तथापि उसको विवादग्रस्त विषय का बचाव करने की अपेक्षा उसे छोड़ देना अपने पार्लीमेण्ट सम्बन्धी स्वार्थ के लिये साधारण तौर पर अधिक निरापद जान पड़ता है और विशेष नहीं तो कम कष्ट दायक लगता ही है।

अधिक खराबी यह है कि जब अधीन जनता या जाति की तरफ से न्याय और परोपकार के नाम पर सार्वजनिक मन की सेवा में प्रार्थना की जाती है (और अंगरेज मन के लिये प्रशंसा की बात है कि वह प्रार्थना सुनने को बहुत तत्पर रहता है) तब भी उसके असली निशाना चूकने की उतनी ही सम्भावना है। क्योंकि अधीन जनता में भी पीड़क और पीड़ित होते हैं- प्रबल पुरुष या वर्ग और उनके पैलतले पड़े हुए गुलाम। इनमें से जिनको अंगरेज जनता के सामने हाजिर होने का साधन है वे दूसरे नहीं वरंच पहले हैं। एक अत्याचारी या लंपट को जिसकी सत्ता उसके दुरुपयोग करने से छीन ली गयी है और जो सजा होने के बदले पहले कभी न नसीब हुए बहुत धन और दबदबे में पलता है; और असाधरण हक भोगने वाले जमींदारों के दल को, जो या तो सरकार उन की जमीन पर लगान का जो हक रखती है उसे छुड़ा देना चाहता है अथवा उसके जुल्म से जन समूह की रक्षा के लिये किये हुए किसी प्रयत्न पर उसे अन्यान्य समझ कर क्रोध भी करता है—इन लोगों को ब्रिटिश पार्लीमेण्ट और समाचार पत्रों में स्वार्थी या लहरी पक्षपाती प्राप्त करने में कुछ कठिनाई नहीं पड़ती। करोड़ों गूंगे मनुष्यों को कोई पक्षपाती नहीं मिलता।

ऊपर की आलोचना जिस एक नियम का स्पष्टीरण

करनी है (जिसको मुश्किल से कोई जानता होगा परन्तु अगर जानता होता तो एक प्रत्यक्ष नियम कहलाता) वह यह है कि जहाँ प्रजा के सामने की ज़िम्मेवारी अच्छे राज्य प्रबन्ध की सब से बड़ी ज़मानत है वहाँ दूसरे किसी के सामने की ज़िम्मेवारी में ऐसा कोई गुण नहीं रहता इतना ही नहीं, वरञ्च उसका जितना हित उतना ही अहित होने की सम्भावना है। हिन्दुस्थान के ब्रिटिश राज्यकर्त्ता की ब्रिटिश जनता के सामने की ज़िम्मेवारी जो उपयोगी है वह मुख्य करके इतने के लिये कि जब राज्य तन्त्र के किसी कृत्य के विषय में प्रश्न उठता है तब उसके कारण उसकी प्रसिद्धि और चर्चा होने का भरोसा रहता है; इस प्रसिद्धि और चर्चा के उपयोगी होने के लिये यह कुछ ज़रूरी नहीं है कि सारी जनता उस विवादग्रस्त विषय को समझे, परन्तु उसमें से सिर्फ कुछ मनुष्य समझें यह काफ़ी है क्योंकि यह जो सिर्फ एक सात्विक ज़िम्मेवारी है वह सारी जनता के सामने नहीं वरंच उसमें जो निर्णय करने को समर्थ होते हैं उन व्यक्ति विशेष के सामने की ज़िम्मेवारी होने से अभिप्राय की जैसे गिनती हो सकती है वैसे वज़न भी हो सकता है और आलोच्य विषय में अच्छे प्रवीण एक पुरुष की पसन्द या नापसन्द, उस विषय में कुछ न जानने वाले हज़ारों की पसन्द या नापसंद की अपेक्षा अधिक वज़नदार गिनी जा सकती है। प्रत्यक्ष राज्यकर्त्ताओं पर बेशक यह एक उपयोगी अङ्कुश है कि उनको अपनी सफ़ाई देने को बाध्य कर सकते हैं और यद्यपि न्याय पञ्चों का बड़ा भाग शायद किसी कदर ऐसी ख़राब राय देगा कि उसकी अपेक्षा न देना अच्छा है; तो भी उसमें से दो एक अभियुक्तों के विषय में स्वीकार करने योग्य ही राय कायम करेंगे। हिन्दुस्थानी राज्यतन्त्र पर ब्रिटिश पार्लामेंट

और जनता जो अङ्कुश चलाती है उससे हिन्दुस्थान को, जैसा कि है, इतना लाभ होता है।

अङ्गरेज जनता हिन्दुस्थान जैसे देश के प्रति अगर अपना कर्त्तव्य पालन कर सकेगी तो उस पर सीधे तौर पर राज्य करने का प्रयत्न करने से नहीं, वरञ्च उसको अच्छे शासन कर्त्ता देने से। और वह उसको अंगरेज मन्त्री दल के मन्त्री की अपेक्षा अधिक खराब मनुष्य शायद ही दे सकती है। क्योंकि वह मन्त्री जो बात सोचता है वह हिन्दुस्थानी राज्य-नीति की नहीं वरञ्च अङ्गरेजी राज्यनीति की, वह अपने पद पर इतनी लम्बी मुद्दत तक शायद ही रहता है कि ऐसे जटिल विषय में समझ बूझ कर मन लगावे और उस पर पार्लामेंट में दो तीन या चार वक्ताओं का कृत्रिम खड़ा किया हुआ जन मत, असली की तरह जबरदस्त असर करता है; परन्तु वह ऐसी शिक्षा या स्थिति पर कभी अधिकार नहीं रखता कि अपना स्वतन्त्र प्रामाणिक अभिप्राय बांधने की रुचि या शक्ति रखे। एक स्वतन्त्र देश अपने ही शासन मण्डल की एक शाखा द्वारा, एक भिन्न प्रकृति की जनता से बसे हुए दूरके अधीन राज्य पर शासन करने का प्रयत्न करे तो वह प्रायः निष्फल होगा। जिस पद्धति को कुछ भी ठीक सफलता मिलना सम्भव है वह यह है कि उसी मुकाबले के स्थायी व्यवस्था मण्डल को राज्य चलाने का काम सौंपा जाय और राज्य के परिवर्तनीय शासनमण्डल के हाथ में सिर्फ देख रेख और रोकने का अधिकार रखा जाय। हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में ऐसा मण्डल * विद्यमान था और मुझे भय रहता है कि जिस संकीर्ण दृष्टि की राज्यनीति ने इस राज्यतन्त्र का बचा हुआ

* पिट के १७८४ के हिन्दुस्थानी बिल से स्थापित और १८५८ के

पहिया दूर किया है उसके कारण हिन्दुस्थान और इङ्गलेण्ड दोनों को सख्त सजा भोगनी पड़ेगी।

यह कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसे व्यवस्था मण्डल में अच्छे राज्य शासन के लिये वांछित सब गुण नहीं हो सकेंगे और सब से बढ़ कर यह कि प्रजा के स्वार्थ के साथ सम्पूर्ण और सदा गुणकारी ऐक्य—जो वहाँ भी मिलना मुश्किल है, जहाँ की प्रजा किसी अंश में अपने प्रबन्ध को सम्हाल रखने के लायक हुई रहती है—विद्यमान नहीं होगा। पसन्द सिर्फ अपूर्णताओं के बीच से करना है। करना यह है कि राज्यकर्ता मण्डल का ऐसा गठन हो कि इस स्थिति की सारी कठिनाइयों में उसका अच्छे राज्य प्रबन्ध में यथा साध्य अधिक और बुरे में यथा साध्य कम स्वार्थ रहे। अब ये अवस्थाएँ मध्यमण्डल में सब से अच्छी विद्यमान मालूम होती हैं। सीधे शासन की अपेक्षा खास नियुक्त व्यवस्थामण्डल के शासन में हमेशा यह लाभ है कि उसको अपनी अमलदारी की प्रजा के सिवा दूसरे किसी के प्रति कर्त्तव्य पालने को बिलकुल कुछ नहीं रहता—उस को इस के सिवा दूसरे किसी के लाभ का विचार करना नहीं रहता। कुशासन से लाभ लेने का उस की सत्ता असाधारण रीति से घटायी जा सकती है; ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सब से अन्तिम गठन में इसी तरह घटायी गयी थी। फिर वह दूसरे किसी के व्यक्तिगत या श्रेणीगत स्वार्थ के बन्धन से पूर्णतया मुक्त रखा जा सकता है। जहाँ हमारा शासन मण्डल और पार्लीमेण्ट अपने हाथ में मौजूद अन्तिम सत्ता का अमल करने में

कानून से बन्द हुआ बोर्ड आफ कण्ट्रोल (अंकुशमण्डल) जो पार्लीमेण्ट की जिम्मेवारी तले शासन करता था।

ऐसे पक्ष हेतुओं से खिंचती है तब मध्यमण्डल शाही न्यायासन के सामने अधीनस्थ राज्य का वकील और वांहधर बना रहता है। फिर मुख्य कर के जिन पुरुषों से यह मध्य मण्डल स्वाभाविक तौर पर बना होता है उनको अपने देश कार्य के इस विभाग का व्यवहारी ज्ञान मिला होता है और वह उसी स्थल में मंजा हुआ होता है तथा वे अपने जीवन के मुख्य धंधे के तौर पर उसका प्रबन्ध चलाये रहते हैं। उनमें यह गुण होने से और उनको स्वदेश की राज्यनीति के बल से अपना ओहदा छोड़ने को लाचार होने की सम्भावना न रहने से, वे अपने ऊपर अर्पित खास अधिकार में ही अपनी टेक और प्रतिष्ठा समायी हुई समझते हैं, और अपने प्रबन्ध की सफलता में तथा जिस देश पर वे शासन करते हैं उसकी उन्नति में उनका जितना दृढ़ भाव रहता है उतना मंत्री सभा के सभासद को वह स्वयं जिस देश की नौकरी बजाता है उस (स्वदेश) के सिवा दूसरे किसी देश के अच्छे राज्य प्रबन्ध में होना सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष प्रबन्ध करनेवालों की पसंद जिस कदर इस मण्डल के हाथ में रहती है उसी कदर नियुक्ति पक्ष और पार्लामेण्ट के सट्टे के भंवर से बची रहती है और पक्षकर्त्ताओं को बदला देने के लिये तथा जो दूसरी तरह प्रतिपक्षी हो जायं उनको खरीद लेने के लिये राज्यानुग्रह का दुरुपयोग कराने वाली वृत्तियां जिन साधारण ईमानदारी वाले राजनीतिक पुरुषों के मन में सब से योग्य पुरुषों को नियुक्त करने के कर्त्तव्य के प्रामाणिक हौसले की अपेक्षा, हमेशा प्रबल रहती हैं, उनकी सत्ता से मुक्त रहती है। इस वर्ग की की हुई नियुक्ति को यथा साध्य बाधा न पहुंचने देना स्वदेश में दूसरे सब विभागों को पहुंचने वाली सब से खराब हानि रोकने की अपेक्षा अधिक आवश्यक है; क्योंकि दूसरे किसी विभाग में अगर हाकिम

नालायक होता है तो उसको जनता का साधारण मत किसी कदर बताता है कि कैसा वर्ताव करना चाहिये; परन्तु जिस अधीन देश के निवासी अंकुशसत्ता अपने हाथ में रखने के लायक नहीं हैं उसको राज्य प्रबन्ध के स्वरूप का सम्पूर्ण भरोसा पृथक पृथक प्रबन्धकर्त्ताओं के सात्विक और मानसिक गुणों पर ही रहता है।

हिन्दुस्थान सरीखे देश में प्रत्येक विषय का भरोसा राज्यतंत्र के अहलियों (एजेण्टों) के व्यक्तिगत गुण और शक्ति पर रहता है यह बात जितनी बार कहें कम है। यह सत्य हिन्दुस्थानी राज्यतंत्र का प्रधान तत्व है। जिस दिन यह सोचा जायगा कि जोखिमवाले ओहदों पर सुबीते के ख्याल से मनुष्य नियुक्त करने का रिवाज—जो इंगलेण्ड में बड़ा भारी दोष हो गया है—हिन्दुस्थान में निर्भयता से जारी किया जा सकता है उस दिन से वहां हमारे साम्राज्य के अंत का आरम्भ होगा। सब से श्रेष्ठ उमेदवार पसंद करने का विचार हो तो भी योग्य पुरुष प्राप्त करने के लिये अकस्मात् पर भरोसा रखना ठीक नहीं होता। उनको तय्यार करने का उद्देश्य शासन-पद्धति में ही मौजूद होना चाहिये। अब तक ऐसा ही हुआ है। इसी से हिन्दुस्थान में हमारा राज्य टिका है और अच्छे प्रबन्ध के विषय में बहुत फुर्तीला न होने पर भी निरन्तर सुधार को जड़ हुआ है। अब इस पद्धति के विरुद्ध इतनी बड़ी चिल्लाहट मचायी जाती है और इसको उलट देने के लिये इतनी बड़ी आतुरता दिखायी जाती है कि मानो राज्यतंत्र के हाकिमों को अपने काम में शिक्षा और अभ्यास करना बिलकुल विवेक विरुद्ध है, वे बुनियाद की बात है और अज्ञान तथा बे-अनुभव के हक के मार्ग में अनुचित रुकावट है। जो लोग अपने यहां के सम्बन्धियों के लिये अव्वल दरजे का सौदा

करने की इच्छा रखते हैं और जो अब हिन्दुस्थान में ही रह कर नील की कोठी से या वकील के आफिस से न्याय प्रबन्ध करने वालों या करोड़ों मनुष्यों की तरफ से सरकारी लहने की रकम मुकर्रर करने के ओहदों पर चढ़ बैठने का दावा करते हैं उन दोनों के बीच में चुपके चुपके गुट्ट है। जिस मुल्की नौकरी (सिविल सर्विस) के 'इजारा' की इतनी बड़ी निन्दा हो रही है वह न्याय शास्त्रियों के हाथ में न्यायासनके इजारे जैसा है, और यह इजारा रद करना उस प्रथम आगन्तुक के लिये वेस्टमिनिस्टर हाल का न्यायासन खुला रखने के समान है जिसके विषय में उसके मित्र भरोसा दिलावें कि वह समय समय पर (इंगलैण्ड के प्रख्यात न्यायाधीश) ब्लैकस्टोन की ओर ताक झांक लगाता रहा है। अगर नीचे के दफतरों में रहकर अपना काम सीखे बिना ऊंचे दफतरों में दाखिल हो जाने के लिये इस देश से मनुष्य भेजने या उनको जाने के निमित्त उत्साहित करने का मार्ग कभी स्वीकार किया गया तो फिर बिना देश या काम सम्बन्धी भाव के, बिना किसी व्यवहारी अनुभव के, और बिना किसी अगले ज्ञान के बन्धन के सिर्फ तेजी से धन बटोर कर स्वदेश लौटने को आतुर स्काच भाइयों और प्रवासी जवानों के हाथ में सबसे जरूरी ओहदे आ पड़ेंगे। जिनके हाथ से शासन हो वे सिर्फ उमेदवार के तौर पर जवानी में भेजे जायँ, सीढ़ी के पहले डण्डे से चढ़ना आरम्भ करें और उचित मुद्दत के बाद अपनी योग्यता साबित कर के उस के अनुसार बहुत ऊँचे चढ़ें या न चढ़ें, इस में देश की कुशल है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की पद्धति में यह त्रुटि थी कि यद्यपि सब से जरूरी जगहों के लिये सावधानी के साथ सब से अच्छे मनुष्य ढूंढ़ लिये जाते थे तथापि अगर कोई हाकिम

नौकरी पर स्थायी रहता तो सबसे चतुर की तरह सब से कम चतुर भी आगे पीछे किसी न किसी रीति से उन्नति पाता जाता था। ऐसे अधिकारी मण्डल में कम योग्यता वाले भी अपने काम में शिक्षित और ऊपर वाले की देख रेख और सत्ता तले विशेष नहीं तो ये आदरू हुए बिना अपना कर्त्तव्य पालने आने वाले मनुष्य थे। परन्तु इस से हानि घटने पर भी बहुत थी। जो मनुष्य सहकारी के काम से बढ़ कर काम करने योग्य नहीं होता उसे अपनी सारी जिन्दगी सहकारी रहना चाहिये और उससे नये मनुष्यों को उसके ऊपर चढ़ाना चाहिये। हिन्दुस्थान सम्बन्धी नियुक्ति की पुरानी पद्धति में इस अपवाद के सिवा उसकी कोई असली त्रुटि मेरे जानने में नहीं है। मूल उमेदवारों को बड़ा ऊपरी की परीक्षा से पसंद करने का जो सबसे बड़ा सुधार होने लायक था वह हो चुका और इससे अधिक ऊंचे दरजे का उद्योग और शक्ति प्राप्त करने का जो लाभ है उसके सिवा यह गुण मौजूद है कि ओहदों के उमेदवारों और उन ओहदे देने में जिनको बोलने का हक है उनके बीच में अचानक हो सकने के सिवा दूसरा कोई निजका सम्बन्ध नहीं होता।

जिन ओहदों में खास हिन्दुस्थान संबंधी ज्ञान और अनुभव चाहिये उनपर जो हाकिम इस प्रकार चुने गये हों और शिक्षित हों केवल उन्हीं का स्वतंत्र हक रखना किसी तरह अनुचित नहीं है। नीचे की नौकरियों पर रहे बिना ऊंची नौकरियां पाने का एक भी द्वार, मानसिक कार्य के लिये भी, जहां खोला गया कि फिर वर्गीलेवाले मनुष्य उसको इस तरह खटखटाना शुरू करेंगे कि उसे कभी बंद रखना असम्भव हो जायगा। सिर्फ सबसे ऊंची नियुक्ति ही एक अपवाद रूप रहनी चाहिये। ब्रिटिश हिन्दुस्थान का बाद प्रतिनिधि

(वाइसराय) राज्य प्रबन्ध में अपनी महान साधारण शक्ति रखने वाला होने के लिये सब अंगरेजों में से चुना हुआ पुरुष होना चाहिये। यह शक्ति अगर उसमें होगी तो उसको जो स्थानिक व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान पाने का और राय कायम करने का व्यक्तिगत प्रसङ्ग नहीं मिला होगा उसकी विद्यमानता की दूसरों में परीक्षा कर यह अपने उपयोग में लाने को समर्थ होगा। राज प्रतिनिधि (अपवाद रूपी प्रसङ्गों के सिवा) किस लिये नियमित नौकर श्रेणी का मनुष्य न होना चाहिये, इसके लिये अच्छे कारण हैं। सब नौकर श्रेणियों में न्यूनाधिक वर्गीय विकार घुसा रहता है और सर्वोपरि राज्यकर्त्ता को उससे मुक्त होना चाहिये। फिर जो मनुष्य अपनी जिन्दगी एशिया में बिताये रहते हैं वे चाहे जैसे समर्थ और अनुभवी हों तो भी उनमें साधारण राज्यनीति सम्बन्धी सब से आगे बढ़े हुए युरोपियन विचार होने की इतनी बड़ी सम्भावना नहीं रहती। और मुख्य शासन कर्त्ता को यह विचार अपने साथ ले जाकर हिन्दुस्थानी अनुभव के परिणाम में मिला देना चाहिये। फिर उसके भिन्न वर्ग का होने से और खास करके अगर भिन्न सत्ता ने उसको पसन्द किया होगा तो उस को हाकिमों की नियुक्ति में गड़बड़ करने योग्य शायद ही किसी तरह की पक्षपात वृत्ति होगी। राजा और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सम्मिलित प्रबन्ध में ईमानदारी से राज्याश्रय देने की यह भारी जमानत, असाधारण सम्पूर्णता में, मौजूद थी। अधिकारके सर्वोपरि विभाजक, गवनर जनरल और गवर्नरों को प्रत्यक्ष रीति से न हो तो भी असल में राजा अर्थात् सामान्य राज्यतंत्र नियुक्त करता था, मध्यमण्डल नहीं। और इससे राजा के एक महान अधिकारी को स्थानिक नौकर वर्ग से व्यक्तिगत

या राजनीतिक रीति से कुछ सम्बन्ध होने की सम्भावना नहीं रहती थी। परन्तु मध्य व्यवस्था मण्डल का जिसमें बहुत करके उस देश में स्वयं नौकरी कर आये हुए मनुष्य रहते थे, ऐसा सम्बन्ध था और रहने की सम्भावना थी। यद्यपि सरकार के मुलकी नौकर सिर्फ नौकरी के उमेदवार के तौर पर बचपन से ही भेजे जाते हैं तो भी अगर जो सामाजिक वर्ग राज प्रतिनिधि और गवर्नर संग्रह कर देता है उस वर्ग की तरफ से उनकी कुछ बड़ी संख्या संग्रह कर देने का समय आवे तो निष्पक्षपात की यह जमानत बहुत कमजोर पड़ जाने के समय चढ़ा ऊपरी की प्राथमिक परीक्षा भी अधूरी जमानत हो जायगी। सिर्फ अज्ञान और अशक्ति ही बातिल रहेगी; कुलवान तरुणों को भी दूसरों की तरह शिक्षा और बुद्धिमानी के साथ आरम्भ करने को लाचार होना पड़ेगा और सब से जड़ पुत्र जैसे धर्मोपदेशक मण्डल में दाखिल किया जा सकता है वैसे हिन्दुस्थानी नौकरी में नहीं दाखिल किया जा सकेगा। परन्तु पीछे का अयोग्य पक्षपात रोकने वाला तो कुछ नहीं रहता। उस समय से सब नौकर अपने भाग्योदय के निर्णायक से एक समान अनजान या अपरिचित नहीं रहेंगे वरंच उनका खास विभाग निर्णायक से निकट वाला निज का सम्बन्ध रखता होगा और इसकी अपेक्षा बड़ी संख्या राजनीतिक सम्बन्ध वालों की होगी। खास कुटुम्ब के मनुष्य और साधारण तौर पर उच्च श्रेणी के और वसीलेवाले मनुष्य अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा अधिक फुर्ती से बढ़ेंगे और बहुधा वे जिन जगहों के लायक न होंगे उन जगहों पर डटे रहेंगे अथवा जिसके लिये दूसरे अधिक लायक होंगे उस जगह पर नियुक्त होंगे। जो सही सिफारिश सेना में ऊंचा ओहदा दिलाने में चलती है उसका यहां भी आरम्भ होगा और जो लोग इस सैनिक

नियुक्ति को भी पक्षपात रहित मानेंगे वे भोले मन के चमत्कारी नमूने होंगे। और वे ही हिन्दुस्थान की ऐसी नियुक्तियों में निष्पक्षपात की आशा रखेंगे। मुझे भय है कि हाल की पद्धति में चाहे जैसा साधारण उपाय लगा दें उस से यह दोष दूर होना सम्भव नहीं है। दुगुने राज्यतंत्र के नाम से परिचित राज्य प्रबन्ध में जो जमानत पहले आप ही आप आ मिलती थी उस से तुलना करने योग्य दरजे की जमानत ऐसे किसी उपाय से नहीं मिल सकेगी।

अंगरेजी शासन पद्धति के बारे में हमारे देश में जो विषय इतना बड़ा लाभ गिना जाता है वह हिन्दुस्थान में एक दुर्भाग्य रूप होगया है। और वह बात यह है कि राज्यपद्धति पहले से निर्द्धारित उद्देश्य से नहीं बरंच समयोचित उत्तरोत्तर उपाय करने से, और मूल भिन्न हेतु के लिये कल्पित यन्त्र सामग्री को उसके साथ जोड़ देने से, आप ही आप उत्पन्न हुई है। जिस देश का प्रबन्ध करना था उसकी जरूरतों में से उत्पन्न हुआ न रहने से उसका व्यावहारिक लाभ उस देश के ठीक ठीक अनुकूल नहीं आया। और इस से अगर उसमें कुछ मूलतत्व सम्बन्धी गुण रहा होता तो वह स्वीकार करने योग्य हो जाता। दुर्भाग्य वश उसमें असली त्रुटि इन गुणों की ही थी; क्योंकि राज्य नीति सम्बन्धी साधारण सिद्धान्तों के अपने सब आवश्यक तत्वों में प्रस्तुत प्रसंग से भिन्न भिन्न स्थितियों के लिये बंधे होने से उन में ऐसे गुण नहीं मिल सके। परन्तु मनुष्य क्रिया की दूसरी शाखाओं की तरह राज्यतंत्र के विषय में प्रायः समस्त स्थायी मूलतत्वों की पहली सूचना साधारण प्राकृतिक नियमों के किसी खास खास प्रसङ्ग में कुछ नवीन या पहले से ध्यान में न चढ़ी हुई स्थिति संयोग में बर्तते हुए

देख पाने से हुई है। जो राज्यतंत्र सम्बन्धी सिद्धान्त, हालमें कुछ पीढ़ियों से, अच्छे और बुरे रास्ते से, युरोप के राष्ट्रों में राजनीतिक उत्साह का पुनरुद्धार करते रहते हैं उनमें अधिकांश सूचित करने का यश ग्रेटब्रिटेन और युनाइटेड स्टेट्स के राज्यतंत्रों को है। अधीनस्थ अर्द्ध जंगली देश पर सभ्य-देश के शासन के असली सिद्धान्त सूचित करने को और सूचित करने के बाद मिट जाने को ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्यतंत्र बना था। अगर और दो या तीन पीढ़ी बाद हिन्दुस्थान में हमारी सत्ता के फल स्वरूप सिर्फ यह तार्किक परिणाम ही रहे; अगर भविष्य की सन्तति हमारे लिये यह कहे कि हमारी बुद्धिमानी जो किसी तरह नहीं कर सकती उससे अधिक अच्छी व्यवस्था अकस्मात हाथ लग जाने के बाद, हमने अपनी जागृत विवेक शक्ति का प्रथम उपयोग किया तो उसका नाश करने में; और जो हित सम्पादन होने के मार्ग पर पड़ा था उसको अपने आधारभूत मूलतत्वों के अज्ञान से लय होकर अदृष्ट होने देने में; तब दैवगति विलक्षण समझना। ईश्वर रक्षा करे परन्तु अगर इंगलैण्ड और सभ्यता दोनों को लज्जित करनेवाला परिणाम रोका जा सकता है तो यह काम सिर्फ अंगरेजी या युरोपियन अभ्यास से मिल सकने की अपेक्षा अधिक विशाल भावनाओं के योग से और हिन्दुस्थानी अनुभव का तथा हिन्दुस्थानी राज्यतंत्र की अवस्थाओं का जो अभ्यास अंगरेज राजनीतिक पुरुषों ने अथवा जो अंगरेज जनता को मत संग्रह करते हैं उन्होंने अबतक सिर पर लेने की इच्छा प्रगट की है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक गहरे अभ्यास द्वारा किया जा सकेगा।

समाप्त।